जैनधर्म का इतिहास



भाग - २

जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और प्रसार



कैलाश चन्द जैन

जैन धर्म के इतिहास का वर्णन करती इस पुस्तक को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड में पुरातत्त्व और साहित्य के सामंजस्य द्वारा पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक तीर्थंकर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है तथा साधन और स्रोतों का परीक्षण किया गया है। इसके अलावा महावीर के युग का विवरण करते हुए, उनके जीवन और शिक्षाओं के बारे में बताया गया है तथा उस युग की धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, कलात्मक और साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है।

दूसरे खण्ड में जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करते हुए इसके प्रसार तथा ऐतिहासिक महत्त्व का विवरण किया गया है। जब मगध में मौर्यों का और उड़ीसा पर खारवेल राजाओं का शासन था तब जैन धर्म का प्रभाव बढ़ा। कुषाण काल में मथुरा में व्यापारियों, श्रमिकों और शिल्पियों पर जैन धर्म का बहुत प्रभाव था। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि नवीं सदी से बारहवीं सदी का युग जैन इतिहास का स्वर्णिम युग माना जाता है। भौगोलिक दृष्टि से देखा जाए तो उत्तर में प्रतिहार, चौहान, परमार और चालुक्य तथा दक्षिण में चालुक्य, राष्ट्रकूट व गंग राज्य जैन धर्म के पोषक थे। उनके समय में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। इसी खण्ड में यह भी बतलाया गया है कि जैन श्रावक, साधु, विद्वान् और राजनीतिज्ञों ने जैन धर्म की सेवा कैसे की, जैनियों की अनेक प्रवृत्तियाँ क्या हैं, धार्मिक और सामाजिक विभाजन से संघ, गण और गच्छ कैसे बने, और विभिन्न जैन जातियों तथा अनेक गोत्रों की उत्पत्ति कब हुई थी।

तीसरे खण्ड का संबंध मध्यकालीन जैन धर्म से है। मुसलमानों का शासन होते हुए भी जैन धर्म के प्रभाव से अनेक धार्मिक आयोजन होते रहे। यह सत्य है कि मध्य काल में जैन धर्म का कुछ पतन हुआ फिर भी यह सुरक्षित रहा। जैन धर्म के प्रभाव के कारण इस समय अनेक जैन तीर्थों और ऐतिहासिक स्थलों की स्थापना हुई। इसी खण्ड में डॉ॰ ए॰ एच॰ निज़ामी ने मुस्लिम शासनकाल में जैन धर्म की स्थिति और जैन भट्टारकों पर लिखा है और डॉ॰ सुरेन्द्रगोपाल ने उस समय की सामाजिक व आर्थिक दशा का वर्णन किया है। डॉ॰ श्यामसुन्दर निगम ने भारत के मध्यकालीन युग पर अपनी कलम चलाई है तो डॉ॰ प्रकाशचन्द्र जैन ने मध्यकालीन मालवा में जैन धर्म पर लिखा है।

जैन धर्म के प्रति जिज्ञासा रखने वाले इस ग्रंथ से अवश्य लाभान्वित होंगे।

तीन खण्डों में

ISBN 81-246-0316-2 (सजिल्द) सैट

Rs. 550 (प्रत्येक भाग)

US $ 27.50 (प्रत्येक भाग)

जैन धर्म का इतिहास

जैन धर्म का इतिहास

द्वितीय खण्ड
जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और प्रसार

कैलाश चन्द जैन



डी॰के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰
नई दिल्ली

Cataloging in Publication Data — DK

[Courtesy: D.K. Agencies (P) Ltd. <docinfo@dkagencies.com>]

Jain, K.C. (Kailash Chand), 1930-

Jaina dharma kā itihās / Kailāśa Canda Jaina.

-- 1. saṁskaraṇa.

3 v. 23 cm.

In Hindi.

Title on t.p. verso in roman: Jain dharma ka itihaas.

History of Jainism.

Includes bibliographical references.

ISBN 8124603162 (set)

ISBN 8124603189 (vol. 2)

Contents: v. 1. Mahāvīra ke pūrva Jaina dharma aura usakā kāla — v. 2. Jaina dharma kā aitihāsika sarvekshaṇa aura prasāra — v. 3. Madhyakālina Jaina dharma.

1. Jainism — History. I. Title. II. Title: Jain dharma ka itihaas.

DDC 294.409 21

ISBN 81-246-0318-9

प्रथम संस्करण, 2005

प्रकाशक एवं मुद्रक

डी.के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि.

पंजीकृत कार्यालय : *'श्री कुंज'*, एफ-52, बाली नगर,

नई दिल्ली - 110 015

दूरभाष : (011) 2545 3975, 2546 6019; फैक्स: (011) 2546 5926

ई-मेल : dkprintworld@vsnl.net

वेब : www.dkprintworld.com

जैन धर्म का इतिहास द्वितीय खण्ड

विषय-अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड
महावीर के पूर्व जैन धर्म और उसका काल

द्वितीय खण्ड
जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और प्रसार

तृतीय खण्ड
मध्यकालीन जैन धर्म

प्राक्कथन्

भारत के अन्य प्राचीन धर्मों से जैन धर्म मौलिक और स्वतंत्र धर्म ज्ञात होता है और यह दर्शन, जीवन के दृष्टिकोण, आचार के नैतिक नियमों, संघ और संगठन में बिलकुल अलग है। इसकी उत्पत्ति मगध में हुई किन्तु शनैः-शनैः यह समस्त भारत का प्राचीन धर्म हो गया। जैन साधुओं और श्रावकों ने भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में भारत के विभिन्न हिस्सों के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक घटनाओं के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पुरातत्त्व और साहित्य के रूप में जैन सामग्री समृद्ध और विभिन्न प्रकार की है। यह समय और स्थान की दृष्टि से बहुत फैली हुई है। प्राचीन जैन गुहा, मंदिर, धार्मिक चैत्य स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत सी प्राचीन काल की मूर्तियां भी मिली हैं जिनमें से कुछ तो गज़ब की कलात्मक हैं। अनेक जैन अभिलेख भी हैं। विभिन्न भाषाओं में रचित जैन साहित्यिक ग्रंथ जैन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। शास्त्र भण्डारों में समृद्ध साहित्यिक सामग्री है। जैन इतिहास के निर्माण के लिए इन साधन स्रोतों का विद्वानों ने विवेकता से परीक्षण व उपयोग किया है।

इस ग्रंथ में प्राचीन समय से अठारहवीं सदी तक जैन धर्म के इतिहास के निर्माण के लिए प्रयत्न किया गया है। इसके लिए विभिन्न विद्वानों के बहुत से ग्रंथों का भी सहारा लिया गया है। विद्वानों में जैन धर्म की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत हैं।

एच॰एच॰ विल्सन, लेज़र और वेबर की राय है कि जैन धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में से एक है जो महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् आगे या पीछे बौद्ध धर्म के विभाजन के रूप में सामने आया। काल बुक, प्रिन्सेप, स्टीवेन्सन, इ॰ थॉमस और अन्य का विचार था कि जैन धर्म बुद्ध धर्म से भी प्राचीन है। याकोबी, ए॰ के॰ चटर्जी और अन्य विद्वानों के अनुसार पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष और जैन धर्म के संस्थापक थे, जो महावीर की मृत्यु के 250 वर्ष पूर्व हुए थे और जो आठवीं सदी ई॰पू॰ में रहे थे।

एच॰ याकोबी, जिन्होंने *"आचारांग, सूत्रकृतांग," "कल्पसूत्र"* और *"उत्तराध्ययन"* का अनुवाद किया, जैन धर्म का बड़ा, विद्वान् था। जे॰सी॰ जैन का ग्रंथ *"लाइफ इन एंशियन्ट इण्डिया एज़ डेपिक्टेड बाइ जैन केनन्स"* और बी॰सी॰ लाल की *"इंडिया एज़ डिस्क्राइब्ड*

इन द अर्ली टेक्सट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म" जैन धर्म का प्राचीन इतिहास लिखने के लिये उपयोगी हैं। लेखक का *"लॉर्ड महावीर एण्ड हिज़ टाइम्स"* नामक ग्रंथ छठी सदी में महावीर के युग के इतिहास और संस्कृति पर वृहद् प्रकाश डालती है।

मुनि जिन विजय ने ऐतिहासिक ग्रंथ हेमचन्द्र का *"कुमारपाल चरित,"* राजशेखर का *"प्रबंध कोष,"* प्रभाचन्द्र का *"प्रभावक चरित्र," "पुरातन प्रबंध संग्रह,"* जिनेश्वर सूरि का *"कथाकोष प्रकरण"* और जिनप्रभसूरि के *"विविध तीर्थ कल्प"* का सम्पादन किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मेरूतुंग के *"प्रबंध चिंतामणि"* का अनुवाद किया। इन ग्रंथों का उपयोग जैन धर्म का इतिहास लिखने में किया गया है।

याकोबी ने हरिभद्र सूरि के *"समराइच्च कहा"* और सिद्धर्षि के *"उपमितिभव प्रवंचकहा"* का सम्पादन किया और ए.एन. उपाध्याय ने हरिषेण के *"बृहद्कथा कोष"* और हरिभद्र के *"धूर्ताख्यान"* और *"कुवलयमाला"* का संपादन किया। ये साहित्यिक ग्रंथ कभी-कभी जैन धर्म के इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। हिण्डीकी का *"द यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर"* सांस्कृतिक दृष्टि से जैन धर्म के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है।

जोहान्स क्लॉट के *"खरतरगच्छ पट्टावली"* और *"तपागच्छ पट्टावली"* के उदाहरण जैनियों के इतिहास के लिये बहुत कुछ सूचनाएं देते हैं।

लालचन्द भगवानदास गांधी द्वारा सम्पादित जैसलमेर और पाटन के भंडारों की ग्रंथ सूचियां, के.सी. कासलीवाल के राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूचियां और अन्य जैन धर्म के इतिहास के लिये सार्थक सिद्ध हुए हैं। जिन विजय, पुण्यविजय, भुजबलिशास्त्री, अमृतलाल मगनलाल, जुगलकिशोर मुख्तार, परमानन्द शास्त्री, अगरचन्द नाहटा और कस्तूरचन्द कासलीवाल ग्रंथों की प्रशस्तियां प्रकाश में लाये, जो जैन धर्म के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के लिये बहुमूल्य सिद्ध हुईं।

जैन अभिलेख भी जैन धर्म के इतिहास के निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। इनका सम्पादन राइस बी., नरसिंहाचार, आर.ई. हुल्स, जे.एफ. फ्लीट, जी. बुहलर, डी.आर. भंडारकर, के.एन. दीक्षित, एच. ल्यूडर्स, किल हार्न, एल.डी. बर्नेट, के.पी. जायसवाल, आर.डी. बेनर्जी, के.बी. पाठक, भगवानलाल इन्द्रजी, बर्गिस, जी.एस. गाई, आदि द्वारा हुआ। अनेक जैन अभिलेखों की खोज का श्रेय जी.एच. ओझा, पी.सी. नाहर, एम.बी. गर्डे, जिन विजय, जयन्त विजय, अगरचन्द नाहटा, हीरालाल जैन, विद्या विजय, कामता प्रसाद, कान्तिसागर, कस्तूरचन्द कासलीवाल, एस.एस. निगम और के.सी. जैन "सुमन" को जाता है।

इसके अतिरिक्त जैन धर्म की बिखरी हुई सामग्री आधुनिक इतिहास की पुस्तकों और जैन धर्म के स्थानीय ग्रंथों में पाई जाती है। *"कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया"* में चार पेन्टियर का "हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म" का अध्याय है जिसका सम्पादन रेप्सन ने किया है। इसका संबंध जैन धर्म के प्राचीन इतिहास से है। आर॰सी॰ मजूमदार द्वारा संपादित *"इन दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इन्डियन प्यूपिल"* में ए॰एम॰ घाटगे ने जैन धर्म के योगदान का श्रेय "द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी" और "द क्लासिकल ऐज" को दिया है। ए॰डी॰ पुसालकर ने *"एम्पीरियल कन्नौज* और एच॰एल॰ जैन ने *"स्ट्रगल फार एम्पायर"* में इसके योगदान को वर्णित किया है। लेखक का ग्रंथ *"एन्शियन्ट सीरिज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान"* भी प्राचीन जैन तीर्थो और ऐतिहासिक स्थलों से संबंध रखता है। *"मध्य प्रदेश थ्रू द एजेज़"* के ग्रंथ में लेखक ने प्राचीन समय से 1305 ई॰ तक जैन धर्म के विकास और उत्थान पर विचार किया है।

जैन धर्म के स्थानीय ग्रंथ इंगित करते हैं कि जैन धर्म विभिन्न क्षेत्रों में कैसे विकसित और उन्नत हुआ। विन्सेन्ट स्मिथ का *"द जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टिक्वीटीज़ ऑफ मथुरा"* जैन साध्वियों के बारे में रोचक और विस्तृत जानकारी देता है कि जैन साध्वियों का अस्तित्व था और जैन संघ में नारियों का प्रभावशाली स्थान था। सी॰जे॰ शाह ने *"जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया" (800 बी॰सी॰ – 526 ए॰डी॰)* में जैन धर्म के पूर्व इतिहास पर विचार किया है। वह प्रगट करता है कि जैन धर्म के पूर्व इतिहास में क्या ऐतिहासिक है और क्या पौराणिक है। वह जैन धर्म की दो सीमाएं निश्चित करता है – एक भौगोलिक और दूसरी क्रमवार। ज्योतिप्रसाद जैन का *"उत्तर प्रदेश और जैन धर्म"* मध्यकाल में जैन धर्म की बहुमूल्य सूचना देता है।

सी॰बी॰ सेठ, *"जैनिज्म इन गुजरात"* का लेखक है जो विभिन्न क्षेत्रों में जैनियों की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त वर्णन है और मध्यकाल में (1100-1600 ई॰) मध्य गुजरात के सांस्कृतिक जीवन में उनके योगदान के बारे में भी विवरण देती हैं। *"जैनिज्म इन राजस्थान"* में लेखक ने प्राचीन समय से अठारहवीं सदी तक जैन धर्म का राजस्थान में सर्वेक्षण किया है और बतलाया है कि वीर राजपूत राजाओं के उदार आश्रय में एक बड़ी सांस्कृतिक और गतिशील शक्ति रहा है। पी॰सी॰ राय चौधरी का *"जैनिज्म इन बिहार"* और बी॰के॰ तिवारी के *"जैनिज्म इन बिहार"* से ज्ञात होता है कि बिहार में जैन धर्म का किस प्रकार से जन्म हुआ, फला-फूला और प्रसार हुआ। एल॰एन॰ साहू का हिन्दी में *"उड़ीसा में जैन धर्म"* और ए॰सी॰ मित्तल का *"अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा"* का संबंध उड़ीसा में जैन धर्म के इतिहास से रहा है।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का इतिहास उत्तर भारत के जैन धर्म से पूर्ण भिन्न है। विद्वानों ने दक्षिण भारत में "जैन धर्म के इतिहास" पर ग्रंथ लिखे हैं। एम.एस.आर. आय्यंगर और बी. शेषाद्रिराव के द्वारा *"स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनिज्म"* लिखी गई। बी.ए. सेलिटोर ने *"मेडिवल जैनिज्म विद स्पेशल रेफरेन्स टू विजय नगर एम्पायर"* लिखा। यह मध्यकालीन हिन्दु राजाओं के नेतृत्व में जैन धर्म का अध्ययन है। दक्षिण भारत में जैन धर्म का इतिहास मूलरूप में कर्नाटक क्षेत्र का जैन धर्म का इतिहास है। *"जैनिज्म एण्ड कर्नाटक कल्चर,"* मूल नाम *"जैनिज्म इन साउथ इण्डिया,"* एस.आर. शर्मा के द्वारा लिखा गया था। पी.बी. देसाई की *"जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स"* का संबंध दक्षिण भारत, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और कर्नाटक में जैन धर्म के योगदान से है।

गुलाबचन्द चौधरी और वी.पी. जोहरापुरकर ने *जैन शिलालेख संग्रह* के क्रमशः तीसरे और चौथे भाग में दिगम्बर संघों, जैन राजकीय वंशों, मंत्री, सेनापति, जैन जाति और वर्ग आदि की दक्षिण भारत की सूचना देते हुए प्रामाणिक भूमिका लिखी है।

बलभद्र द्वारा पांच भागों में लिखी गई *"भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ"* का संबंध उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक के तीर्थों से है।

नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित *"जैन साहित्य और इतिहास"* से ज्ञात होता है कि इस पुस्तक में विचार किये हुए विषयों को दो बड़े भागों में बांटा जा सकता है। पहला जैन साहित्य से संबंधित समस्याएं और दूसरा जैन धर्म से संबंधित सामाजिक ऐतिहासिक विषय। जुगल किशोर मुख्त्यार का ग्रंथ *"जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश"* जैन इतिहास और साहित्य पर प्रकाश डालता है।

"ओसवाल जाति का इतिहास" और *"प्राग्वाट जाति का इतिहास"* का संबंध क्रमशः ओसवालों और पोरवालों के इतिहास से है। विलास ए. संघवे की पुस्तक, *"जैन कम्युनिटी – ए सोशल सर्वे"* पहली बार जैनियों के सामाजिक इतिहास और उनकी उपलब्धियों का विवेचनात्मक वर्णन प्रस्तुत करती है। इसमें जैन धर्म के पतन और उसके अस्तित्व को बनाए रखने पर विचार किया गया है।

वी.पी. जोहरापुरकर का *"भट्टारक सम्प्रदाय"* "जैन धर्म के मध्यकालीन इतिहास" की जानकारी के लिये उपयोगी ग्रंथ है। जैन समाज में भट्टारकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह ग्रंथ जैनियों के केन्द्रों, कला और साहित्य को योगदान, तीर्थों की व्यवस्था, विभिन्न संघ, मूर्तियों की प्रतिष्ठा और राजाओं के उनसे संबंध का उल्लेख करता है।

ज्योतिप्रसाद जैन का *"द हिस्ट्री ऑफ जैन सोर्सेस ऑफ द स्टडी ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया"* का संबंध करीब 100 से 900 ई० तक के इतिहास से है। इसका संबंध जैन मनीषियों से भी है। परमानन्द शास्त्री का *"जैन धर्म का प्राचीन इतिहास"* भगवान महावीर और उनकी संघ परम्परा के बारे में विस्तार से जानकारी देता है। चार भागों में संकलित *"जैन धर्म का मौलिक इतिहास"* जैन धर्म के इतिहास से संबंधित है।

असीम कुमार चटर्जी की पुस्तक, *"ए काम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म"* पहला व्यवस्थित जैन धर्म का ऐतिहासिक अध्ययन है। यह दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में लेखक ने बहुत प्राचीन समय से 1000 ई० तक के जैन धर्म के इतिहास का वर्णन किया है। दूसरे भाग का संबंध 1000 ई० से 1500 ई० तक है। इस ग्रंथ में जैन मनीषियों और जैन तीर्थों के अध्याय भी हैं।

विभिन्न साधन स्रोतों से प्राप्त सामग्री का गहराई से परीक्षण कर इस ग्रंथ के लिखने में प्रयोग किया गया है। मैंने यह ध्यान रखा है कि जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के विचारों और अनुश्रुतियों पर विचार करने में पक्षपात नहीं आवे। हर कदम पर विभिन्न मतों के प्रलोभन का सामना किया गया जिससे कि एकता और उच्चता बनी रहे।

पहली बार धार्मिक अनुश्रुतियों का पुरातात्त्विक प्रमाण के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयोग किया गया जिससे कि सच्चाई की जानकारी मिल सके।

यह ग्रंथ तीन खण्डों में विभाजित है, प्रथम खण्ड में पांच अध्याय हैं, दूसरे में भी पांच हैं और तृतीय में छः हैं। अध्याय प्रथम में जैन ग्रंथों में दिए हुए पौराणिक विवरणों का पुरातात्त्विक प्रमाण के प्रकाश में विवेचनात्मक परीक्षण किया गया है। बौद्ध और जैन ग्रंथों से ऐसा ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे, और जैन धर्म का इतिहास उस समय से शुरू किया जा सकता है। अध्याय द्वितीय में महावीर युग और उत्तर महावीर युग के साधन स्रोतों पर विचार किया गया है। उत्तर महावीर युग की सामग्री बहुत अधिक है।

अध्याय तृतीय बाल्यावस्था से निर्वाण तक महावीर के जीवन का विवरण है। कुछ विवाद ग्रस्त प्रश्न जैसे उनका जन्म स्थल, और निर्वाण के वर्ष पर विचार किया गया है। अध्याय चतुर्थ में मूल ग्रंथों के आधार पर उनके उपदेशों पर विचार किया गया है। अध्याय पंचम में महावीर का युग है जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में जैसे धर्म, राजनीति, समाज, अर्थ-व्यवस्था, कला और साहित्य में उपलब्धियों का वर्णन किया गया है।

अध्याय षष्ठ जैन धर्म के ऐतिहासिक महत्त्व का है। इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि अठारहवीं सदी तक विभिन्न राजवंशों के नेतृत्व में जैन धर्म का कैसे विकास और उत्थान हुआ।

सप्तम अध्याय का संबंध जैन साधुओं, राजनीतिज्ञों और श्रावकों से है जिन्होंने जैन धर्म की उन्नति में योगदान दिया।

अष्टम अध्याय में भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान पर विचार किया गया है। नवम् अध्याय का संबंध जैन धर्म के धार्मिक विभाजनों से है जो अनेक संघों, गणों और गच्छों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालता है। मध्यकाल में भट्टारकों का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस काल में चैत्यवासी प्रचलित थे। मूर्ति-पूजा और मूर्ति-पूजा विरोधी सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गये थे। दशम अध्याय का संबंध सामाजिक विभाजनों से है जो आठवीं सदी के बाद जातियों और गोत्रों के रूप में अस्तित्व में आ गए थे। अध्याय ग्यारह का संबंध प्राचीन जैन तीर्थ और ऐतिहासिक स्थल से है।

चूंकि जैन धर्म की मध्यकाल की अतुल सामग्री मिलती है, मैंने ए॰एच॰ निज़ामी, सुरेन्द्र गोपाल, एस॰एस॰ निगम और प्रकाश जैन को इसका अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से करने की प्रार्थना की। मैं उनका आभारी हूँ क्योंकि इस शोध प्रयोजन के लिए इन लोगों ने अपने अलग-अलग अध्याय लिखकर सहयोग दिया।

ए॰एच॰ निज़ामी ने देहली सल्तनत युग (1200-1526 ई॰) तक जैन धर्म का अध्ययन अध्याय बारह में किया। इसमें तुर्की आक्रमणों के समय की जैन संस्कृति, जैन-सूफी संबंधों और प्रभाव का विवेचन किया गया है। अहिंसा, जैन धर्म और सूफी मत दोनों की सामान्य विशेषता हो गई है और वे सर्वव्यापी भ्रातृत्व भावना में विश्वास करते थे। तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी का युग जैन-सूफी आन्दोलन का स्वर्ण युग माना जा सकता है। नागौर का सूफी संत हमेउद्दीन रिहानी जैन धर्म से अधिक प्रभावित हुआ। जैनियों में स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व में आया। अलाउद्दीन खिलज़ी, मोहम्मद तुगलक और फिरोज़ तुगलक जैन संतों के संपर्क में आए जो जैन धर्म की सुरक्षा और उन्नति चाहते थे। जैन अधिकारियों और महाजनों के प्रयत्नों से उत्तर भारत के राज्यों में जैन धर्म की उन्नति हुई। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में मूलसंघ और काष्ठासंघ शक्तिशाली हो गए और उनके भट्टारकों ने विभिन्न स्थानों पर गद्दियां स्थापित कर लीं। इनमें दिल्ली, ग्वालियर और चन्देरी महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गए थे। इन भट्टारकों ने जैन धर्म की उन्नति के लिए विभिन्न क्षेत्रों में योगदान दिया किन्तु भट्टारक व्यवस्था तेरह पंथी सम्प्रदाय के उत्थान से शनैः-शनैः पतन की ओर चली गई।

सुरेन्द्र गोपाल ने अध्याय तेरह में मुगल काल (1526-1800 ई॰) के जैन समाज के सामाजिक और आर्थिक जीवन के बारे में लिखा है। इसमें पहले विभिन्न स्रोतों से जैन समाज का श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के रूप में विवेचन किया गया है। इस काल में सुरक्षा तथा मुसलमानों और जैनियों में पारस्परिक अच्छे संबंध होने के कारण जैन

धर्म का जनांकिकीय प्रसार हुआ है। जैन धर्म में जाति-भेद और उनके गोत्र हो गए। जैनियों में नारी की प्रतिष्ठा उच्च थी। सामाजिक समारोह, त्यौहार और कर्मकाण्ड होते थे। लोग अच्छे वस्त्र और आभूषण पहनते थे और नृत्य-संगीत का आनन्द लेते थे। व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली थी। ग्रंथों की प्रतिलिपियां करवाने पर ज़ोर दिया जाता था। वे ज्योतिष शुभ-मुहूर्त्त और चमत्कारों में विश्वास करते थे और पक्षी, कीड़े-मकोड़ों और पशुओं के जीवन की रक्षा करते थे। वे शराब, जुआ, वेश्यागमन से दूर रहते थे। अकाल के समय वे दान पर ज़ोर देते थे।

मुगल काल के समय के आर्थिक जीवन के बारे में भी कुछ निश्चित तथ्य मिलते हैं। उद्योग में व्यापार का अधिक महत्त्व था। अपने व्यापार के लिए वे पश्चिम में मुल्तान से लेकर पूर्व में पटना, राजमहल आदि तक समस्त उत्तर भारत में फैल गए थे। वे बड़े गाँवों में, छोटे नगरों और महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मण्डियों में फैले हुए थे। उस समय उधार द्वारा व्यापार में लगाने के लिए आसानी से पूंजी मिल सकती थी।

साधारण काम-धन्धे के लिए ऋण उपलब्ध था। कुछ जैनियों ने व्यापार, लेन-देन तथा सर्राफी के सम्मिलित प्रयत्नों से बहुत-सा धन कमा लिया। कुछ जैन वर्णिक ऐसे थे जो अपने समय में शिखर पर थे। वीरजी बोहरा का भाग्य विदेशी और आंतरिक व्यापार के कारण चमका। शांतिदास की समृद्धि आंतरिक वाणिज्य और जवाहरात के व्यापार के कारण थी। जगत सेठ की समृद्धि आंतरिक व्यापार और लेन-देन के परिणामस्वरूप हुई। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य जैन भी थे जिनको विभिन्न प्रकार से सफलता प्राप्त हुई।

एस॰एस॰ निगम ने अध्याय चौदह में अपने प्रबंध मध्यकालीन जैन धर्म को प्रकाश में लाते है कि किस प्रकार जैन धर्म दो मुख्य सम्प्रदायों दिगम्बर और श्वेताम्बर से विभिन्न पंथों, संघों, गणों और गच्छों में विभाजित हो गया। उत्तर और दक्षिण भारत में भट्टारकों का क्या योगदान रहा। इसके अलावा यह भी बतलाया गया है कि जैन धर्म का जन्म पूर्व में हुआ और बाद में लुप्त हो गया। इसके पश्चात् पश्चिम और दक्षिण में बाद के युग में इसका उत्थान हुआ। अभी हाल में प्रकाशित नए साहित्यिक ग्रंथों का भी इसमें उपयोग किया गया है।

प्रकाश जैन ने अध्याय पंद्रह में मालवा के सुलतानों और मुगलों के समय जैन धर्म का विवेचन किया है। इस समय मंदिरों का निर्माण, मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा और जैन ग्रंथ लिखे गए। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में संघों, गणों और गच्छों का अस्तित्व था। दिगम्बरों में मूलसंघ और काष्ठासंघ शक्तिशाली थे । श्वेताम्बरों में खरतर और तपागच्छ लोकप्रिय थे। स्थानकवासियों के कार्यकलापों के बारे में भी पता चलता है। इनके

अतिरिक्त दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन जातियां भी थीं। अध्याय सोलह का संबंध जैन धर्म के पतन और अस्तित्व से है जिसके लेखक डा॰ के॰सी॰ जैन है।

जैन एकेडमिक फाउन्डेशन ऑफ नार्थ अमेरिका (जाफना) की देख-रेख में *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैनिज्म* तैयार हो रहा है। मुझे उसके साथ जुड़ने में प्रसन्नता हो रही है। मैं शोध प्रयोजन के निर्देशक प्रेमचन्द बी॰ गाडा के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस इनसाइक्लोपीडिया का प्रथम ग्रंथ मेरी देखभाल में रखा। मुझे इस ग्रंथ के तैयार करने और प्रकाशन में कुछ व्यक्तियों का किसी-न-किसी प्रकार से सहयोग प्राप्त हुआ। इस शोध प्रयोजन के मुख्य सम्पादक कमल चन्द सोगानी का बहुत ही आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ को लिखने में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। समय-समय पर उन्होंने मुझे प्रेरणा भी दी और इसको पूर्ण करने के लिए सुविधाएं भी प्रदान कीं। इस ग्रंथ के कुछ अध्यायों के अनुवाद के लिए एस॰एम॰ पहाड़िया और एम॰एल॰ दलाल का भी आभारी हूँ। मैं इस ग्रंथ के लिखने में सहयोग देने हेतु प्रकाशचन्द जैन का भी ऋणी हूँ।

मैं नक्शे बनाने के लिऐ ओढेकर को भी धन्यवाद देता हूँ। छाया-चित्रों को तैयार करने में सहयोग देने के लिए पुरातत्त्व विभाग तथा उज्जैन के श्री उमेश जोशी एवं जी॰आर आसनानी, जयपुर का भी आभारी हूँ। अन्त में मैं अपनी पत्नी चन्द्रकला जैन के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिसने मेरे स्वास्थ्य और आराम का भरसक ध्यान रखा।

कैलाशचन्द जैन

एम॰बी॰ III, डयूप्लेक्स बिल्डिंग
महाश्वेता नगर
देवास रोड,
उज्जैन (म॰प्र॰)

द्वितीय खण्ड का वैशिष्ट्य

यह खण्ड जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और प्रसार का है जिसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार से जैन धर्म राजाओं की छत्रछाया में फला-फूला। जैन धर्म के आचार्यों ने जैन धर्म की उन्नति के सब प्रकार से प्रयास किये। जैन श्रावकों ने विभिन्न प्रकार से जैन धर्म की उन्नति के साधन अपनाये। इस समय जैन कला और साहित्य की उन्नति हुई। जैन धर्म का न केवल भारत अपितु भारत वर्ष के बाहर भी प्रचार करने का प्रयास किया गया। इसके साथ विभिन्न संघ, गण और गच्छ तथा जातियों और गोत्रों की उत्पत्ति हुई। जैन धर्म की सहिष्णुता की नीति के कारण इसकी अद्‌भूत उन्नति हुई। मध्यकालीन युग में जैन धर्म की सबसे अधिक उन्नति हुई। गलत धारणाओं के कारण गलत विचारों का प्रचार किया जाता है। जैन धर्म की सबसे अधिक उन्नति मुस्लिम काल में हुई जिसमें अनेक मंदिर बने। ग्वालियर चन्देरी, बजरंगबढ़ और चांदखेड़ी इसके अनुपम उदाहरण है। जैन आचार्यों ने जैन धर्म पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। जैन साधुओं ने इसी के साथ जनजातियों को उपदेश देकर उन्हें जैन धर्मावलम्बी बनाया जिससे अनेक नई जातियों और गोत्रों का उद्‌भव हुआ। इस काल में अनेक मंदिर और मूर्त्तियों का निर्माण हुआ। भारत में जैन धर्म के कारण लोगों में उदारता की भावना का प्रादूर्भाव हुआ, जिससे अनेक नये मंदिर और मूर्त्तियों का निर्माण हुआ। जैन साहित्य की रचना हुई, फलस्वरूप अनेक जैन ग्रंथ भण्डारों की स्थापना हुई। दान और दक्षिणा की भावना का भी प्रसार हुआ। श्रावकों के साथ-साथ श्राविकाएं भी जैन धर्म के प्रचार के लिए आगे बढ़ी। अंधविश्वास और परम्पराओं का विरोध किया गया और लोगों को विवेकशील बनाया गया। भट्‌टारक और यतियों ने जैन धर्म को अपने प्रयत्नों से सुरक्षित रखा। आक्रमणकारियों के अत्याचारों से जैन धर्म को बचाने का प्रयास किया गया। मध्यकाल में जैनियों की अधिक संख्या में बढ़ोतरी सिद्ध करती है कि इस समय जैन धर्म उन्नत अवस्था में था। जैनियों और मुस्लमानों के बीच आपसी संबंध सौहार्द्रपूर्ण थे जिससे आपसी झगड़ों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। इसी के साथ जैनियों के अन्य सम्प्रदायों जैसे शैवों और वैष्णवों के साथ भी भाईचारे के संबंध थे।

संकेत-सूची

अ॰कां॰ / अका॰	*अनेकांत*
अ॰ प्रा॰ जै॰ ले॰ सं॰	*अर्बुदाचल प्रांचीन जैन लेख संदोह*
अंगु॰ /अंग॰	*अंगुत्तरनिकाय*
अनु॰	*अनुयोगद्वार*
अंत॰	*अंतगड़स्काओ*
आ॰ गृ॰ सू॰	*आश्वलायन गृह्य सूत्र*
आ॰ स॰ इं॰ ए॰ रि॰	*आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया एन्युअल रिपोर्ट्स*
आ॰ स॰ इं॰ रि॰	*आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट्स,* (ए॰ कनिंघम)
आचा॰	आचारांग
आप॰ध॰सू॰	*आपस्तंब धर्म सूत्र*
आव॰	*आवश्यक*
आव॰चू॰	*आवश्यक चूर्णि*
आव॰नियु॰	*आवश्यक निर्युक्ति*
इं॰ आ॰ रि॰	*इंडियन आर्क्योलोजी – ए रिव्यू*
इं॰हि॰क्वा॰	*इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली*
इंडि॰ ऐंटी॰	*इंडियन ऐंटीक्वेरी*
उ॰ रा॰ इ॰	*उदयपुर राज्य का इतिहास,* लेखकः गौ ही च ओझा
उत्तरा॰	*उत्तराध्ययन*
उवा॰	*उवासगदसाओ*
ऋ॰	*ऋग्वेद*
ए॰इं॰हि॰ट्रे॰	*एन्शियंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन,* (एफ॰ई॰ पार्जिटर)
ए॰भं॰ओ॰रि॰इ॰	एनल्स ऑफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना

ए॰ रि॰ आ॰ डि॰ ग्वा॰	*एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेंट,* ग्वालियर स्टेट, ग्वालियर
ए॰ रि॰ ए॰	*एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिज्यन एण्ड एथिक्स*
ए॰ रि॰ रा॰ म्यू॰ अ॰	*एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी राजपूताना म्यूज़ियम,* अजमेर
ए॰सी॰टा॰रा॰	*एन्शियंट सिटीज़ एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान*
एच॰टी॰बी॰	ह्वेनसांग, सिचुकी बुद्धिस्ट रेकाड्र्स ऑफ दी वेस्टर्न
वर्ल्ड, सेमुएल बीज	
एपि॰ इण्डि॰	*एपिग्राफिका इण्डिका*
एपि॰ कर्णा॰	*एपिग्राफिका कर्णाटिका*
ऐ॰ ब्रा॰	*ऐतरेय ब्राह्मण*
ओध॰	*ओधनिज्जुत्ति*
ओवा॰	*ओववाइय*
औप॰	*औपासक सूत्र*
क॰ श्र॰ भ॰ म॰	कल्याण विजय, *श्रमण भगवान महावीर*
कल्प	*कल्पसूत्र*
के॰ म॰ थ्रू॰ ए॰	के॰सी॰ जैन, *मध्य प्रदेश थ्रू दी एजेज़*
का॰ इं॰ इं॰	*कॉर्पस इन्सक्रिप्शन्स इंडिकेरम*
का॰ हि॰ ध॰ शा॰	पी॰वी॰, काणे॰ *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, धर्म शास्त्र का इतिहास,* (*हिन्दी*)
काले॰	*कार्मेयिकल लेक्चर्स भण्डारकर*
के॰ एस॰	*दि बुक ऑफ किन्डर्ड सेइंगस्*
कै॰ हि॰ इं॰	*दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया*
को॰ हि॰ जै॰	*कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म*
कोमे॰	कमेंटरी
कोषि॰ उप॰	*कौषतकीय उपनिषद्*
गा॰ ओ॰ सि॰	गायकवाड्स ओरियंटल सीरीज़, बड़ौदा
गो॰ ब्रा॰	*गोपथ ब्राह्मण*
गौ॰ ध॰ सू॰	*गौतम धर्म सूत्र*
ग्रे॰ से॰	*दी बुक ऑफ ग्रेजुअल सेपिंग्स्*

चुव॰ / चु॰ व॰	*चुल्लवग्ग (विनयपिटक)*
चू॰	*चूर्णि*
छा॰ उप॰	*छान्दोग्य उपनिषद्*
ज॰ इं॰ हि॰	*जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री*
ज॰ ए॰ एस॰ ब॰	*जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल,* कलकत्ता
ज॰ ओ॰ इं॰ ब॰	*जर्नल ऑफ द ओरियंटल इस्टिट्यूट ऑफ बड़ोदा*
ज॰ डि॰ ले॰	*जर्नल ऑफ डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स,* कलकत्ता यूनीवर्सिटी, कलकत्ता
ज॰ न्यू॰ सो॰ इं॰	*जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया*
ज॰ बि॰ ओ॰ रि॰ सो॰	*जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी,* पटना
ज॰ बो॰ ब्रां॰ रो॰ ए॰ सो॰	*जर्नल ऑफ दी बॉम्बे ब्रांच ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी,* बॉम्बे
ज॰ यू॰ हि॰ सो॰	*जर्नल ऑफ द यू॰ पी॰ हिस्टोरिकल सोसाइटी*
ज॰ला॰ऐं॰इ॰डे॰जै॰के॰	जे॰सी॰ जैन, *जैन लाइफ इन एन्शियंट इंडिया एज़ डेपिक्टेड इन दी जैन केनन्स*
जयध॰	*जयधवला*
जा॰	*जातक*
जी॰ ई॰ बी॰	*ज्योग्राफी ऑफ अर्ली बुद्दिज्म*
जी॰ एस॰	*दि बुक ऑफ ग्रेजुअल सेइंगस्*
जीवा॰	*जीवाभिगम*
जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰	*जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह*
जै॰ शि॰ सं॰	*जैन शिलालेख संग्रह*
जै॰ स॰ प्र॰	*जैन सत्य प्रकाश,* अहमदाबाद
जै॰ स॰ शि॰	*जैन साहित्य शिक्षा*
जै॰ सा॰ इ॰	*जैन साहित्य और इतिहास*
जै॰ सा॰ सं॰	*जैन साहित्य संशोधक,* अहमदाबाद
जै॰ सो॰ हि॰ इं॰	*दी जैन सोर्सेस ऑफ हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* ज्यो॰ प्र॰ द्वारा
जो॰ अ॰ बु॰ बी॰	*ज्योग्राफी ऑफ अर्ली बुद्दिज्म, बी॰सी॰ला॰*
ज्यो॰ उ॰ प्र॰ जै॰	ज्योति प्रसाद जैन, *उत्तर प्रदेश और जैन धर्म*

टी॰	टीका
डाइ॰ / डा॰ बु॰	*डायलॉग्स ऑफ बुद्ध*
डि॰ पी॰ प्री॰ ने॰	*डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स*
तंदुल॰	*तंदुलवेयालिय*
तै॰ सं॰	*तैत्तिरीय संहिता*
थेर॰	*थेरगाथा*
दस॰	*दसवेयालिए*
दीघ॰	*दीघनिकाय*
ध॰ प॰	*धम्मपद*
न॰डे॰जो॰डि॰ऐ॰मि॰इ॰	एन॰एल॰डे, *ज्योग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शियंट एण्ड मेडिवल इंडिया*
ना॰ आ॰ त्रि॰ अ॰	नागराज, *आगम और त्रिपिटक – एक अनुशीलन*
ना॰ जै॰ इं॰	*नाहर जैन इन्सक्रिप्शन्स*
ना॰ प्र॰ प॰	*नागरी प्रचारिणी पत्रिका*
नाया॰	*नायाधम्मकहा*
नाया॰ टी॰	*नायाधम्मकहा टीका*
निर॰	*निर्युक्ति*
निर्या॰	*निर्यावलियाओ*
निशी॰	*निशीथ*
न्यू॰ स॰	*न्युमिस्मेटिक सप्लीमेंटरी*
प॰ जै॰ प्रा॰ इ॰	परमानन्द शास्त्री, *जैन धर्म का प्राचीन इतिहास*
पण्ण॰	*पण्णकथा*
परि॰	हेमचन्द्र का *परिशिष्ट पर्वन*
पा॰	पाणिनि की *अष्टाध्यायी*
पा॰ गृ॰ सू॰	*पारस्कर गृह्य सूत्र*
पिंड	*पिंड निज्जुत्ति*
पी॰ एस॰ ओ॰ बी॰ इंडिया	पाण्डे जी॰सी॰, *स्टडीज़ इन दी ओरिजन ऑफ बुद्धिस्ट*
पी॰ रि॰	*पीटरसन्स रिपोर्ट,* बॉम्बे, 1883-84

पेत॰	*पेतवत्थु*
पो॰हि॰एं॰इं॰	*पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियंट इण्डिया*
प्र॰सं॰	*प्रशस्ति संग्रह,* कस्तूरचन्द कासलीवाल
प्रा॰ ले॰ सं॰	*प्राचीन लेख* संग्रह, भावनगर, 1939
प्रो॰ रि॰ आ॰ स॰ वे॰ स॰	*प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्क्योलॉजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्कल*
फ॰ स॰ ओ॰ न॰ बु॰	फिक, आर, *दी सोशल ऑर्गनाइजेशन इन नॉर्थ ऑफ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धिस्ट टाइम*
ब॰ हि॰ प्री॰ इ॰ फि॰	बी॰ एच॰ बरुआ, *ए हिस्ट्री ऑफ प्रीबुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी*
बी॰ जो॰ अ॰ बु॰	बी॰जी॰ला॰, *ज्योग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म*
बु॰ किं॰ से॰	*दी बुक ऑफ किंर्डड सेयिंग्स*
बृह॰	*बृहत्कल्प*
बृह॰ उप॰	*बृहदारण्यकोपनिषद्*
बो॰ ध॰ सू॰	*बोधायन धर्म सूत्र*
भग॰	*भगवती सूत्र*
भा॰	*भाष्य*
भा॰ दि॰ जै॰ ती॰ ब॰	*भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ* (बलभद्र)
भागवत	*भागवत पुराण*
म॰ नि॰ सं॰	महावीर निर्वाण संवत
मै॰ सं॰	*मैत्रायणी संहिता*
मज्झि॰ / मज्झि॰ नि॰	*मज्झिम निकाय*
मत्स्य॰	*मत्स्य पुराण*
मव / म॰व॰	*महावग्ग (विनयपिटक)*
महा॰	*महाभारत*
महानि॰	*महानिशीथ*
मा॰ थ्रू॰ ए॰	*मालवा थ्रू दी एजेज़,* के॰सी॰ जैन
मिलिन्द॰	*मिलिन्द पन्हो*
मोह॰ इंड॰	*मोहनजोदड़ो एण्ड इंडस वैली सिविलाइजेशन*
राय॰	*रायपसेणिय (रायपसेनैयसूय)*

रि० बु० इं०	रिजडैविड्स, *बुद्धिस्ट इंडिया*
ला० म० ला० टी०	बी० सी० ला, *महावीर – हिज़ लाइफ़ एण्ड टीचिंग्स*
ले०	लेखक
व० ध० सू०	*वसिष्ठ धर्म सूत्र*
वि० ती० मं०	विजयेन्द्र सूरि, *तीर्थंकर महावीर*
विनय०, / वि० पि०	*विनयपिटक*
वृ०	वृत्ति
व्य०	*व्यवहार*
श० ब्रा०	*शतपथ ब्राह्मण*
सं० / संयुत०	*संयुत्तनिकाय*
संय	*संयुक्त निकाय*
सम० / समवा०	*समवायांग*
सा० इ० इं०	*साउथ इंडियन इन्सक्रिपशन्स*
सामञ्ञ०	*सामञ्ञ फल सूत्र*
सि० जै० सि०	*सिंघी जैन सीरीज़*
सी० क० ए० जी०	कनिंघम, *एन्शियंट ज्योग्रफी ऑफ इंडिया*
सी० ए० जी०	*कनिंघमस् ऐशियंट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया*
सू०	*सूत्र*
से० बु० बु०	*सेक्रेड बुक्स ऑफ दी बुद्धिस्ट्स,* लंदन
से० बु० ई०	*सेक्रेड बुक ऑफ दी ईस्ट,* ऑक्सफोर्ड
सु० नि०	*सुत्त निपात*
सूत्र०	*सूत्र कृतांग (सूत्रगड़ांग)*
स्टे० हा० जे०	स्टेवेन्सन, *दी हार्ट ऑफ जैनिज्म*
स्थाना या ठा०	*स्थानांग या ठाणांग*
हि० ओ०	*हिस्ट्री ऑफ ओसवाल्स*
ही० भा० सं० जै० यो०	हीरालाल जैन, *भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान*
त्रि० पु० च०	हेमचन्द्र, *त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित*

6

जैन धर्म का ऐतिहासिक महत्त्व

नन्दों और मौर्यों के समय मगध में जैन धर्म प्रबल था। बाद में इसका उत्तर, दक्षिण और पश्चिम के प्रदेशों में प्रसार हो गया, जहां वह फला-फूला। गुप्तकाल में जैन धर्म को कोई राजाश्रय प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए इसका पतन शुरू हो गया। परन्तु दक्षिण में राजाओं की प्रेरणा से जैन धर्म की लगातार उन्नति होती गई। आठवीं से बारहवीं सदी का काल जैन धर्म के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है क्योंकि जैन साधुओं, राजमर्मज्ञों और वणिकों ने इसके उत्थान में योगदान दिया। अनेक लोग जैन धर्म में परिवर्तित हो गए और उन्होंने जातियां बनाईं। बहुत से मंदिरों का निर्माण हुआ और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। जैन विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं को अपनी ग्रंथ रचनाओं से समृद्ध किया। बाद में जैन धर्म का शनैः-शनैः मध्यकालीन युग में मुसलमानों के समय पतन होता गया किन्तु श्रावकों और साधुओं की जैन धर्म के प्रति निष्ठा के कारण यह पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हो सका।

नन्द (364-324 ई॰पू॰)

नन्द मगध के सबसे शक्तिशाली राजा थे। उसकी इतनी बड़ी शक्ति थी कि सिकन्दर, जिसने इस समय पंजाब पर आक्रमण किया था, पूर्व की ओर आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सका। नन्दराजा महापदम एकमात्र संप्रभु होने का दावा करता था, जिसने अन्य सब राजाओं को नष्ट कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कलिंग और कोसल को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था।

जैन धर्म का मगध में नन्दों के राज्य में पालन होता था। खारवेल के उदयगिरि गुफा अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि नन्दराजा ने जैन मूर्ति कलिंग से पाटलिपुत्र को दे डाली। यह जैन मूर्तिकला की प्राचीनता तथा नन्द के जैन धर्म का अनुयायी होने पर प्रकाश डालता है।

---

1. *एपि॰इन्डि॰* पृ॰ 71, डी॰सी॰ सरकार, *सेलेक्ट इंस्क्रिपशन्स,* II, पृ॰ 213-22.

जैन परम्परा के अनुसार नन्द-वंश के जैन मंत्री थे, और पहले का नाम कत्यक था।[2] इस मंत्री की सहायता से राजा नन्द ने उस समय राज्य करने वाले क्षत्रिय वंशों को उखाड़ फेंका[3] और नन्दों के सब मंत्री उसके उत्तराधिकारी थे।[4] नये नन्द का मंत्री शकटाल था जिसके दो पुत्र थे। बड़ा स्थूलभद्र और छोटा पुत्र श्रीयक पुकारा जाता था। शकटाल की मृत्यु के पश्चात् नन्द ने उसके बड़े पुत्र स्थूलभद्र को मंत्री बनाया, किन्तु उसने मना कर दिया और संसार के मिथ्याभिमान से पीड़ित हो उसने दीक्षा ले ली व जैन संघ के छठे साधु सम्भूतविजय[5] के साथ हो गया। अंत में मंत्री पद उसके भाई श्रीयक को दिया गया, जो राजा के कार्यालय में ही था।[6]

संस्कृत नाटक *मुद्राराक्षस* से पता चलता है कि नंदों के समय जैन शक्तिशाली थे। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगद्दी पर बैठने की कथा मिलती है। इस समय चाणक्य, जो इस क्रांति का प्रधान अभिकर्ता था, ने एक जैन को मुख्य गुप्तचर के रूप में प्रयोग किया।[7]

बड़ली का अभिलेख, जिसको जी॰एच॰ ओझा महावीर निर्वाण संवत् 84 का मानता है, पांचवीं सदी में नन्दों के राज्य में जैन धर्म का नगरी में अस्तित्व होना सिद्ध करता है।[8] के॰पी॰ जायसवाल, जी॰एच॰ ओझा के अभिलेख से सहमत हैं किन्तु वह वर्ष 84 को नन्दसंवत् मानता है जिसके गिनने की शुरुआत 458 ई॰पू॰ से होती है। इस तरह यह अभिलेख चौथी सदी ई॰पू॰ का है।[9] डी॰सी॰ सरकार बड़ली के अभिलेख को दूसरी व पहली सदी ई॰पू॰ का मानता है। उसके अनुसार इस लेख में शुंग-वंश के राजा भागवत के राज्य में माध्यमिका के निवासी हेतु पुण्य कार्य करने का उल्लेख है।

पश्चिम भारत के यूनानी लेखकों का विवरण

यूनानी लेखक भारतीय दार्शनिकों के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं जिनसे सिकन्दर मिला। स्ट्रेबो दार्शनिकों के दो पंथों का उल्लेख करता है, एक ब्रचमनिस् (Brachmanes)

---

2. *आव,* पृ॰ 691-92.
3. वही, पृ॰ 693.
4. वही, 1.
5. वही, पृ॰ 693-95.
6. शाह जे॰ चिमनलाल, *जैनिज्म इन नार्थ इंडिया,* पृ॰ 130.
7. वी॰ए॰ स्मिथ, *ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* पृ॰ 75.
8. *भारतीय प्राचीन लिपिभाषा,* पृ॰ 2, 3.
9. *ज॰बि॰ओ॰रि॰सो॰* XVI, पृ॰ 67-68.

के नाम से पुकारा जाता है और अन्य जेर्मनिस।[10] ब्रचमनिस् ब्राह्मण के रूप है और जेर्मनिस शब्द से सर्मन्स का अपभ्रंश है, जो संस्कृत श्रमण (जैन संन्यासी) के रूप में है। लेकिन प्रश्न है कि ये लोग कौन थे? कुछ कहते हैं कि ये बौद्ध साधु थे, किन्तु ये जैन साधु प्रतीत होते हैं क्योंकि वे नग्न बतलाये गये हैं, और वे जिम्नोसोफिस्ट्स के नाम से पुकारे जाते हैं। नग्नता जैन साधुओं की मुख्य विशेषता रही है। प्लिनी कहता है कि ये दार्शनिक जिनको जिम्नोसोफिस्टस् पुकारते हैं, प्रातःकाल से संध्या तक अपनी आंखें सूर्य की ओर अचल स्थिति में रखते थे तथा जलती हुई बालू पर सारे दिन कभी एक पैर पर खड़े रहते थे तो कभी दूसरे पैर पर।[11] ओनेसिक्रिट्स कहता है कि ये साधु नग्न रहते थे, जो स्वयं कठिनाइयों को झेलते थे। इस कारण इनका बड़ा सम्मान भी किया जाता था। जब उन्हें आमंत्रित किया जाता था, तो वे किसी के समीप नहीं जाते थे किन्तु सम्बन्धित व्यक्तियों को उनके स्वयं के पास आने को कहते थे यदि उन्हें उनसे कोई चर्चा करनी होती।[12] यह वर्णन जैन साधुओं पर लागू होता है।

इन यूनानी प्रेक्षकों या लेखकों ने नारियों को पुरुषों के साथ दर्शन का अध्ययन करते हुये पाया था। वे सभी नारियां कठोर तपस्या का जीवन बिताती थीं। चूंकि ब्राह्मण प्रायः अपने दर्शन में नारियों को प्रवेश नहीं देते, ये संभवतः जैन संघ की साध्वियां ही होनी चाहिए।

इन साधुओं में एक का नाम कालनोस् था जो सिकन्दर के संग धर्म के विषयों को पढ़ाने हेतु गया था। प्लुटर्च के अनुसार उनका वास्तविक नाम स्फाइन था। यूनानियों में वह कालनोस के नाम से प्रसिद्ध था क्योंकि लोगों को प्रणाम करते, वह "काले" शब्द का प्रयोग करता था। यह संभवतः संस्कृत रूप कल्याण है जो प्रायः व्यक्ति को संबोधित करते हुए प्रयोग किया जाता है और इसका अर्थ होता है उत्तम, उचित या विशिष्ट। जब वह पसरगडी में बीमार पड़ा, जो उसके जीवन में पहली बार बीमार पड़ना था, बिना राजा की प्रार्थना पर ध्यान दिये, 73 वर्ष में उसने अपने जीवन का अंत कर लिया।[13] इस प्रकार की ऐच्छिक मृत्यु विशेषकर जैनियों में पाई जाती है। समंतभद्र (दूसरी सदी ई॰) *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* (अध्याय सप्तम) में संल्लेखना पर जोर देता है जिसके अनुसार रोग का उपचार नहीं होने पर, बहुत वृद्ध होने पर तथा विपदाओं के समय मनुष्य को पुण्य प्राप्त करने हेतु शरीर त्याग देना चाहिए।

---

10. *ज॰बि॰ओ॰रि॰सो॰* XXXVII, पृ॰ 38.
11. मैकक्रिन्डल, *एंशियंट इंडिया,* पृ॰ 68.
12. वही, पृ॰ 72.
13. मैकक्रिन्डल, *इंडिया,* पृ॰ 73.

यूनानी लेखकों ने भारतीय साधुओं को दो वर्गों में विभाजित किया है – ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण जन्म के अधिकार के कारण इस प्रकार के दैवी पांडित्य यानी पुरोहित पद को पाने में सफल होते हैं। वे सभी एक ही परिवार के होते थे तथा एक ही माता-पिता के उत्तराधिकारी। दूसरी ओर श्रमण जो अलग-अलग जाति के होते थे, अपने आपको दैवी पुरुषों के अध्ययन हेतु समर्पित कर देते थे।[14] ये साधु संभवतः जैन साधु थे क्योंकि जैन धर्म में जाति बन्धन का कोई प्रश्न नहीं था।

ये नग्न समनोइ सत्य का अभ्यास करते थे, पूर्व कथन करते थे और पिरामिड जैसी वस्तु की पूजा भी करते थे, जिसके नीचे, उनके अनुसार किसी देवता की हड्डियां दबी हुई थीं।[15] यह प्रथा जैनियों में भी देखी जा सकती है जो स्तूप बनाते थे, जिनके नमूने मथुरा में पाये जाते हैं।

यूनानी लेखकों के अनुसार समाज धंधों के अनुसार पांच वर्गों में विभाजित था। कुछ भूमि पर खेती करते थे, बहुत से युद्ध करते थे और अन्य व्यापार। सबसे उच्च और समृद्ध जनता के कार्यों की व्यवस्था करते थे, न्याय करते थे और राजाओं के साथ परिषद् में बैठते थे। पांचवां वर्ग देश में प्रचलित दर्शन का अध्ययन करता था जिसने पूरा धर्म का रूप धारण कर लिया। इस वर्ग के सदस्य चिता में जलकर अपने जीवन का अंत करते थे।[16]

इन साधुओं की क्रियाओं और विशेषताओं से पता चलता है कि वे जैन साधु थे। यूनानियों के भारत में आने के समय पश्चिम भारत में जैन धर्म प्रचलित था। तब जैन साधु और साध्वियां इतनी बड़ी संख्या में वहां थीं कि वे विदेशियों के ध्यान में भी आ गये।

मौर्य (324-187 ई०पू०)

चन्द्र गुप्त (324-300 ई०पू०)

मौर्य वंश की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा हुई थी, जो साधारण परिवार का ज्ञात होता है। वह भारत के महान् सम्राटों में से एक था। अपनी विजयों से उत्तरी भारत का एकीकरण करने वाला तथा इतने विशाल साम्राज्य पर शासन करने वाला वह पहला राजा था। वास्तव में उसी से अनवरत इतिहास शुरू होता है। इसलिए वह भारत का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् माना जाता है। भारतीय इतिहास में वह सबसे प्राचीन सम्राट् है जिसकी ऐतिहासिकता निश्चित तिथिक्रम के ठोस आधार पर रखी जा सकती है। हम उसका ठीक समय और स्थान निर्धारित कर सकते हैं। चाणक्य या कौटिल्य की सहायता से उसने

---

14. वही, पृ० 169.
15. मैकक्रिन्डल, *एंशियंट इंडिया,* पृ० 183.
16. *एंशियंट इंडिया डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन,* पृ० 136.

नन्दों का नाश कर मौर्यों का राज्य स्थापित किया। उसने पश्चिम भारत को सिकन्दर के यूनानी वाइसराय सेल्युकस के राज्य से मुक्त किया। उसने सौराष्ट्र और दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

चन्द्रगुप्त के दक्षिण के साथ संबंध होने की जैन अनुश्रुतियां भी हैं। उसकी दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों के विजय की प्रामाणिकता वहां से प्राप्त अशोक के कुछ अभिलेखों से भी होती है। उसने सक्षम प्रशासन की स्थापना की, इसकी जानकारी कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* और मेगस्थनीज की *इंडिका* से होती है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन था। *तिलोयपण्णति* (600 ई॰) और *राजवलीकथा* दोनों उसके जैनी होने का दावा करती हैं। जैन धर्म उसके राज्य में प्रचलित था। चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में जैन साधुओं का वर्णन न केवल भारतीयों किन्तु यूनानी इतिहासकारों द्वारा बार-बार किया गया है। चन्द्रगुप्त का यूनानी राजदूत मेगस्थनीज उसके साम्राज्य में श्रमणों का उल्लेख करता है। चन्द्रगुप्त श्रमण धर्म के प्रति समर्पित था और ब्राह्मण धर्म का विरोधी।[17]

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त युवा और अनुभवी था, जब वह 324 ई॰पू॰ में सिंहासन पर बैठा था। चौबीस वर्ष पश्चात् जब उसके राज्य का अंत हुआ, उसकी आयु पचास वर्ष से कम होनी चाहिए। जब राजा चन्द्रगुप्त मौर्य उत्तर भारत पर (उज्जैन या पाटलिपुत्र से) शासन कर रहा था तब श्रुत केवलिन भद्रबाहु ने पहले से ही बारह वर्ष के बड़े अकाल की भविष्यवाणी कर दी थी। वह उस समय का जैन धर्म का एक बड़ा साधु था। जब यह भविष्यवाणी पूरी होनी शुरू हुई तो वह बारह हजार जैनियों को लेकर दक्षिण में रवाना हुआ और श्रवणबेलगोला में उनके साथ बस गया। इसी समय चन्द्रगुप्त ने अपनी राजगद्दी त्याग दी और अपने शिक्षक भद्रबाहु के साथ हो लिया। भद्रबाहु की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त बारह वर्ष तक जीवित रहा और संल्लेखना से मरा।

इस समय ऐसे अकालों की संभावना थी जैसाकि कुछ प्राचीन अभिलेखों से पता चलता है। बंगाल के बोगड़ा जिला, महास्थान से प्राप्त शिलालेख[18] पंचवर्गीय बौद्ध भिक्षुओं को दान देने का उल्लेख करता है। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के साहेगौर से प्राप्त ताम्रपत्र[19] अकाल के समय भोजन हेतु चारा और अनाज देने का उल्लेख करता है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु और उसके शिष्य मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की अकाल के कारण दक्षिण में देशान्तर गमन की अनुश्रुतियों की पुष्टि बाद के साहित्यिक और अभिलेखीय

17. बी॰के॰ तिवारी, *हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म इन बिहार*, पृ॰ 83.
18. *एपि॰इण्डि॰* XXI, पृ॰ 85, *इं॰हि॰क्वा॰*, 1934, पृ॰ 57.
19. वही, XXII, पृ॰ 2, वही X, पृ॰ 45.

प्रमाणों से भी होती है। इसके अतिरिक्त भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की स्मृति में श्रवणबेलगोला में स्मारकों के नाम भी हैं। हरिषेण द्वारा 931 ई॰ में रचित *बृहत् कथाकोश*, रत्ननंदि द्वारा 1450 ई॰ में रचित *भद्रबाहुचरित्*, कन्नड़ में 1680 ई॰ में रचित *मुनिवंशाभ्युदय* और *रालवलिय कथा* इस घटना का उल्लेख करते हैं। अनेक श्रवणबेलगोला के अभिलेख[20] भी इस अनुश्रुति का उल्लेख करते हैं। इन अभिलेखों में सबसे प्राचील अभिलेख 600 ई॰ का है। 900 ई॰ के दो अभिलेख श्रवणबेलगोला की पहाड़ी का वर्णन करते हैं जिसके शिखर पर भद्रबाहु और मुनिपति के चरण-चिह्न हैं। 1128 और 1169 के दो अभिलेख भद्रबाहु श्रुतकेवलिन और चन्द्रगुप्त के नाम से अंकित हैं। 1433 का एक अन्य लेख यतिंद्र भद्रबाहु और उसके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख करता है। मुख्य तथ्यों में इस पर सहमति है कि मगध में चौथी सदी में अकाल पड़ा था जिससे जैनियों का दक्षिण में देशान्तर गमन हुआ। चन्द्रगिरि पहाड़ी पर भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु हुई। चन्द्रगिरि पहाड़ी का नाम इसलिए पड़ा कि चन्द्रगुप्त पहला साधु था जो वहां रहा और जिसने वहां तपस्या की। इसी पहाड़ी पर भद्रबाहु नाम की गुफा है और चन्द्रगुप्त बसति नाम का चैत्य है। चन्द्रगुप्त द्वारा निर्माण करने के कारण इसका नाम चन्द्रगुप्त पड़ा।

राइस लेविस[21] और नरसिंहाचार[22] जिन्होंने श्रवणबेलगोला के अभिलेखों का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है, जैन अनुश्रुतियों के पक्ष में निर्णय देते हैं। इन दोनों विद्वानों के अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु और उसके राजकीय शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में जैनियों का दक्षिण की ओर देशान्तर गमन की अनुश्रुति में विश्वास किया जा सकता है। यह अनुश्रुति जैन संघ में दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद से संबंधित कड़ियों में से एक को बनाता है। इस अनुश्रुति से भी पता चलता है कि चन्द्रगुप्त जैन था। एडवर्ड टॉमस[23] यूनानी विवरण पर विचार कर इसी निर्णय पर पहुंचा। होर्नले[24] भी श्रुतकेवली भद्रबाहु का दक्षिण की ओर देशान्तर गमन को मानता है।

दूसरी तरफ जे॰एफ॰फ्लीट[25] और जे॰ चारपेंटियर[26] ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इस जैन अनुश्रुति का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। जे॰एफ॰ फ्लीट के अनुसार

20. राइस लेविस, *मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रोम इंसक्रिपशन्स*, नरसिंहाचार्य, *इंसक्रिपशन्स ऑफ श्रवणबेलगोल*.
21. *मैसूर एण्ड कुर्ग, फ्रोम इंसक्रिपशन्स*.
22. *इंसक्रिपशन्स ऑफ श्रवणबेलगोल*.
23. *जैनिज्म एण्ड द अर्ली फेथ ऑफ अशोक*, पृ॰ 23.
24. *इण्डि॰ऐंटी॰*, XXI, पृ॰ 23.
25. *इण्डि॰ऐंटी॰*, पृ॰ 156, *एपि॰इण्डि॰*, IV, पृ॰ 22-34, 239, जरूखोबं, 1909, पृ॰ 23.
26. *द केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, I, पृ॰ 165.

दो आचार्यों के नाम भद्रबाहु दिगम्बर पहावलियों में उल्लेखित पाए जाते हैं – एक अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु और दूसरा नन्दी आम्नाय सरस्वती गच्छ की पट्टावली से। जे॰एफ॰ फ्लीट के विचारानुसार, वह साधु जिसने दक्षिण का देशान्तर गमन किया था, वह भद्रबाहु था और गुप्ति गुप्त का अन्य नाम चन्द्रगुप्त था। जे॰एफ॰ फ्लीट के विवाद का विषय गलत है। गुप्ति गुप्त और चन्द्रगुप्त को एक मानने का कोई प्रमाण नहीं है। इस समय बारह वर्ष के अकाल पड़ने का कोई संदर्भ नहीं है। सिंहासन को त्यागने के पश्चात् उसके साधु होने की कोई जानकारी नहीं है। जे॰ चारपेंटियर[27] दिगम्बरों के विवरण पर विश्वास नहीं करता और यह मानता है कि भद्रबाहु स्वयं समकालीन साधु संभूतविजय को उत्तराधिकारी बनाकर शेष जीवन तपस्या में बिताने हेतु नेपाल चला गया था।

कुछ आधुनिक प्रतिष्ठित विद्वान् इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि इस अनुश्रुति के प्रमाण पर चन्द्रगुप्त को सरलता से जैन कहा जा सकता है। के॰पी॰ जायसवाल[28] का विचार है,

> जैन ग्रंथ (पांचवीं सदी ई॰) और बाद के जैन अभिलेख चन्द्रगुप्त को जैन राजर्षि होने का दावा करते हैं। मेरा अध्ययन जैन ग्रंथों की ऐतिहासिक सामग्री को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है और मुझे इसमें कोई कारण दिखाई नहीं देता है कि हम जैनियों के दावे को क्यों नहीं स्वीकार करें कि चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य के अन्तिम समय जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और गद्दी को त्यागकर जैन संन्यासी के रूप में संल्लेखना से मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

वी॰ए॰ स्मिथ[29] के शब्दों में "चन्द्रगुप्त का झुकाव अंत में जैन धर्म की ओर हो गया"। जिस तरह चन्द्रगुप्त मौर्य का अंत हुआ, इस पर प्रत्यक्ष प्रकाश डालने वाला प्रमाण जैन अनुश्रुति है। जैनी इस महान् सम्राट को जैन मानते हैं, और इस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। एच॰ याकोबी[30] कहता है "भद्रबाहु की मृत्यु-तिथि हेमचन्द्र से लेकर आज तक सभी जैन लेखकों द्वारा समान ही 170 वर्ष में वर्धमान् के पश्चात् रखी जाती है"। यह हमारे गणित से करीब 291 ई॰पू॰ होगी। श्रुतकेवली के निर्वाण की यह तिथि चन्द्रगुप्त से मिलती जुलती

---

27. वही.
28. *ज॰बि॰ओ॰रि॰सो॰*, III, पृ॰ 452.
29. वी॰ए॰ स्मिथ, *ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, पृ॰ 75-76; *अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया*, पृ॰ 154.
30. *सैबुई*, XXII *इंट्रो॰* पृ॰ 13 जैन साहित्य में अन्य संदर्भ हैं जिनसे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त जैन था व जैन हो गया था.
    याकोबी, *परिशिष्ट पर्वन*, पृ॰ 61-62.

है जो 321 से 297 ई॰पू॰ में राज्य करता था। चन्द्रगुप्त के जैन होने के प्रमाण लुप्त हो सकते हैं किन्तु अब भी लगातार बाद के साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाण उसको जैन सिद्ध करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने राजस्थान में जोधपुर से 27 कि॰मी॰ दूर धांधाणी ग्राम में मूर्तियों और मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। वि॰सं॰ 1662 में इस स्थान के तालाब से अनेक मूर्तियां निकलीं। संयोग से कवि सुन्दरगणि इस स्थान की यात्रा को गया, और मूर्ति पर एक लेख देखा और उसका परीक्षण किया। अम्बिका देवी द्वारा अलौकिक शक्ति उसे दिये जाने से उसने अभिलेख को पढ़ लिया बताया जाता है। उसने तुरन्त इस पर कविता रची। इसके अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त ने पार्श्वनाथ की स्वर्ण की प्रतिमा बनवाई और उसकी प्रतिष्ठा संभवतः श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा की गई।[31] यह प्रमाण बहुत बाद के समय का है, इस कारण इसकी यथार्थता में बहुत संदेह है।

जैन अनुश्रुतियों से पता चलता है कि जैन साधुओं ने मगध से दक्षिण की ओर देशान्तर गमन नहीं किया था, बल्कि कुछ ने अपने प्राचीन देश में ही रहना ठीक समझा। जैन श्वेताम्बर अनुश्रुतियों के अनुसार महावीर के मूल सिद्धान्तों को खोने और बिगड़ने के डर से आशंकित होकर स्थूलभद्र ने मगध में संघ का नेतृत्व संभाला और महावीर के उपदेशों को पूर्वों के रूप में बचाव के लिए 307 ई॰पू॰ में जैन मुनियों की सभा में संकलन किया। इस प्रकार शुद्ध आगम जो लुप्त होने को थे, ठीक रखे गये। पाटलिपुत्र सभा का उल्लेख जिनदास गणि ने, जो सातवीं सदी के मध्य में हुआ है, *आवश्यक चूर्णि* में किया है तथा हरिभद्र सूरि ने भी जो आठवीं सदी के मध्य में हुआ है।

बिन्दुसार (लगभग 300-273 ई॰पू॰)

चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उत्तराधिकार उसके पुत्र बिन्दुसार को मिला जिसका राज्य यूनानी राजाओं से लगातार सम्बन्धित होने के कारण महत्त्वपूर्ण था। बिन्दुसार ने अपने माता-पिता के धर्म का अनुसरण किया। जैन ग्रंथ उसे जैन मानते हैं और उसे सिंहसेन की उपाधि देते हैं।

अशोक (लगभग 273-236 ई॰पू॰)

बिन्दुसार के बाद उत्तराधिकार उसके पुत्र अशोक को मिला। सिंहासन पर बैठने के पश्चात् अशोक ने केवल एक कलिंग का बड़ा युद्ध लड़ा। युद्ध की निर्दयता को देखकर उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया। यद्यपि वह बौद्ध था, उसने नैतिकता पर आधारित "धर्म" का प्रचार किया किन्तु कट्टर धर्म का नहीं। वह इतिहास में सबसे महान् व्यक्ति

31. *भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास,* पृ॰ 273.

माना जाता है। एच॰जी॰ वेल्स की *आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री* में उसे राजाओं में सबसे महान् बताया गया है क्योंकि उसने न केवल लोगों की भौतिक किन्तु आध्यात्मिक भलाई का भी प्रयत्न किया।

ऐसा ज्ञात होता है कि आरंभ में अशोक ने अपने पूर्वजों के जैन धर्म का अनुसरण किया। सिंहली अनुश्रुतियों का कहना है कि अपने पिता के जीवनकाल में जब अशोक उज्जैन का वाइसराय था, उसने विदिशा के श्रेष्ठी की पुत्री देवी के साथ विवाह कर लिया। यह संभव है कि देवी किसी जैन कुल की हो।

ऐसा ज्ञात होता है कि अशोक के बौद्ध होने के पश्चात् भी उसका बहुत कुछ झुकाव जैन धर्म की ओर था। आसिनव शब्द का प्रयोग, इसमें और पाप में अंतर और जैनियों की सूची के पाप जैसे हिंसा, क्रूरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या का प्रयोग यह निश्चय कराने में काफी हैं कि बहुत संभव है अशोक ने जैन धर्म के कुछ मनोवैज्ञानिक विचारों को स्वीकार कर लिया और पचा लिया।

अनेक निश्चित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अशोक जैन धर्म से प्रभावित था। उसने पंच-स्तम्भ लेख में पशु-वध निषेध और जीव-जन्तुओं को दुःख नहीं देने पर जोर दिया।

चट्टान के प्रथम अभिलेख में वह उल्लेख करता है कि प्रियदर्शी की रसोई के लिए सैकड़ों जीवों का पहले प्रतिदिन वध किया जाता था, किन्तु अब केवल तीन पशु कढ़ी हेतु प्रतिदिन मारे जाते थे। भविष्य में ये तीनों पशु भी नहीं मारे जाएँगे। सप्तम स्तंभ लेख निगंठों का उल्लेख करता है जो जैन श्रावक प्रतीत होते हैं। अशोक द्वारा धर्म प्रचार करने हेतु धर्म महामात्र निर्ग्रन्थों और श्रमणों से भी लिये जाते थे।

सम्प्रति

जब अंधे होने या अंधे बना दिये जाने के कारण कुणाल ने मगध के सिंहासन पर अपना अधिकार खो दिया तब अशोक द्वारा उसका पुत्र सम्प्रति यथोचित उत्तराधिकारी घोषित किया गया। हाल में सम्प्रति की ऐतिहासिकता सिद्ध की गई है क्योंकि सम्प्रति के नाम पर सम्प्रति बिहार का कृष्णाघाटी में बड़मानु स्थान पर दूसरी सदी ई॰पू॰ में अस्तित्व था।[32] जैन समुदाय के महान् संत सुहस्तिन् के प्रभाव से महागिरि के नेतृत्व में सम्प्रति को जैन धर्मावलम्बी बनाया गया। उसने अपनी शक्ति के हर साधन से जैन धर्म के प्रचार के कठिन कार्य को करने का प्रयत्न किया। जैन ग्रंथों के अनुसार वह नये मंदिर के निर्माण के समाचार सुनकर ही सुबह अपने मुख को धोता था।

इसके अतिरिक्त उसने सब प्राचीन और उस समय के विद्यमान मंदिरों का पुनरुद्धार

32. *अर्हत् वचन*, IX, पृ॰ 25, 49-58.

करवाया और उसमें पाषाण, स्वर्ण, पीतल और मिश्रित धातुओं की मूर्तियां रखीं और उनका अंजनशलाका समारोह किया अर्थात् पूजने के लिए उन्हें योग्य बनाया। 3½ सालों में उसने 25 हजार नये मन्दिरों को बनाया, 36 हजार की मरम्मत करवाई, 12½ लाख मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई और 95 हजार धातु मूर्तियां तैयार करवाईं।[33]

सम्प्रति द्वारे अपने साम्राज्य में चारों ओर जैन मन्दिर बनाने के बारे में कहा जाता है। उसने अनार्य देशों में भी जैन मठों की स्थापना की और अज्ञात उत्पत्ति के सभी प्राचीन मन्दिरों को लोक-सम्मत विचार से सम्प्रति के ही बताये जाते हैं। यह भी जानकारी रखना है कि राजस्थान और गुजरात के सब जैन स्मारक, जिनके निर्माता का पता नहीं है, सम्प्रति के बताये जाते हैं।[34] टोड़[35] कुम्भलमेर के प्राचीन जैन मन्दिर को सम्प्रति का ठहराता है। नाड़लोई में आदिनाथ को समर्पित जैन मन्दिर है। मूर्ति की पीठिका पर वि॰सं॰ 1686 का अभिलेख अंकित है जिसके अनुसार इसका पुनरुद्धार नाड़लोई के समस्त जैन समुदाय ने किया। मंदिर का मूल निर्माण सम्प्रति ने किया था।[36] सत्रहवीं सदी में नाड़लोई के जैन विश्वास करते थे कि मन्दिर का निर्माण सम्प्रति ने करवाया था, इसी कारण ऐसी अनुश्रुति चली। यह भी कहा जाता है कि उसने आर्य सुहस्ति द्वारा वी॰नि॰ सं॰ 203 में धंधाणी नामक स्थान पर पद्मप्रभ मूर्ति का प्रतिष्ठा समारोह मनाया।[37]

सम्प्रति जैन धर्म का प्रचार करता हुआ न केवल अपने राज्य में किन्तु पड़ोसी देशों में भी जाना जाता है। उसने जैन धर्म को दक्षिण भारत में दूर तक प्रायद्वीप में प्रचार करने हेतु प्रचारक भेजे जहां उसका धर्म बड़ा लोकप्रिय हो गया और जैन साधुओं के लिए आंध्र, द्राविड़, महाराष्ट्र और कुर्ग को सुरक्षित बना दिया। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति के भाई सलिसुक ने काठियावाड़ में जैन धर्म के प्रचार करने में योगदान दिया। इसके अतिरिक्त सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार करने हेतु अन्य कदम भी उठाए। जैन ग्रंथों से यह माना जाता है कि उसने सुहस्ति के साथ पांच हजार श्रमणों के साथ उज्जैन से शत्रुंजय का संघ निकाला। उसने सुहस्ति के नेतृत्व में जैन धर्म के प्रचार करने हेतु सभा बुलाई, ऐसा भी कहा जाता है।

सम्प्रति द्वारा जैन धर्म के प्रचार का यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है, किन्तु इसमें कुछ सत्यता अवश्य है। अभी हाल में कृष्णाघाटी के स्थान बड्डमानु, जिसकी

33. त्रिभुवनलाल शाह, *एंशियंट इंडिया*, II पृ॰ 25-49, 293-94.
34. बी॰के॰ तिवारी, *हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म इन बिहार*, पृ॰ 105-07.
35. *एनल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज़ ऑफ राजस्थान*, II, 779-80.
36. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 856.
37. *भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास*, पृ॰ 273.

पहचान अंतिम जैन तीर्थंकर के नाम पर रखे स्थल वर्धमान से होती है, के उत्खनन में जो जैन अवशेष स्तूप, दीर्घवृतज भवन, पाषाण स्तंभ पर अंकित मूर्तियां, शिलाफलक और तोरण निकले हैं,[38] सम्प्रति द्वारा जैन धर्म के प्रचार हेतु की गई क्रियाओं की पुष्टि करते हैं। मृदभांड़ों के टुकड़ों पर अंकित अभिलेखों में तीर्थंकर वृषभनाथ, वर्धमान, अरहनाथ, आदि के नाम हैं। ये अवशेष शुंग-सातवाहन काल के जान पड़ते हैं। महत्त्वपूर्ण जैन आचार्यों और उनके शिष्यों के नाम गणों, गोत्रों और शाखाओं के साथ मृदभाण्ड के टुकड़ों पर अंकित पाये जाते हैं। सम्प्रतिविहार और जिनोनविहार जैसे नाम भी अंकित मिलते हैं। इन अभिलेखों में श्राविकाओं के उल्लेख भी मिलते हैं। स्तंभों, सूचियों, उपनिषदों और तोरणों में विभिन्न धार्मिक चिह्न जैसे स्तूप, धर्मचक्र, रत्नत्रय, नंदिपद, केवल वृक्ष और स्वस्तिक मिलते हैं।

सबसे प्राचीन जैन मंदिरों की नींव के अवशेष पटना के समीप लोहानिपुर से प्राप्त हुए हैं। जैन मूर्तियों के दो धड़ भी पटना में मिले हैं। इससे सिद्ध होता है मौर्य काल में मगध में जैन मन्दिर और मूर्तियों की पूजा होती थी।

कसरावद से प्राप्त मृदभाण्ड के एक टुकड़े पर "निगटस विहारदीप" का अंकन जैन मठ के अस्तित्व को सिद्ध करता है।[39] इसका अर्थ है कि निगठ मठ के दीपक का प्रयोग कमरों की रोशनी के लिए होता था। यह मठ मौर्य काल का बताया जाता है।

जब आर्य सुहस्तिन ने जीवन्तस्वामी की मूर्ति-पूजा हेतु उज्जैन की यात्रा की, अवंति सुकुमाल ने उससे दीक्षा ली और मुनि हो गया।[40] अवंति सुकुमाल की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्मृति में एक स्तूप का निर्माण किया गया और उसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई। कुछ समय पश्चात् स्तूप उजाड़ हो गया और यह कुंडुगेश्वर (वनदेवता) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तीर्थ स्थल होने के कारण जैन साधु जैसे चंडरुद्र, भद्रक गुप्त, आर्यरक्षित और आर्य आषाढ़ ने बार-बार उज्जैन की यात्रा की।[41] वज्र तुंबवन ग्राम (तुमैन) में रहता था। सिंहगिरि द्वारा ग्यारह अंग सिखाने के पश्चात् वज्र बारहवें अंग अर्थात् दृष्टिवादांग को पढ़ने हेतु दशपुर से अवंति (उज्जयिनी) के भद्रगुप्त के पास गया। वह अंतिम था जो पूरे दश पूर्वों को जानता था, और उसी से वज्र शाखा निकली।[42] दशपुर (मंदसौर) जैन

---

38. *अर्हत वचन,* V, पृ॰ 35, 49, 58.
39. *इ॰हि॰क्वा॰*, XXV.
40. *इंडि॰ऐंटी॰*, II, पृ॰ 246.
41. *जैन तीर्थ सर्वसंग्रह*।
42. *इंडि॰ऐंटी॰*, XI, पृ॰ 247.

साधु आर्यरक्षित का जन्म स्थान था जिसने वज्र से नौ पूर्व और दसवें का भाग सीखा और उनको अपने शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र को लिखाया।[43] जैन धर्म में सातवां निन्हव (भेद) इसी स्थान पर हुआ। जैन अनुश्रुतियां दृढ़ता से बतलाती हैं कि वज्रस्वामी और अन्य साधुओं ने विदिशा (अभी भिलसा) के पड़ोस की कुंजरावर्त और रथावर्त पहाड़ियों से मुक्ति प्राप्त की।[44]

शुंग (ल॰ 187-75 ई॰पू॰)

पुष्यमित्र (ल॰ 187-75 ई॰पू॰)

अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध सेना की उपस्थिति में ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र द्वारा किया गया जो शुंग वंश का संस्थापक हुआ। विदर्भ के साथ युद्ध उसके राज्य की पहली घटना थी। उसे इण्डो-बैक्ट्रियन राजाओं डैमिट्रियस और मनिन्डर के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उसने दो अश्वमेध यज्ञ किये। *दिव्यावदान* के अनुसार वह बौद्धों का हत्यारा था। पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अग्निमित्र था जिसे अपने पिता के अधीन वाइसराय के रूप में विदिशा पर प्रशासन करने का अनुभव प्राप्त था। अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने आरम्भ के दिनों में यवनों को हराया। तक्षशिला के इंडोग्रीक राजा ऐन्टिआल्किड्स ने दिय (दियन) के पुत्र हेलियोदोर अथवा हेलियोडोरस को अपना दूत बनाकर शुंग राजा भागवत या काशीपुत्र भागभद्र की राज्यसभा में भेजा। कण्व जो ब्राह्मण थे, ने ई॰पू॰ के लगभग मगध की राजशक्ति स्वायत्त कर ली।

साधारणतः शुंग राजा पुष्यमित्र के विरुद्ध आरोप लगाया जाता है कि वह कट्टर ब्राह्मण था और उसने बौद्ध और जैन साधुओं को मरवाया। यह कथन बौद्ध ग्रंथ *दिव्यावदान*[45] के पाठान्तर पर आधारित है। उसमें लिखा है कि साकल में उसने प्रत्येक बौद्ध-भिक्षु के मस्तक के लिए सोने के सौ दीनार देने की घोषणा की। भिक्षुओं के विरुद्ध पुष्यमित्र का नीलामी का यह वर्णन आतिशयोक्तिपूर्ण ज्ञात होता है क्योंकि इसी प्रकार आजीविकों और निर्ग्रन्थों के खिलाफ भी इसी ग्रंथ में पुष्यमित्र के लिए कहा गया है जहां उसने एक निर्ग्रंथ के मस्तक के लिए कीमत एक दीनार रखी। उसे मगध से जालंधर (आधुनिक पंजाब का क्षेत्र) तक मठों और भिक्षुओं को नष्ट करने का उत्तरदायी माना जाता है। तारनाथ भी पुष्टि करता है कि पुष्यमित्र नास्तिकों का मित्र था, और उसने मठों को जला दिया और भिक्षुओं का वध किया।

---

43. वही.
44. *जैन तीर्थ सर्वसंग्रह*, II, पृ॰ 318.
45. अध्याय, XXIX, पृ॰ 194.

लेकिन बौद्धों और जैनियों का पुष्यमित्र के विरुद्ध अभियोग का यह आरोप ठीक प्रतीत नहीं लगता है। वास्तव में ब्राह्मण श्रमण धर्मों (बौद्ध धर्म और जैन धर्म) में हस्तक्षेप नहीं करते थे। न तो बौद्ध धर्म और न जैन धर्म लुप्त हुए, क्योंकि कुछ शानदार बौद्ध और जैन स्मारक शुंगों के राज्य में निर्मित किये गये। इसलिए इस परिणाम पर पहुंचा जा सकता है कि *दिव्यावदान* के कथन पर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता। शुंगों के राज्य में निर्मित भरहुत और सांची के बौद्ध स्मारकों से यह सिद्ध नहीं होता कि शुंग सैनिक ब्राह्मणवाद के नेता थे। बौद्धों और जैनियों के विरुद्ध पुष्यमित्र के अत्याचार के कारण व्यक्तिगत और राजनैतिक हो सकते हैं।

उत्तरप्रदेश में जैनियों की स्थिति अच्छी थी, इसकी जानकारी दूसरी सदी ई॰पू॰ के दो अभिलेखों से होती है।[46] ये कौशाम्बी के समीप पभोसा से प्राप्त हुए हैं और बहुत ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। (1) गोपाली वैहिदकी (यानी वैहिदर की राजकुमारी, और राजा बहसतिमित्र का मामा) एवं उनके पुत्र ने, एक गुफा का निर्माण करवाया दूसरी सदी के दसवें वर्ष में .... कश्यपीय अर्हतों के (2) वैहिदर (वैहिदर की राजकुमारी) के पुत्र आषाढ़सेन द्वारा निर्मित किया गया, राजा भागवत् का पुत्र, तेवनि (यानी त्रैवर्ण की राजकुमारी) और राजा वंगपाल का पुत्र, सोनेकायन (अहिच्छत्र का सौनकायन) का पुत्र। दूसरी व पहली सदी ई॰पू॰ के ये दो लेख ऐतिहासिक महत्त्व के हैं क्योंकि ये उत्तर पांचाल के शक्तिशाली राज्य की राजधानी अहिच्छत्रपुर के प्रारम्भिक राजाओं की वंशावली देते हैं। ये अभिलेख अहिच्छत्र से कश्यपीय अर्हतों के लिए आषाढ़सेन द्वारा समर्पण का उल्लेख करते हैं। इन अभिलेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन साधुओं को शुंगकाल में राजाओं का आश्रय प्राप्त था।

जैन धर्म का प्रचार

मौर्यो के पश्चात् जैन धर्म अपने मूल स्थल मगध से शनैः-शनैः विभिन्न प्रदेशों में जैसे दक्षिण-पूर्व में कलिंग, पश्चिम में मथुरा और मालवा और दक्षिण में देकन, और तमिलनाडु में फैल गया। इस समय मगध में इसका प्रभाव कम हो गया किन्तु पश्चिम और दक्षिण में यह शक्तिशाली हो गया। उत्तर में राजकीय सहयोग के कारण आरम्भ में जैन धर्म का तेजी से उत्थान हुआ किन्तु इसका प्रभाव शीघ्र कम होता गया। इसमें संदेह नहीं कि मध्यम वर्ग जैसे वणिकों और महाजनों पर जैन धर्म का प्रभाव लंबे समय तक चलता रहा। उत्तर में राजकीय सहयोग से नुकसान की पूर्ति डेकन के कुछ राजवंशों द्वारा जैन धर्म को प्रोत्साहन देने से हुई। तीसरी सदी के अंत तक जैन धर्म ने समस्त भारत में अपनी जड़ें जमा लीं।

---

46. *एपि.इण्डि.*, II, पृ॰ 240-44, ल्यूडर्स लिस्ट, सं॰ 904-05.

कलिंग (उड़ीसा) का चेदि (महामेघवाहन) वंश

खारवेल के उदयगिरि के दूसरी और पहली सदी ई॰पू॰ के लेख से कलिंग में मगध से जैनियों का शीघ्र स्थानान्तर देखा जा सकता है। चूंकि इस लेख में मगध के राजा द्वारा कलिंग से पाटलिपुत्र को जैन मूर्ति को ले जाने का उल्लेख मिलता है, इससे सिद्ध होता है कि चौथी सदी ई॰पू॰ जैन धर्म यहां प्रचलित था। यहां पर जैन धर्म की जड़ें जम गई थीं, और यह लम्बे समय तक यहां फलता-फूलता रहा।

खारवेल का उदयगिरि गुफा-लेख "खारवेलचरित" माना जा सकता है। क्योंकि यह उसके जीवन की घटनाओं के बारे में जानकारी देता है। वह महामेघवाहन वंश की तीसरी पीढ़ी का था, और चेदि राज्य कुस का अंकुर जान पड़ता है। वह ऐल-वंश की संतान जान पड़ता है। महाराज खारवेल प्राचीन भारतीय इतिहास के शानदार व्यक्तियों में एक हैं। चूंकि इस अभिलेख की शुरुआत मंगलाचरण "नमो अरिहंतानम्" और "नमो-सब-सिद्धानम्" से होता है, चेदि राजा खारवेल का जैनी होना सिद्ध होता है।

खारवेल की तिथि निश्चित करना भी संभव है, यदि इस लेख में उल्लेखित खारवेल के समकालीन राजाओं की ठीक पहचान की जा सके।[47] के॰पी॰ जायसवाल और आर॰डी॰ बनर्जी उसे दूसरी सदी ई॰पू॰ का बतलाते हैं जबकि अन्य विद्वान् जैसे डी॰सी॰ सरकार[48] उसे पहली सदी ई॰पू॰ या पहली सदी ई॰ का मानते हैं। उसकी उपाधि "महाराज", अभिलेख की बाद की लिपि, विकसित काव्य-शैली और मंचपुरी की मूर्तिकला पीछे की तिथि सिद्ध करते हैं। नन्द राजा ने खारवेल से तीन सौ वर्ष पहले नहर खुदवाई, ऐसा जान पड़ता है। चूंकि नन्दों का मगध साम्राज्य पर अस्तित्व चौथी सदी ई॰पू॰ में था और खारवेल का आगमन नन्द राजा के तीन सौ वर्ष से अधिक समय पश्चात् हुआ था, अतः उसे (खारवेल) पहली सदी ई॰पू॰ का माना जाय।

खारवेल जब राजकुमार था, वह अपनी युवा अवस्था के अनुरूप विभिन्न खेल खेला करता था। उसका शरीर मनोहर था और रंग-रूप भूरा था। उसके शरीर पर उत्तम और शुभ चिह्न थे। जहां तक खारवेल की शिक्षा और योग्यता का सम्बन्ध है, वह लेख, रूप, गणना, व्यवहार और विधि में दक्ष था।

खारवेल ने विवाह किया था, इसमें कोई संदेह नहीं है। यह तथ्य कि उदयगिरि और खंडगिरि पर मंचपुरी गुफा खारवेल की पटरानी ने कलिंग में जैन साधुओं के प्रयोग के लिए समर्पित की, सिद्ध करता है कि खारवेल की एक से अधिक रानियां थीं। हाथीगुंफा के लेख में खारवेल की पत्नी का अपूर्ण उल्लेख सातवें वर्ष के विवरण में मिलता है। उसके राज्य के ग्यारहवें वर्ष में वजिरघर की खारवेल की प्रसिद्ध पत्नी ने शुभ माताएन

---

47. *एपि॰इण्डि॰*, XX, पृ॰ 71-78.   48. *द एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी*, पृ॰ 215-16.

की प्रतिष्ठा प्राप्त की।[49] उसने संभव है लारक-वंश के राजा हस्तिसिंह के प्रपौत्र की पुत्री से विवाह किया था।[50]

तुरन्त गद्दी पर बैठने के पश्चात् खारवेल ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया।[51] अपने राज्य के दूसरे वर्ष में बिना सातकर्णि का ध्यान दिये उसने विशाल सेना पश्चिमी देशों को भेजी। वह प्रत्यक्ष रूप से कलिंग के पश्चिम देश पर शासन करता था। अपनी विजय यात्रा के समय कलिंग सेना कृष्णा नदी के किनारे पर पहुंची जहां ऋषिक नगर को भी आक्रमण का भय हो गया। चूंकि ऐसी कोई जानकारी नहीं मिलती कि खारवेल की सेना का सातकर्णि के साथ युद्ध हुआ व ऋषिक नगर सातकर्णि के साम्राज्य का भाग था। कलिंग सेना का दावा है कि दोनों राजाओं के मध्य मैत्री सम्बन्ध थे और कलिंग की सेना बिना कठिनाई के सातकर्णि के राज्य को पारकर कृष्णा पर स्थित ऋषिक नगर को पहुंच गई। किन्तु यह सुझाव कि खारवेल की सेना ने सातकर्णि के साम्राज्य कृष्णा नदी पर स्थित नगर पर आक्रमण किया, यह असंभव नहीं माना जा सकता। इस नाम का सातवाहन राजा पहले के सातवाहन राजा को छोड़कर अन्य नहीं हो सकता। बहुत संभव है वह सातकर्णि प्रथम हो जो नागनिका के नानाघाट अभिलेख से जाना जाता है। अपने राज्य के चौथे वर्ष में खारवेल ने विद्याधर नाम के राजकुमार की राजधानी पर अधिकार किया, ऐसा प्रतीत होता है। जैन साहित्य में विद्याधर लोग विंध्य पर्वत में रहने वाले जनपद के जान पड़ते हैं।[52]

इसी वर्ष खारवेल ने राष्ट्रिक और भोजकों को जीता। राष्ट्रिक की पहचान मराठा क्षेत्र से और भोजक का सम्बन्ध बरार क्षेत्र से किया जाता है। आठवें वर्ष में खारवेल ने बराबर की पहाड़ियों पर स्थित पहाड़ी दुर्ग गोरधगिरि को नष्ट किया और राजगृह (बिहार के गया जिले में आधुनिक राजगिरि) पर आक्रमण किया।[53] खारवेल के आक्रमणों के समाचारों ने यवन राजा के मन में भय उत्पन्न कर दिया और वह मथुरा की ओर भाग गया। यवन राजा का नाम जो संशय से दिमित्र व दिमिंत (डेमिट्रियस) पढ़ा जाता है, संभवतः पूर्वी पंजाब का बाद का इंडो-ग्रीक राजा था। यह भी संभव है कि खारवेल का समकालीन मथुरा का राजा यवन राजा डेमिट्रियस न होकर मित्र-वंश का राजा हो।

ग्यारहवें वर्ष में खारवेल ने तमिलनाडु के मछलिपटम क्षेत्र के राजा की राजधानी

49. *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा।*
50. *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं॰ 1346.
51. *द एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी,* पृ॰ 213-14.
52. *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा,* पृ॰ 322.
53. हाथीगुम्फा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने गोरधगिरि नाम के राजा को मारा और उसकी राजधानी राजगृह को लूटा।

पिथुड़ नगर को नष्ट किया। पिथुड़[54] संभवतः कलिंग देश के दक्षिण में कहीं समुद्रतटीय नगर के रूप में स्थित हो। उसने अगले वर्ष उत्तरापथ (संभवतः उत्तर-पश्चिम भारत) के राजाओं पर आक्रमण किया और गंगा पर स्थित संभवतः मगध के लोगों के राजा को हराया। मगध राजा का नाम प्राकृत में बृहस्पतिमित्र दिया गया है जिसका संस्कृत रूप बृहत्स्वातिमित्र है। खारवेल का समकालीन बृहत्स्वातिमित्र पभोसा के अभिलेखों[55] में उल्लेखित आषाढ़सेन की बहिन का पुत्र इसी नाम का राजा ज्ञात पड़ता है, और मथुरा के राजा की रानी के पिता के रूप में मोर के अभिलेख में उल्लेखित हुआ है। नन्दों और मौर्यों के समय कलिंग को नीचा दिखाने व बदला लेने हेतु खारवेल ने अंग और मगध से लूट के माल के साथ निश्चित ही जैन मूर्तियां, जिनको नन्द राजा ले गया था, वापस प्राप्त कीं। इसी वर्ष खारवेल ने सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजा को हराया।

जहां तक खारवेल के साम्राज्य का प्रश्न है, इसमें उद्र, उत्कल और कलिंग सम्मिलित थे। ये क्षेत्र उसके अधीन थे, और प्रत्येक रूप से शासित थे। उसकी राजधानी कलिंग नगर थी जिसकी पहचान मुखलिंगम या तोषली व शिशुपालगढ़ से की जा सकती है।[56]

खारवेल ने राजा के रूप में जनता के हित का सोचा, और उसके लिए बहुत सी धनराशि को खर्च किया। स्वयं कुशल संगीतकार होने के साथ, वह संगीत और नृत्य तथा त्यौहारों और समाजों का आयोजन करता था। उसने सिंचाई की नहर को विस्तृत करवाया जिसे तीन सौ वर्ष पहले नन्द राजा ने खुदवाई थी। वह एक बड़ा निर्माता भी था। एक अवसर पर कलिंग की राजधानी आंधी द्वारा नष्ट हो गई। राजा को अनेक द्वारों, दीवारों और भवनों को पुनः बनाना पड़ा, और सब उद्यानों को ठीक करवाना पड़ा। उसने महाविजय प्रासाद नाम का शानदार महल बनवाया।

खारवेल जैन धर्म का उत्साही प्रचारक था, और उसने इसके प्रचार हेतु प्रचारक भेजे। उसने कुमारी पहाड़ी पर जैन विद्वानों की सभा बुलाई और जैन धर्म के अंगों व पवित्र ग्रंथों को एक किया। उसने जैन भक्त होते हुए कुमारी पहाड़ी पर अर्हन्तों के रहने के लिए अनेक गुफाएं बनवाईं। विभिन्न दिशाओं से आने वाले प्रसिद्ध यतियों और संन्यासियों के लिए भी उसने गुफाएं बनवाईं। उसने अनेक स्तंभ और चैत्य भी खड़े किये। इसके अतिरिक्त खारवेल की पटरानी का अभिलेख जैन साधुओं के प्रयोग के लिए अर्हत के उपलक्ष्य में गुफा को समर्पित करने का उल्लेख करता है।[57]

यद्यपि खारवेल जैन था, वह अशोक के समान धर्म के मामलों में उदार था। उसकी राजकीय उपाधि सवपासंड पूजक (सब धर्मों का पुजारी) बिना किसी संदेह के सिद्ध करती

54. *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा*, पृ० 322.
55. *एपि०इण्डि०*, II, पृ० 240-44.
56. *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा*।
57. *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं० 1346.

है कि खारवेल धार्मिक उदारता के सिद्धान्त का पालन करता था। इसी प्रकार ऐसी उपाधि संवदेनायतन संकार कारक से पता चलता है कि देवताओं के सब मन्दिरों के पुनरुद्धारक की कोई आवश्यकता नहीं होती, यदि कलिंग के लोगों में ऐसे देवताओं को समर्पित मन्दिरों के पुजारी नहीं होते।

हाथीगुंफा अभिलेख के अतिरिक्त खारवेल का अन्य गुंटुपहित लेख[58] नारी शिष्या सूथननाथ द्वारा जो गुफाओं में रहती थीं, सीढ़ियों के निर्माण का उल्लेख करता है।[59] पूर्व गोदावरी जिले के गुंटुपल्लि की दूसरी सदी ई॰पू॰ की गुफाएं सिद्ध करती हैं कि चेदियों के राज्य में जैन धर्म बहुत लोकप्रिय था।

इसके अतिरिक्त अन्य लेख भी हैं जो जैन धर्म की उड़ीसा में लोकप्रियता को सिद्ध करते हैं। एक अभिलेख[60] में खारवेल के पूर्वज या उत्तराधिकारी वकदेव का नाम मिलता है। खारवेल के समान वह भी कलिंग का राजा था, और मेघवाहन कुल का था। इस अभिलेख से पता चलता है कि वह भी जैन था।

कुछ अन्य अभिलेखों[61] से जैन भक्तों के अस्तित्व का पता चलता है। एक अभिलेख[62] वधुक नाम के राजकुमार की जानकारी देता है, जो जैन धर्म का उपासक था। कुछ अभिलेख[63] संभवतः सामान्य लोगों के उपहारों का उल्लेख करते हैं। एक अभिलेख में नगर न्यायाधीश के उपहार का उल्लेख है।[64] दो[65] अभिलेख भी महत्त्वपूर्ण लोगों से सम्बन्ध रखते हैं। एक अन्य अभिलेख[66] कुसुम नाम के सेवक के दान का उल्लेख करता है।*

58. आर॰ सुब्रह्मण्यम, *खारवेल का गुंटुपल्लि, ब्राह्मी अभिलेख,* 1958.
59. हनुमंत राव, *रिलीजन इन आंध्र,* पृ॰ 142-43.
60. *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं॰ 1347.
61. वही, सं॰ 1348-53.
62. वही, सं॰ 1348.
63. वही, सं॰ 1349 और 1350.
64. वही, सं॰ 1351.
65. वही, सं॰ 1352 और 1353.
66. वही, सं॰ 1344.

* **जैन धर्म का णमोकार मंत्र** : इस मंत्र कर उल्लेख जैन साहित्य और अभिलेखों में मिलता है। इसके लेखक और तिथि के बारे में विद्वानों में मतभेद है। यह पंच नमस्कार मंत्र के नाम से भी जाना जाता है पहले इस मंत्र में अरिहन्तों और सिद्धों को नमस्कार किया है और बाद में इसमें आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार इस मंत्र की रचना महावीर स्वामी और गणधरों ने की है। अभिलेखीय दृष्टि से इसका उल्लेख खारवेल के अभिलेख दूसरी सदी ईस्वी पूर्व पहले अभिलेख (महाराष्ट्र) और मथुरा के आवाग पट्टों और मथुरा की जैन स्तूप की मूत्तियों के अभिलेखों पर पाया जाता है। साहित्य में बाद में इसका पूर्व उल्लेख पुष्पदन्त और वीर सेन ने किया है जो अनुश्रुतियों पर आधारित है।

जैन धर्म ने महाराज कुड़ेपसि और कुमार वदुख के समय में भी कलिंग में बहुत उन्नति की। वे दोनों खारवेल के उत्तराधिकारी जान पड़ते हैं, और उन्होंने मंचपुरी गुफा में क्रमशः नीचे के मंजिल का पार्श्वभाग और एक तरफ का कक्ष बनवाया।[67]

मरुण्ड

खारवेल के पश्चात् उड़ीसा का इतिहास कुछ सदियों तक अंधकारमय रहा, और इस काल में जैन धर्म की स्थिति का निर्धारण करना कठिन है। पाटलिपुत्र में भी जैन धर्म की यही स्थिति रही। ऐसा ज्ञात होता है कि मरुण्ड, उड़ीसा और पाटलिपुत्र पर राज्य कर रहे थे, और वे जैन धर्म से आकर्षित हुए। महाराज राजाधिराज धर्मधर का तीसरी सदी का सिक्का उत्खनन में शिशुपालगढ़ से प्राप्त हुआ है। ए॰एस॰ अल्तेकर[68] के अनुसार, वह संभवतः मरुण्ड कुल का राजा था जो उत्तर खारवेल युग में उड़ीसा पर शासन करता था। मरुण्ड जैन धर्म के अनुयायी कहे जाते हैं, किन्तु खारवेल के पश्चात् बौद्ध धर्म शनैः-शनैः यहां लोकप्रिय हो गया। डाथा वंश से हमें पता चलता है कि कलिंग का राजा गुहदेव (लगभग 400 ई॰पू॰) को जैन धर्मावलम्बी से बौद्ध बना लिया गया और सब निर्ग्रंथों ने कलिंग से बाहर निकलकर पाटलिपुत्र के पाण्डु के दरबार में शरण ली।

इस समय पाटलिपुत्र के मरुण्ड भी जैन धर्म से प्रभावित हुए।[69] *बृहत्कल्पवृत्ति* में पाई जाने वाली अनुश्रुति में उल्लेख मिलता है कि पाटलिपुत्र का मरुण्ड पवित्र शुद्ध जैन था। उसकी विधवा बहन ने भी उसी धर्म को अपना लिया था। *पादलिप्त प्रबंध* में कथा मिलती है कि पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के मरुण्ड को भयंकर बीमारी से कैसे ठीक किया?

तमिलदेश

भद्रबाहु के शिष्य विशाख मुनि दक्षिण में चोल और पाण्ड्य प्रदेशों में और आगे बढ़े और जैन धर्म का प्रचार किया। तमिलदेश के क्षेत्र में जैन धर्म के अस्तित्व की पुष्टि वहां से प्राप्त जैन अवशेष जैसे जैन शिलाकृत गुफाएं, कन्दराओं और तीसरी सदी ई॰पू॰ के पाषाण लेखों से होती है।[70] जैन साधुओं ने तमिलदेश में जैन धर्म के प्रचार की शुरुआत बहुत प्राचीन समय से की।

जैन धर्म का प्रभाव उत्तर से ब्राह्मण और वैदिक धर्म के प्रवेश की अपेक्षा पहले से है। यह जानकारी तमिल ग्रंथों के जैन संदर्भों से होती है। ये तमिल ग्रंथ जैसे

67. *जैन जर्नल महावीर जयंती स्पेशल*, पृ॰ 170.
68. वही.
69. मेरुतुंग का प्रबन्धचिंतामणि : मरुण्डराजा पाटलिपुत्र में रहता था, यह बताया गया है।
70. यू॰पी॰ शाह, एवं एम॰ए॰ ढाकी (संपा॰) *एस्पेक्ट्स ऑफ जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर*, पृ॰ 215.

वोल्काप्पियम, कुरल-मणिमेखलि और *शिलप्पदिकारम्* संगम युग (500 ई॰पू॰-200 ई॰) के हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार *वोल्काप्पियम* का लेखक स्वयं जैन था, *कुरल* का लेखक वस्तुवर अर्हत् का अनुयायी था। *मणिमेखलम्* का लेखक इलंगोवड़िगल और *नालदिभर* का लेखक दोनों जैन थे। *कुरल* में जैन धर्म के अनोखे संदर्भ हैं।

दक्षिण में जैन धर्म के प्रचार के लिए जैन आचार्य जैसे कुन्दकुन्द और समन्तभद्र का योगदान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द का मूलनाम पदमनंदि था किन्तु समयोपरांत यह नाम पीछे रह गया। उसके जन्म-स्थल कुन्दकुन्द के विशेष नाम से उसका व्यक्तित्व निखरा। कुन्दकुन्द की पहचान आनन्दपुर जिले के गुटी तालुक के कुनकाण्डला ग्राम से की जाती है। कुन्दकुन्द का समय ईस्वी संवत् का शुरुआत था। वह मूलसंघ के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

समन्तभद्र, जो अपने ग्रंथों के कारण, जैन धर्म का महान् विद्वान् माना जाता है, दूसरी सदी ई॰ का था। वह जैन धर्म के प्रचार हेतु स्थान-स्थान को गया और लोगों को आकर्षित किया। श्रवणबेलगोला के शक संवत् 1050 के अभिलेख[71] के अनुसार उसने पाटलिपुत्र, मालवा, सिंध और ठक्कदेश में जाकर दुन्दुभी बजाई (विरोधियों को शास्त्रार्थ में हराया) और बाद में दक्षिण में कांची और कर्नाटक लौटकर आ गया। यह कथन प्राचीन अनुश्रुतियों पर आधारित है।

मथुरा क्षेत्र (सूरसेन जनपद) (लगभग 208 ई॰पू॰-200 ई॰)

जैन अनुश्रुतियों से यह जाना जाता है कि प्राचीन सूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा में बहुत समय पहले से जैन धर्म प्रचलित था। जैसाकि सिक्कों से ज्ञात होता है, आरंभ में दूसरी सदी ई॰पू॰ में मथुरा पर मित्रों का शासन था। बाद में सीभियन राजाओं का राज्य रहा और इनके पश्चात् कुषाणों का आधिपत्य हो गया। कुषाण सम्राटों में कनिष्क निःसंदेह सबसे महान् था। वह 78 ई॰ में सत्ता में आया। वह विशाल साम्राज्य पर राज्य करता था जिसकी राजधानी पेशावर थी। उसका साम्राज्य हिन्दुकुश के किनारे पश्चिम में बिहार से खुरासान तक फैला हुआ था और उत्तर में खोतान से तेरीमकी घाटी तक और दक्षिण में कोंकण तक। वह कला और साहित्य का बड़ा पोषक था। उसके राज्य का अंत करीब 101 ई॰ में हुआ। उसका उत्तराधिकारी वासिष्क था जो संभवतः हुविष्क के साथ सम्मिलित रूप से शासन करता था। यद्यपि हुविष्क अपनी राजधानी मथुरा से राज्य करता था, उसका साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। भारत में इस समय का अंतिम महान् राजा वासुदेव था। कुषाण युग भारतीय इतिहास में विशेषकर जैन धर्म के संदर्भ में स्वर्णकाल माना जाता है। जैन कला के नमूने बौद्ध-कला और ब्राह्मण-कला

71. *जै॰शि॰ सं॰*, I, सं॰ 54 पृ॰ 102.

की अपेक्षा मथुरा में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा क्षेत्र की समृद्धि में जैनियों का बड़ा योगदान रहा है।

असिम कुमार चटर्जी के अनुसार *कल्पसूत्र* के थेरावली में उल्लेखित शाखाएँ भद्रबाहु के पश्चात् तीसरी सदी ई॰पू॰ की हैं किन्तु वास्तव में इनकी उत्पत्ति बहुत बाद में हुई। आगम साहित्य में भी इनका संकलन किया गया। उत्तर प्रदेश में मथुरा, अहिच्छत्र, आदि स्थानों से प्राप्त कुछ जैन लेखों में इन शाखाओं के नाम उल्लेखित हैं।

पार्श्व की मथुरा यात्रा की कहानी *नायाधम्मकहाओ*[72] और महावीर के *विपाकसूत्र*[73] में उल्लेखित है। जहां तक मथुरा में जैन धर्म की शुरूआत होने का प्रश्न है, हमें इसका कथन विमलसूरि की *पउमचरियम* की कथा में मिलता है। इस ग्रंथ की रचना महावीर के निर्वाण के 530 वर्ष पश्चात् हुई। इस काव्य के अनुसार मथुरा में जैन धर्म निम्न सात साधुओं[74] द्वारा शुरू किया गया। इनके नाम सुरमंत्र, श्रीमंत्र, श्रीतिलक, सर्वसुन्दर, जयमंत्र, अनितलित और जयमित्र हैं। उक्त सात साधुओं ने न केवल मथुरा में अपितु साकेत[75] में भी जैन धर्म की शुरुआत की। *पउमचरियम* से ज्ञात होता है कि साकेत नगर[76] में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का मन्दिर था। प्रत्यक्ष रूप से इस मन्दिर का निर्माण विमलसूरि के कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ। यह उत्तर भारत के प्राचीन जैन मंदिरों में एक था। जैन ऋषि साकेत से मथुरा चले गए और जैन धर्म अयोध्या से मथुरा।[77]

मथुरा में जैन धर्म का सबसे प्राचीन लेख 150 ई॰पू॰ का है। यदि पहले नहीं तो दूसरी सदी ई॰पू॰ के आरम्भ से जैन धर्म ने वहां पैर जमाना शुरू किया। जैन आगम लेखक कोसल को जैन धर्म के शुरू के जैन तीर्थंकरों का जन्मस्थान मानते हैं। सात में से कुछ जैन साधु अभिलेखों में उल्लेखित जैन भिक्षुओं के आचार्य थे।

मथुरा का सबसे प्राचीन जैन अभिलेख[78] बुहलर द्वारा दूसरी सदी ई॰पू॰ के मध्य का बताया जाता है। यही अभिलेख[79] संन्यासी महारखित के शिष्य और वची के पुत्र श्रावक उत्तरदायक द्वारा मन्दिर के तोरण (पासाड़ो तोरण) के समर्पण का उल्लेख करता है।

---

72. 156.
73. वही, 26.
74. 99, 2.
75. 99, 20.
76. 248.
77. 89.
78. *एपि॰इण्डि॰,* II, पृ॰ 195.
79. वही, XIV, *ल्यूडर्स लिस्ट* सं॰ 93.

तिथिक्रम से मथुरा का अन्य जैन अभिलेख गोपिपुत्र नाम के व्यक्ति और कौशिक गोत्र की उसकी पत्नी सिमित्रा का उल्लेख करता है।[80] इस अभिलेख में महत्त्वपूर्ण कथन उपाधि (पोडयशकालवाल उसके पति गोपिपुत्र) शकों और पोठयाओं के लिए काला सर्प को दी गई है। पोठयों के साथ शकों का भी उल्लेख है।

कुछ अन्य पूर्व कुषाण जैन अभिलेख भी मथुरा से प्राप्त हुए हैं किन्तु अधिकतर में तिथि नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख महाक्षत्रप रंजुवुल के पुत्र शक महाक्षत्रप सोड़ास का उल्लेख करता है।[81] दोनों रंजुवुल और सोड़ास का उल्लेख प्रसिद्ध मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेख तथा मोरकूप अभिलेख[82] में है जो वृष्णि वीरों का उल्लेख करता है। अन्य मथुरा का अभिलेख[83] कुछ गणिकाओं द्वारा निर्ग्रन्थों के अर्हत् का देवीकुल, आयागो सभा, प्रपा और शिलापटों को स्थापित करने का उल्लेख करता है। अन्य पूर्व कुषाण अभिलेख[84] शिवयश द्वारा पूजा के लिए आयागपट्ट की स्थापना करने का उल्लेख करता है। शिवयश को फगुयश की पत्नी बतलाया गया है। अन्य अभिलेख[85] वणिक के पुत्र सिंहनादिक और कौशिकी का उल्लेख करते हैं जिन्होंने अर्हतों की पूजा के लिए आयागपट्ट की स्थापना की।

अन्य पूर्व कुषाण अभिलेख[86] जैन साधु जयसेन और उसकी साध्वी शिष्या का उल्लेख करता है। यह इसके अतिरिक्त उस नारी द्वारा मन्दिर (प्रासाद) के उपहार का उल्लेख करता है। एक अभिलेख[87] लहस्तिनी नाम की श्राविका का उल्लेख करता है तथा साथ में तोरण द्वार के समर्पण का। यह भद्रनंदि की पत्नी और भद्रयशस् की बहू द्वारा अर्हत् की पूजा के लिए आयागपट्ट को स्थापित करने का उल्लेख करता है।[88] मथुरा के निवासी की पत्नी द्वारा अन्य आयागपट्ट को उपहार में देने का अभिलेख[89] में उल्लेख हुआ है।

---

80. वही, I, पृ० 396, सं० 33, *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं० 94.
81. वही, II, पृ० 199, सं० 2.
82. वही, XXII, पृ० 194.
83. *को०हि०जै०,* पृ० 50.
84. *एपि०इण्डि०,* II, पृ० 200 सं० 5 *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं० 100.
85. *एपि०इण्डि०,* II, पृ० 207 सं० 30, *ल्यूडर्स लिस्ट* सं० 105.
86. वही, पृ० 199, वही सं० 99.
87. वही, I, पृ० 390 सं० 6, *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं० 1028.
88. वही, II, पृ० 207 सं० 6, *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं० 103.
89. वही, II, पृ० 200 सं० 6, वही.

पूर्व कुषाण अभिलेख भगवत नेमेस[90] का भी उल्लेख करता है। नेमेस देवता जो यहां अज-मस्तक देवता के रूप में अंकित है, वह जैन आगमों का हरिणेगमेसी है। जैसाकि *कल्पसूत्र* से ज्ञात होता है कि इस देवता ने देवानन्दा की योनि से महावीर के भ्रूण को त्रिशला में बदल दिया।

मथुरा से प्राप्त अधिकतर जैन अभिलेखों में तिथि पाई जाती है। इन अभिलेखों में सबसे प्राचीन 4 वर्ष का है अर्थात् 82 ई॰ संवत का है जो महान् सम्राट् कनिष्क का है। यह जैन साधु पुष्यमित्र का उल्लेख करता है[91] और पहली बार मथुरा के जैन अभिलेखों में विशेष साधु के गण, कुल और शाखा का उल्लेख मिलता है। इन गणों, कुलों और शाखाओं की उत्पत्ति भद्रबाहु के पश्चात् हुई, जो बहुत संभव है चन्द्रगुप्त का समकालीन था। इस अभिलेख के अनुसार पुष्यमित्र नाम का साधु वारणगण, हालकिय कुल और वजनगरी शाखा का था। इस विशेष शाखा का सम्बन्ध वृत्ति देश से होना चाहिए।

कनिष्क के राज्य के 5वें वर्ष के अनेक जैन लेख प्राप्त हुए हैं। कोटिय गण और वाचक के संदर्भ भी मिलते हैं। यह मथुरा का सबसे लोकप्रिय गण है। इस क्षेत्र से प्राप्त अधिकतर गण इस विशेष गण का उल्लेख करते हैं।

देवपुत्र कनिष्क के राज्य के 5वें वर्ष का दूसरा अभिलेख[92] नारी द्वारा वर्धमान की मूर्ति के उपहार का उल्लेख करता है। इस अभिलेख में कोटिय गण, बहमदासिक कुल और उचेनागरी शाखा का उल्लेख है। उचेनागरी शाखा का नाम उचनगर दुर्ग के नाम पर पड़ा। इसी तिथि के अन्य दो लेख[93] इसी गण, कुल और शाखा का उल्लेख करते हैं। अन्य लेख[94] 7वें वर्ष का है, और महाराजाधिराज देवपाल शाही कनिष्क का उल्लेख करता है। गण जैसे कोलिय वराण की उत्पत्ति तीसरी सदी ई॰पू॰ में हुई।

9वें वर्ष का अभिलेख[95] महाराज कनिष्क का उल्लेख करता है। इसमें कोलियगण, स्थानीय कुल और वैरी शाखा के विकटा द्वारा मूर्ति को समर्पित करने का उल्लेख है। दूसरा मूर्ति अभिलेख[96] 12वें वर्ष का है जिसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार बढ़इयों

90. वही, II, पृ॰ 200 सं॰ 6, वही सं॰ 101.
91. वही, II, पृ॰ 201 सं॰ 11, वही सं॰ 16.
92. *एपि॰इण्डि॰*, I, पृ॰ 38, *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं॰ 18.
93. वही, सं॰ 19-22.
94. वही, I, पृ॰ 391, सं॰ 19, *ल्यूडर्स लिस्ट,* सं॰ 21.
95. वही, सं॰ 22.
96. वही, X, पृ॰ 110, सं॰ 4, वही, सं॰.

ने संयुक्त रूप से मूर्ति का दान दिया। अन्य 15वें वर्ष का अभिलेख[97] श्रेष्ठिन् वेनि की पत्नी कुमारमिता द्वारा भगवत् की मूर्ति सर्वतोभद्रिका द्वारा समर्पित करने का उल्लेख करता है। 18वें वर्ष का अभिलेख[98] सर्वतोभद्रिका की मूर्ति और कोलियगण और बच्चलिय कुल का उल्लेख करता है। अन्य अभिलेख[99] में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का उल्लेख मिलता है। 19वें वर्ष का मूर्ति लेख[100] तीर्थंकर शांतिनाथ का उल्लेख करता है। कोलियगण, थापिय कुल और वेरी शाखा के नाम भी पाये जाते हैं। 20वें वर्ष के दो अभिलेखों[101] में पहला वर्धमान की मूर्ति को समर्पित है तथा कोलियगण, स्थानीय कुल और वेरी शाखा का है, तथा दूसरा अभिलेख[102] कोलियगण, ब्रह्म दसिय कुल और उचेनगरी का है।

दो अभिलेख 22वें वर्ष के हैं। पहला[103] सार्थवाह की पत्नी धर्मसोमा द्वारा समर्पित करने का उल्लेख करता है। दूसरा अभिलेख[104] वर्धमान की मूर्ति को समर्पित करने का उल्लेख करता है। 25वें वर्ष का भी अभिलेख[105] है। 28वें वर्ष का अभिलेख[106] कनिष्क के उत्तराधिकारी राजा वासिष्क का उल्लेख करता है। 29वें वर्ष के दो अभिलेख हैं। पहले अभिलेख[107] में राजा हुविष्क के नाम का उल्लेख मिलता है। दूसरे में महाराज देवपुत्र हुविष्क[108] का नाम है।

30वें वर्ष का अभिलेख[109] भी है। 32वें वर्ष का अभिलेख[110] किसी गंधी का है। 35वें वर्ष का अभिलेख गंधी द्वारा वर्धमान की मूर्ति को समर्पित करने का उल्लेख करता है।

38वें वर्ष का जैन हस्ती अभिलेख[111] बड़ा रोचक है। इसमें महाराज देवपुत्र हुविष्क

97. वही, I, पृ॰ 382, सं॰ 2, वही, सं॰ 24.
98. वही, II, पृ॰ 202, सं॰ 13, वही, 25.
99. *एपि॰इंडि॰*, II, पृ॰ 202 सं॰ 14, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 26.
100. वही, I, पृ॰ 382 सं॰ 2, वही सं॰ 27.
101. वही, सं॰ 28-29.
102. वही, I, पृ॰ 383 सं॰ 4.
103. वही, I, पृ॰ 395 सं॰ 29 *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 30.
104. वही, I, पृ॰ 391 सं॰ 20 वही, सं॰ 31.
105. वही, पृ॰ 384 सं॰ 5, वही, सं॰ 32.
106. *पो॰हि॰एं॰इं॰*, पृ॰ 476.
107. *एपि॰इंडि॰*, I, पृ॰ 385 सं॰ 6, वही, सं॰ 34.
108. वही, II, पृ॰ 206 सं॰ 26, वही, सं॰ 35.
109. *ज॰यू॰हि॰सो॰*, X, भो॰ 13 सं॰ 2, वही, सं॰ 36.
110. *एपि॰इंडि॰*, II, पृ॰ 206, 203; वही, सं॰ 6.
111. *एपि॰इंडि॰*, I, पृ॰ 385, सं॰ 7, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 39.

का नाम है, और अर्हतों की पूजा के लिए श्रेष्ठिन् रुद्रदास द्वारा हस्ती नन्दिविशाल की स्थापना का उल्लेख है। 40[112], 44[113], 45[114], 46[115], 49[116], 50[117] और 52वें[118] वर्षों के जैन अभिलेखों का सम्बन्ध दान से है।

54वें वर्ष का मूर्ति अभिलेख[119] विधातुकार द्वारा सरस्वती की मूर्ति को समर्पित करने का उल्लेख करता है। 60वें वर्ष के अन्य लेख में महाराज राजाधिराज देवपुत्र हुविष्क का नाम है। यह ऋषभ की मूर्ति को समर्पित करने का उल्लेख करता है।[120] दो लेख[121] 62वें वर्ष के हैं और अन्य 74वें वर्ष का है।[122] 77वें वर्ष का एक रोचक अभिलेख[123] देविल द्वारा दधिकर्ण के मंदिर में समर्पित करने का उल्लेख करता है। 80वें वर्ष के अन्य अभिलेख में[124] महाराज वासुदेव का नाम मिलता है।

84वें वर्ष के दो अभिलेख हैं। पहले अभिलेख[125] "में महाराज राजाधिराज देवपुत्र शाही" लिखा हुआ मिलता है। यह अनेक नारियों द्वारा ऋषभ की मूर्ति की स्थापना करने का उल्लेख करता है। 84वें वर्ष का दूसरा अभिलेख[126] वर्धमान की मूर्ति का उल्लेख करता है। 86[127], 87[128], 90[129], 93वें[130] वर्ष के क्रमशः अभिलेख हैं।

---

112. *इंडि.ऐंटी.*, XXXIII, पृ. 40 सं. 20, वही, सं. 41.
113. *एपि.इंडि.*, I, पृ. 387 सं. 9, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं. 42.
114. वही, पृ. 387 सं. 10, वही, सं. 44.
115. *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं. 45.
116. *एपि.इंडि.*, IV, पृ. 244.
117. *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं. 49-51.
118. *एपि.इंडि.*, II, पृ. 203 सं. 18, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं. 53.
119. वही, I, पृ. 39, सं. 21, वही, सं. 54.
120. *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं. 54, वही, सं. 56.
121. *एपि.इंडि.*, पृ. 386 सं. 8, वही, सं. 57-58.
122. *एपि.इंडि.*, पृ. 386 सं. 8, वही, सं. 57-58.
123. *एपि.इंडि.*, X, पृ. 115, वही, सं. 59.
124. *इंडि.ऐंटी.*, XXX, पृ. 102, सं. 33, वही, सं. 63.
125. *एपि.इंडि.*, I, पृ. 393, सं. 24, वही, सं. 66.
126. *एपि.इंडि.*, XIX, पृ. 67, सं. 4.
127. *ज.ए.सो.ब.*, V, पृ. 276.
128. वही, I, पृ. 388, सं. 22, वही, सं. 70.
129. वही, II, पृ. 205, सं. 22, वही, सं. 73.
130. वही, II, पृ. 205, सं. 23, वही, सं. 74.

98वें वर्ष का अभिलेख[131] राजा वासुदेव, और दो जैन साधु क्षेत्र और देवदत्त का उल्लेख करता है। ये उदेहकियगण, परिधासिक कुल और पेतपुत्रिका शाखा के थे। वरुण नाम के किसी गंधिक का उल्लेख मिलता है। मथुरा क्षेत्र से कुछ उत्तर कुषाण काल के अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं।

प्राचीन काल के मथुरा के अभिलेख दूसरी सदी ई॰ पूर्व से जैन धर्म की अत्यन्त लोकप्रियता को सिद्ध करते हैं। विमल के *पउमचरियम* से ज्ञात होता है कि जैन साधुओं ने साकेत और मथुरा दोनों में जैन धर्म का प्रचार किया। मथुरा के इन अभिलेखों से पता चलता है कि कुलीन परिवारों के बहुत कम लोग जैन भक्त थे। मथुरा के किसी भी अभिलेख में ब्राह्मण आश्रमदाता का नाम नहीं मिलता। मथुरा के जैन अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जैन धर्म के अनुयायी सामान्य लोग थे। वे वणिक समुदाय के थे।

आर॰डी॰ बनर्जी ने एक रोचक मूर्ति का अभिलेख[132] संपादित किया है जो अहिच्छत्र के वाजनगरी शाखा और पेतवामिक कुल के साधु का उल्लेख करता है। यह लेख उनको रामनगर (यानी प्राचीन अहिच्छत्र) से प्राप्त हुआ था। हर प्रकार से यह अभिलेख यह सिद्ध करता है कि कुषाण काल में अहिच्छत्रपुर जैन धर्म के प्रभाव से अछूता नहीं था।

मथुरा में वी॰नि॰सं॰ 827 और 840 मध्य (अर्थात् 300-313 ई॰) आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में एक सभा बुलाई गई थी और ग्रंथों का संकलन किया गया था। यह आगमों की मथुरा वाचना के रूप में जानी जाती है। जैन आगमों के लेखकों को विश्वास है कि कोसल अधिकतर प्राचीन तीर्थंकरों का जन्म-स्थल रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन तीर्थंकरों के धार्मिक विश्वास की उत्पत्ति महावीर की मृत्यु की शताब्दी या दो शताब्दी पश्चात् हुआ। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों की अधिक संख्या में निर्माण की शुरुआत दूसरी सदी ई॰पू॰ से हुई। अधिकतर जैन तीर्थंकरों के निर्वाण-स्थलों का विहार मगध (बिहार) को माना गया और जन्म उत्तर प्रदेश में क्योंकि दूसरी और तीसरी सदी में जैन धर्म इन प्रदेशों में बहुत समृद्ध था।

मथुरा के अतिरिक्त पंचाल जनपद में अहिच्छत्र, वत्स में कौशाम्बी और कोसल में अयोध्या जैन धर्म के केन्द्र हो गये। न केवल अनुश्रुतियां अपितु पुरातात्त्विक और अभिलेखीय साधन स्रोत जैन धर्म की स्थिति के बारे में जानकारी देते हैं। पहली और दूसरी सदी में जैन धर्म ने उत्तर प्रदेश में बहुत उन्नति की।

पउमचरियम से जाना जाता है कि साकेत में मुनिसुव्रत का मंदिर था। साकेत का

131. *इंडि॰ऐंटी॰*, XXXIII, पृ॰ 108, सं॰ 331, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 76.
132. *एपि॰इंडि॰*, X, पृ॰ 120 सं॰ 16, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 170.

सम्बन्ध मुनिसुव्रत से था, यह *विविध तीर्थकल्प*[133] के प्रमाण से सिद्ध होता है। इस मन्दिर का निर्माण यहां बहुत पहले हुआ था।

पभोसा की गुफा जैनियों द्वारा पूज्य थी, इसकी जानकारी यहां से प्राप्त जैन मूर्तियों से होती है।[134] तीन शैलकृत कायोत्सर्ग-मुद्रा में जैन मूर्तियां हैं।[135] इसमें संदेह नहीं कि अनेक जैन साधु इस गुफा में रहते थे, और उनमें अधिकतर कौशाम्बी के निवासी थे। इस नगर से कुषाण काल के अनेक जैन पुरावशेष मिले हैं।[136] यह छठे तीर्थंकर पदम्प्रभ का जन्म-स्थल था। राजा शिवमित्र के 12वें वर्ष का अभिलेख [137] बलदास, शिवमित्र और शिवपालित नाम के साधुओं का उल्लेख करता है। *थेरावली* में भी उल्लेखित कौशाम्बिका शाखा इस क्षेत्र में जैन धर्म की शुरू में प्रत्यक्ष लोकप्रियता सिद्ध करती है।

बहुत प्राचीन समय में जैन धर्म का श्रावस्ती से भी सम्बन्ध रहा। यह तीसरे जैन तीर्थंकर संभवनाथ का जन्म स्थान कहा जाता है। *थेरावली* श्रावस्ती शाखा का भी उल्लेख करती है जिसकी उत्पत्ति इस काल में हुई। संभवनाथ के मूल मन्दिर का निर्माण संभवतः ईसा के कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ था। जब फाहियान ने इस नगर की यात्रा की थी, तो यह खण्डहर अवस्था में था। खण्डहर मन्दिर से अनेक जैन मूर्तियाँ जैसे ऋषभनाथ और महावीर की निकलीं।[138] श्रावस्ती के संभवनाथ मन्दिर का अनेक बार पुनः निर्माण हुआ, और अंत में अलाउद्दीन के समय यह नष्ट कर दिया गया जैसाकि हमें जिनप्रभ से पता चलता है। हरिषेण द्वारा 791 ई॰ में रचित *बृहत्कथाकोश* से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती दिगम्बर धर्म का बड़ा केन्द्र हो गया।

पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र (वर्तमान में उत्तर प्रदेश का बरेली जिले का रामनगर) प्राचीन जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इस स्थान से अनेक जैन मूर्तियां खोदकर निकाली गईं। अहिच्छत्र पार्श्वनाथ के नाम से पूज्य रहा और इस नगर में इस तीर्थंकर के नाम से चैत्य था। नवीं सदी का लेखक शीलांक *आचारांग वृत्ति*[139] में स्पष्टतया इस चैत्य का उल्लेख करता है। जिनप्रभसूरि ने अपने *विविध तीर्थकल्प*[140] में पार्श्वनाथ के चैत्य का भली-भांति से सुन्दर विवरण दिया है। शीर्षक द्वारा बतलाया गया है कि पार्श्व

---

133. *सिं॰जै॰सि॰*, 10, पृ॰ 86.
134. *ज॰ए॰सो॰ब॰*, 1898, पृ॰ 516.
135. *सी॰ए॰जी॰*, 21, पृ॰ 1-3.
136. *आ॰स॰इं॰ए॰ज॰रि॰*, 1913-14, पृ॰ 262.
137. *का॰हि॰जै॰*, पृ॰ 91.
138. *ज॰य॰सो॰बं॰*, 1908, पृ॰ 1102.
139. पृ॰ 18.
140. *सिं॰जै॰सि॰*, 10, पृ॰ 14.

यहां धरणीन्द्र के रूप में पूजा जाता था। जिनप्रभ[141] के अनुसार धरणीन्द्र का चैत्य पार्श्व के मूल चैत्य के समीप था। अहिच्छत्र में पार्श्व के चैत्य के अस्तित्व होने की अनुश्रुतियों का अभिलेखीय प्रमाण पूरा अनुमोदन करता है। नेमिनाथ की मूर्ति की चौकी पर कुषाणकालीन 50वें वर्ष का अंकित अभिलेख[142] पार्श्वनाथ चैत्य का उल्लेख करता है। इस स्थान से कुषाण काल के अनेक जैन अभिलेखों की खोज की गई है और इनमें से कम-से-कम एक अहिच्छत्रपुर नगर का उल्लेख करता है।[143] इस नगर के कुषाण अभिलेखों में निम्न तिथियाँ हैं – 9, 18, 31, 44 और 74. अहिच्छत्रपुर की अधिकतर जैन मूर्तियाँ मथुरा शैली की हैं। मथुरा के समान गण, कुल और शाखा के नाम हैं। सबसे अधिक सामान्य गण कोलिय है। यहां से प्राप्त मूर्तियां प्रायः नग्न हैं और वे अहिच्छत्र के दिगम्बर मन्दिर की हैं।

अहिच्छत्र के कुषाण अभिलेखों से जैन श्रावकों और साधुओं के नामों का पता चलता है। 9वें (87 ई॰), 12वें (90 ई॰) आदि वर्षों के अभिलेख बढ़इयों का उल्लेख करते हैं। इन सब प्रमाणों से अहिच्छत्र में प्राचीन काल में जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

पूर्व गुप्तकाल में काम्पिल्य का जैन धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। ए॰ कनिंघम[144] ने इस स्थान की पहचान उत्तर प्रदेश के फरुखाबाद के कम्पिल से की है। जैन आगमों[145] में पाई जाने वाली अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि पार्श्व और महावीर ने इसकी यात्रा की। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म-स्थल था। यह *भगवती*[146] और *अउपपातिक सूत्र*[147] में लिखा हुआ है। आसमित्र का "चौथा निन्हव" महावीर के निर्वाण के 220 वर्ष पश्चात् अर्थात् तीसरी सदी में हुआ जिसका सम्बन्ध इस नगर से था। जैन आगम ग्रंथ *उत्तराध्ययन*[148] किसी संजय राजा का उल्लेख करता है जो जैन धर्मावलम्बी था। इस स्थान से कुछ जैन अभिलेख निकले हैं।

ए॰ कनिंघम ने सांकास्य की पहचान उत्तर प्रदेश के फरुखाबाद के संकिस्स से की है। *कल्पसूत्र* की *थेरावली* चारण गण अर्थात् वारण गण की संवासिय शाखा का उल्लेख

---

141. वही.
142. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 13, 93.
143. *एपि॰इंडि॰*, X, पृ॰ 120, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 107 डी.
144. *सी॰ए॰जी॰*, पृ॰ 413.
145. *नाया*, 157, *अउप*, 35.
146. पृ॰ 234.
147. पृ॰ 278.
148. *सै॰बु॰ई॰*, 45, पृ॰ 80.

करती है जिसकी स्थापना इस काल में हुई थी। यह निश्चय से सांकास्य शाखा का निर्ग्रन्थ से प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध करता है।

अवंति, महाराष्ट्र और सौराष्ट्र

मौर्यों के पतन के पश्चात् भारत विदेशी आक्रमणों का शिकार हुआ। सीस्थान से सिंध और काठियावाड़ की तरफ से शकों का दूसरी सदी ई०पू० पश्चिम मालवा में शीघ्र आगमन कालकाचार्य कथानक से जाना जाता है। सौराष्ट्र काठियावाड़ में अपना प्रभुत्व जमाकर वे मालवा में प्रवेश कर सके। अनुश्रुतियों के आधार पर राजबली पाण्डे[149] का कहना है कि पहली सदी ई०पू० में अवंति में विक्रमादित्य नाम का राजा था। उसने शकों को हराया जिन्होंने पहली बार प्रथम सदी ई०पू० में भारत पर आक्रमण किया। इस घटना की स्मृति में उसने 57 ई०पू० विक्रम संवत् का नया संवत् चलाया। वह एक बड़ा विजेता था, और साथ में कला और साहित्य का आश्रयदाता था। दूसरी तरफ डी०सी० सरकार[150] विक्रमादित्य को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानता क्योंकि उसके अस्तित्व का कोई समकालीन प्रमाण नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिम क्षत्रपों के दो परिवार क्षहरात और कार्दमक कनिष्क के क्षत्रप और उसके उत्तराधिकारी के रूप में पश्चिम भारत में राज्य करते थे। इसके पश्चात् वे स्वतंत्र हो गये। क्षहरात परिवार का नहपान स्वतंत्र हो गया, और उसने कुछ प्रदेशों को जीत लिया। 124-125 ई० में वह गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा हराया गया प्रतीत होता है। कार्दमक कुल के संस्थापक चस्टन ने उज्जैन में अपनी राजधानी स्थापित की। चस्टन और उसके पौत्र रुद्रदामन् ने सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि को हराया और अनेक प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। 130-131 ई० के कुछ समय पश्चात् रुद्रदामन् चस्टन के उत्तराधिकारी के रूप में महाक्षत्रप हुआ। जूनागढ़ के 150 ई० के अभिलेख से वह शक्तिशाली शासक जान पड़ता है और वह अपनी विजयों से साम्राज्य के विस्तार का दावा करता है। इन पश्चिमी क्षत्रपों ने करीब 300 वर्षों तक राज्य किया जब तक कि उनकी शक्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पूरी तरह नष्ट नहीं कर दी गई।

जैन निबन्धों में उल्लेखित अनुश्रुतियों से हमें पता चलता है कि पहली सदी ई०पू० में जैन धर्म का सौराष्ट्र और अवंति से सम्बन्ध रहा। कालकाचार्य जैसे महान् जैन मुनि और विद्वान् इस क्षेत्र में विचरे और जैन धर्म का प्रचार किया। इस समय यह सक्रिय और जीवित धर्म था, और इसने लोगों के जीवन को प्रभावित किया। कुछ जैन साधन स्रोत[151]

149. *विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी*।

150. *एंशियंट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन*, पृ० 128-136.

151. *द पट्टावली समुच्चय*, पृ० 46, 106.

विक्रमादित्य का जैन धर्म में परिवर्तन होने का दावा करते हैं। यह कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर द्वारा उज्जैन में महाकाल के लिंग-पूजन चिह्न के तोड़ने पर उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रकट हुई जिसने विक्रमादित्य को जागृत् किया। दिगम्बर जैन पट्टावलियां[152] के अनुसार विक्रमादित्य आठ वर्ष तक बालक के समान खेला, सोलह वर्ष तक मिथ्या धर्म का अनुसरण कर यज्ञ किया, चालीस वर्ष तक पक्का जैन धर्मावलम्बी रहा और बाद में स्वर्ग को गया। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य का पूर्वज और व्यक्तिगत शैव धर्म था, लेकिन वह जैन धर्म के प्रभाव में था, और उसका उसने प्रचार भी किया। इस समय उज्जैन में अवंति सुकुमाल का मंदिर विद्यमान था।

महाराष्ट्र के पुणे जिले में पाले के समीप गुफा से प्राप्त छोटा ब्राह्मी का लेख[153] जो पहली सदी का माना जाता है, उल्लेख करता है कि किसी भदन्त इन्दरखित (इन्द्ररक्षित) ने संभवतः कुछ अन्य के साथ गुफा और होज को खुदवाया। अभिलेख के अन्त में कथन "साहा काहि सह" का अर्थ लगाना कठिन है। अभिलेख का महत्त्व इस कथन "नमो अरहंतानम" से है जिससे यह प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ "अर्हतों को नमस्कार" है और यह इसलिए मंगलाचरण माना जाता है। पश्चिम महाराष्ट्र की गुफाओं से ईसा पूर्व के अनेक अभिलेखों में ऐसा कथन नहीं मिलता। यह मंगलाचरण इस कथन में निश्चित रूप से जैन सम्बन्ध में मिलता है। यह अभिलेख पहली सदी ई॰पू॰ में महाराष्ट्र में जैन धर्म के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार 66 ई॰ में नहपान गौतमीपुत्र के हाथों भृगुकच्छ में हारकर राजगद्दी को त्यागकर भूतबलि (लगभग 66-90 ई॰) नाम का जैन साधु हो गया। यद्यपि नया दीक्षित हुआ था, वह आगमों के संकलन करने के महत्त्वपूर्ण कार्य करने को पूरा सक्षम समझा गया। वह प्रसिद्ध गुरुधर सेन द्वारा पढ़ाया गया और वह अपने अग्रज, साथी पुष्पदंत द्वारा निर्देशित किया गया। उसने *षटखंडागम* के कार्य को लगभग 75 ई॰ में पूर्ण किया।[154]

दूसरी सदी ई॰ का जूनागढ़ का जयदामन के पौत्र (दामयगदा या रुद्रसिंह प्रथम) का लेख[155] उन व्यक्तियों का उल्लेख करता है जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और जो जरामरण से मुक्त थे। यह लेख जैन मुनियों द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करने का सबसे प्राचीन संदर्भ है। यह अभिलेख गुहा में पाया गया है जिसका प्रयोग जैन साधु किया करते

152. *इण्डि॰ऐंटी॰*, XX, पृ॰ 247.

153. *एपि॰इण्डि॰*, XXXVIII, भाग, 5, पृ॰ 167-68.

154. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 112.

155. *एपि॰इण्डि॰*, XVI, पृ॰ 241, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 966.

हैं जैसा कि विशेष जैन चिह्नों स्वस्तिक, भद्रासन और मीनयुगल से जान पड़ता है। करीब इसी समय की धंक से प्राप्त गुफायें हैं, जिसमें जैन तीर्थंकर ऋषभ, पार्श्व, महावीर और अन्य की मूर्तियां हैं। गिरनार अभिलेख वास्तव में दिगम्बर आगमों के मूल लेखक दिगम्बर जैन साधु धरसेन का उल्लेख करता है। वह अनुश्रुतियों के अनुसार गिरनार की चन्द्र गुफा में रहता था जहां अभिलेख प्राप्त हुआ था।[156]

थेरावली में सौराष्ट्रीय कही जाने वाली शाखा का उल्लेख है जिसकी उत्पत्ति इस समय सुहस्तिन के शिष्य ऋषिगुप्त से हुई। गुजरात में गिरनार का 58वें वर्ष का छोटा लेख[157] पचानचन्द्र मूर्ति का उल्लेख करता है। गुजरात में धंक और बावाप्यारी गुफाओं से प्राप्त जैन अवशेष सिद्ध करते हैं कि ये स्थान ई॰ संवत् की आरंभिक शताब्दियों में जैन धर्म के प्रभाव में थे।[158] धंक से प्राप्त ऋषभ, शांति और पार्श्व की मूर्तियां आसानी से पहचानी जा सकती हैं। जूनागढ़ की बावाप्यारी गुफाओं के विशेष जैन चिह्न प्रायः ई॰ संवत् के प्रारम्भिक समय के हैं।[159]

भृगुकच्छ, जिसकी पहचान गुजरात के भड़ौच से की जाती है, ई॰ संवत् के शुरू में जैन धर्म का लोकप्रिय केन्द्र माना जाता था। 200 ई॰ में रचित *आवश्यक निर्युक्ति* में जैन श्वेताम्बर मुनिजिनदेव द्वारा दो बौद्ध भिक्षु भदन्त मित्र और कृणाल को भृगुकच्छ में हराने का उल्लेख है। इसको *आवश्यक निर्युक्ति*[160] में दुबारा भी दोहराया गया है। शकुनिका विहार और मूलवसती नाम के दो विहार भृगुकच्छ में विद्यमान थे।

सातवाहन

पौराणिक अनुश्रुतियों और सिक्कों के आधार पर आंध्र सातवाहन वंश की शुरुआत सिमुक से हुई जान पड़ती है जिसने शुंग वंश के अवशेष को नष्ट किया, और 27 ई॰पू॰ में काण्व राजा सुसर्मन को मार दिया। सिमुक सातवाहन की जानकारी सिक्कों से भी होती है। अनेक सातवाहन राजा पुराणों से जाने जाते हैं, किन्तु पुराणों की सूची के अंतिम नौ राजाओं की ऐतिहासिकता सिक्कों से सिद्ध की जाती है। सिक्कों से पता चलता है कि सातवाहन शुंगों और काण्वों के पतन के पश्चात् स्वतंत्र राजाओं के रूप में प्रसिद्धि में आये। उनकी राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) थी। नासिक के अभिलेख से जानकारी मिलती है कि

156. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 112-113.
157. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 96, *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, XVI, पृ॰ 357.
158. एच॰डी॰, संकालियानों, *आर्क्योलाजी ऑफ गुजरात*, पृ॰ 53, 166, *ज॰ए॰सो॰ब॰*, 1938, पृ॰ 427.
159. वही, पृ॰ 166.
160. 2, पृ॰ 201.

गौतमीपुत्र सातकर्णि ने क्षहरात वंश के नहपान को हराया और उसके प्रदेश को 124 ई॰ में अपने साम्राज्य में मिला लिया। गौतमीपुत्र सातकर्णि के उत्तराधिकारी श्री पुत्तुभावी ने कार्दमिक कुल के पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री से विवाह किया। वसिष्ठपुत्र पुत्तुभावी के पश्चात् अन्य प्रतिष्ठित सातवाहन राजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि (लगभग 173-202 ई॰) था। उसने पश्चिमी क्षत्रपों से कुछ खोये हुए प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर लिया। सातवाहन वंश का अंत करीब 224 ई॰ में हुआ।

जैन साहित्य में सातवाहन राजाओं के अनेक उल्लेख हैं जिन्होंने जैन धर्म को आश्रय दिया।[161] पहला सातवाहन राजा सात व सिमुक था जो सिक्कों से भी जाना जाता है। वह जैन धर्मावलम्बी बनाया गया और उसने अपनी राजधानी में अनेक मंदिर बनवाये। इस राजा के दरबार में बावन साहसी पुरुष थे जिन्होंने क्रमशः अपने नाम पर जैन मन्दिर बनवाये। जैन *आवश्यक सूत्र* में पैठन के शालिवाहन को जिनदेव के धर्मावलम्बी के रूप में उल्लेख किया गया है।[162] हरिभद्र सूरि के *आवश्यक चूर्णि* में वर्णन मिलता है कि किस प्रकार शालिवाहन ने नरवाहन से भृगुकच्छ जीता। उसने राजा को धार्मिक आयोजनों में खजाने के धन को खर्च करने के लिए उकसाया।[163] *प्रभावक चरित* के अनुसार सातवाहन ने जैन तीर्थ बनवाया जहां पादलिप्त सूरि ने ध्वज फहराया।[164] अन्य अनुश्रुति के अनुसार किसी सातवाहन राजा ने जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, जैन साधु को अपना उपदेश स्थगित करने की प्रार्थना की जिससे वह भी उपस्थित हो सके। यह उसी प्रकार की अनुश्रुति हो सकती है जिसके द्वारा सातवाहन राजा की प्रार्थना पर आचार्य कालक ने पर्यूषण पर्व के अनुसरण के दिन को स्थगित कर दिया।[165]

कालकाचार्य कथानक[166] में सातवाहन सम्बन्धी अनुश्रुतियां हैं। प्रतिष्ठान पर सातवाहनों का शासक था, और कालक नाम का साधु उनका आचार्य था। कुछ जैन ग्रंथ शालिवाहन के पुत्र शक्तिकुमार का उल्लेख करते हैं। इस राजकुमार की पहचान सातकर्णि और नागनिका के पुत्र शक्तिश्री से की जाती है जिसका उल्लेख नानाघाट अभिलेख[167] में मिलता है।

---

161. *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स,* पृ॰ 101.
162. *ज॰बो॰ब्रां॰रो॰ए॰सो॰,* X, पृ॰ 133.
163. *ज॰बि॰ओ॰रि॰सो॰,* XVI, पृ॰ 200-11.
164. *इं॰हि॰क्वा॰,* 1954, पृ॰ 43-44.
165. रिलीजन इन आंध्र, *इंडि॰ऐंटी॰,* पृ॰ 247.
166. कालकाचार्य कथानकं, *सिं॰जै॰सि॰.*
167. *सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स,* जिल्द I, पृ॰ 190, टिप्पणी.

यह बहुत रोचक लगता है कि बाद के लेखक जैसे चौदहवीं सदी के जिनप्रभसूरि[168] ने गुणगान के शब्दों में सातवाहनों का वर्णन किया है जो केवल सातवाहनों द्वारा जैन धर्म को प्रोत्साहन देने का अवशेष है।

विदेशी आक्रमण, गंधार जनपद और अन्य (अर्थात् 250 ई॰पू॰-लगभग 300 ई॰)

पूर्व इंडो-बैक्ट्रियन राजा पहले बैक्ट्रिया पर शासन करते थे किन्तु शनैः-शनैः उन्होंने पूर्व में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इनके साम्राज्य में भारत के प्रदेश भी सम्मिलित थे। शकों ने इंडो-बैक्ट्रियनों से सत्ता छीनकर 135 ई॰पू॰ में बैक्ट्रिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। बाद में उन्होंने इंडो-बैक्ट्रियन राज्य का अन्त कर प्राचीन भारत के उत्तर और पश्चिम प्रदेशों में धीरे-धीरे अपनी सत्ता बढ़ाई। इंडो-सीथियन और इंडो-पार्थियन के पश्चात् कुषाणों ने अपनी सत्ता भारत में स्थापित की। मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् अधिकतर जनपद पंजाब में बस गये, लेकिन अन्य संभवतः विदेशियों के दबाव के कारण राजस्थान और अन्य तरफ बढ़े।

ई॰ संवत् के आरम्भ में जैन धर्म ने गंधार (उत्तर-पश्चिम भारत) में प्रवेश कर लिया था। जैन साहित्यिक अनुश्रुतियां[169] तक्षशिला का सम्बन्ध ऋषभ के पुत्र बाहुबलि से जोड़ते हैं। ऋषभ साधु था, यह विश्वास किया जाता था। हमको *आवश्यक-निर्युक्ति*[170] और *आवश्यक-चूर्णि*[171] से अतिरिक्त जानकारी मिलती है कि बाहुबलि ने जवाहर धर्मचक्र की प्रतिष्ठा तक्षशिला में की। जिनप्रभसूरि के *विविध तीर्थकल्प*[172] में बाहुबलि का सम्बन्ध बताया जाता है।

बहुत प्राचीन समय से तक्षशिला का सम्बन्ध जैन धर्म से रहा। जॉन मार्शल, जिसने तक्षशिला में व्यवस्थित उत्खनन किया, का मानना है कि तक्षशिला अनेक जैन भवनों से सुसज्जित थी। इसमें संदेह नहीं कि इनमें से कुछ बहुत शानदार थे।[173] जॉन मार्शल के अनुसार सिरकेप के उत्खनन क्षेत्र के एफ और जी पंक्तियों (ब्लॉक्स) के चैत्य संभवतः जैन थे। चूंकि तक्षशिला प्राचीन भारत के महान् नगरों में से एक है, यह स्वाभाविक है कि जैनियों ने अपना प्रभाव इस नगर में भी फैलाया होगा। तक्षशिला का तरुष्कों के

168. *ज॰बो॰ब्रां॰रो॰ए॰सो॰*, X, पृ॰ 132.
169. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, 1914-15, पृ॰ 39.
170. पृ॰ 322.
171. पृ॰ 180.
172. *सिं॰जै॰सि॰*, पृ॰ 27.
173. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, 1914-15, पृ॰ 2.

भयंकर आक्रमणों द्वारा नष्ट होने पर शान्ति और समृद्धि को पुनः स्थापित करने हेतु तीसरी सदी के लेखक मनदेव ने *शांति स्तवन* लिखा। इसकी पुष्टि पुरातात्त्विक खोजों से भी होती है।[174]

प्राचीन नगर कापिशी की पहचान ए॰ कनिंघम[175] द्वारा अफगनिस्तान के ओनियन से की जाती है। यहां जैनियों की संख्या अधिक मानी जाती है। प्राचीन समय से सिंहपुर अन्य जैन केन्द्र था। स्टेन[176] और ए॰ कनिंघम[177] द्वारा इसकी पहचान साल्टरेंज (पंजाब, पाकिस्तान) में आधुनिक केटास से की जाती है। आगम ग्रंथों से मिली अनुश्रुतियों के अनुसार सीहपुर (सिंहपुर) ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांस का जन्म-स्थल था।

स्टेन ने सिंहपुर से अनेक पुरावशेषों को खोज निकाला है। इस विद्वान् का मत है कि सिंहपुर की मूर्तियां एलोरा और अंकाई की अपेक्षा सुन्दर हैं। इस स्थान पर उसके आगमन के समय यह जैनियों का तीर्थ माना जाता था।[178] सातवीं सदी का *वरांग चरित*[179] (ए॰एन॰ उपाध्ये द्वारा संपादित) सिंहपुर को श्रेयांस का तीर्थ मानता है।

जैन धर्म का इस समय तक प्रचार पंजाब तक हो चुका था। इसकी अप्रत्यक्ष जानकारी *थेरावली* से होती है जो औदंबर शाखा का उल्लेख करती है। इसकी उत्पत्ति इस समय रोहण से हुई। इस औदम्बर शाखा का सम्बन्ध पंजाब के प्रसिद्ध औदम्बर जनपद से था।

जैन संघ की मध्यमिका शाखा का उल्लेख *कल्पसूत्र*[180] की स्थिरावली में हुआ है, यह इस स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई। सुस्थित सुप्रतिबुध के द्वितीय शिष्यप्रिय ग्रन्थ ने इस शाखा की स्थापना संभवतः दूसरी सदी ई॰पू॰ मानी है। दूसरी सदी ई॰ की मध्यमिका शाखा को उल्लेखित करता हुआ कुषाण अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुआ है।[181] इससे पता चलता है कि मध्यमिका के श्रावक बसने के लिए मथुरा चले गये हों। तीसरी व दूसरी सदी ई॰पू॰ का अभिलेख मध्यमिका अर्थात् आधुनिक नगरी (चित्तौड़ के समीप) से प्राप्त

---

174. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 149.
175. *सी॰ए॰जी॰*, पृ॰ 21, 671.
176. *वियना ओरियंटल जर्नल*।
177. *सी॰ए॰जी॰*, पृ॰ 142.
178. वही.
179. *वियना ओरियंटल जर्नल*, पृ॰ 80.
180. संपा. ए॰ एन॰ उपाध्ये, 27-82.
181. *एपि॰इंण्डि॰*, 2, पृ॰ 205.

हुआ। इसका अर्थ है – "जब जीवों की भलाई के लिए निर्मित"।[182] यह लेख जैनियों या बौद्धों का हो सकता है।

गुप्त (लगभग 300 ई॰ – लगभग 500 ई॰)

गुप्त राजाओं में चन्द्रगुप्त प्रथम (लगभग 311-50 ई॰) शक्तिशाली राजा था क्योंकि उसने साम्राज्यवादी "महाराजाधिराज" की उपाधि धारण की। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने स्वर्ण के सिक्के चलाये। उसने लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों से साम्राज्यवादी सत्ता प्राप्त की। चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र समुद्रगुप्त (लगभग 350-70 ई॰) एक बड़ा विजेता था। उसका प्रभाव दक्षिण-पूर्वी सामुद्रिक किनारों के राजाओं पर था, तथा उत्तर-पश्चिमी में सीमांत के परे राजाओं पर भी उसका प्रभाव था। समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (लगभग 376-414 ई॰) ने शकों को हराकर गुजरात और काठियावाड़ को मिलाकर अपने साम्राज्य की अतिरिक्त सीमायें बढ़ाईं। चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र कुमारगुप्त प्रथम (लगभग 415-50 ई॰) था। उसने अपनी नूतन विजयों से साम्राज्य बढ़ाया। कुमारगुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त (455-67 ई॰) सैनिक आकांक्षाओं का था। उसके समय में हूणों का भीषण आक्रमण हुआ, तथा भयंकर युद्ध हुआ। वह शत्रुओं को खदेड़ने में सफल हुआ। स्कन्दगुप्त के पश्चात् शीघ्र ही साम्राज्य का पतन शुरू हुआ। बुद्धगुप्त (लगभग 495-500 ई॰) के समय साम्राज्य का पश्चिम भाग निकल गया। उसके पश्चात् यह बिहार, बंगाल और उड़ीसा के कुछ हिस्सों तक सीमित रहा, और अंत में 543 ई॰ तक वह लुप्त हो गया। हूण शक्तिशाली हो गये और तोरमाण और मिहिरकुल के नेतृत्व में उन्होंने भारत पर आक्रमण किया। उत्तर गुप्तों (लगभग 500 ई॰ लगभग 605 ई॰) ने साम्राज्यवादी गुप्तों के पश्चात् राज्य किया। रामगुप्त स्थानीय सिक्कों को चलाने वाला ज्ञात होता है और उसको "महाराजाधिराज" की उपाधि का एक लेख विदिशा से प्राप्त हुआ है। कुछ विद्वान् इसे साम्राज्यवादी गुप्त-वंश का राजा मानते हैं जबकि अन्य पांचवीं सदी में विदिशा पर शासन करने वाला एक स्थानीय शासक मानते हैं।

राजाश्रय के अभाव में जैन धर्म गुप्त काल में उत्तर भारत में इतना उन्नत नहीं रह पाया। इसकी और ज्यादा संपुष्टि चीनी यात्री फाहियान के विवरण में जैन धर्म के संदर्भ के अभाव से होती है। कुछ उल्लेखों से जैन धर्म की निरन्तरता का पता चलता है। कुछ अभिलेखों से जैन धर्म की जानकारी होती है। साहित्यिक प्रमाण जैन धर्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

यद्यपि गुप्त राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, वे जैन धर्म के प्रति उदार थे। कुमारगुप्त

---

182. *उ॰रा॰इ॰*, पृ॰ 54.

के राज्य के उदयगिरि का 425-26 ई॰ का लेख[183] साधु गोशर्मन् के शिष्य शंकर तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख करता है। गोशर्मन् आचार्य भद्र का आभूषण था। यह अभिलेख गुफा के अन्दर मिला जो गुप्त काल का एक जैन मन्दिर हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विदिशा के आसपास का क्षेत्र जैन धर्म का केन्द्र था। मध्य प्रदेश के कुछ स्थलों पर गुप्त काल के अवशेष प्राप्त हुए हैं। नछन के समीप सिर पहाड़ी पर गुप्त काल की जैन मूर्तियों का समूह मिला है। ग्वालियर में दो शैलकृत अध्युच्चित्र एक तीर्थंकर ध्यानस्थ कायोत्सर्ग-मुद्रा में और अन्य ध्यानस्थ पद्मासन-मुद्रा में प्राप्त हुए हैं।[184]

कुमारपाल के राज्य का मथुरा के 433 ई॰ के अभिलेख[185] से कोलिय गण और विद्याधरी शाखा के दतिलाचार्य के आदेश से भट्टिभव की पुत्री और मल्हार ग्रहमित्र पिलत् की पत्नी सामाढ्या द्वारा मूर्ति की स्थापना का पता चलता है। इस साधु के शिष्य सामाढ्या ने गुरु के आदेश से प्रतिमा बनवाई। *कल्पसूत्र* की *थेरावली* में जो विद्याधरी शाखा का उल्लेख है, वह विज्जाहरी है। 299वें वर्ष का मथुरा के अज्ञात संवत् का लेख[186] ओखा, सिरिक और शिवादिना द्वारा महावीर की मूर्ति और देवकुल के निर्माण का उल्लेख करता है।

स्कंदगुप्त के राज्य का 461 ई॰ का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेख गोरखपुर से 69 कि॰मी॰ दूरी पर कहुम से प्राप्त हुआ। यह स्थान ककुभ जाना जाता था। इस अभिलेख से यह जाना जाता है कि भद्र नाम के व्यक्ति ने, जो अपना वंश किसी सोमिल से खोजता है जो द्विज, गुरु और यति के प्रति बराबर आदर रखता है, पांच अदिकृत्रि तीर्थंकरों (संभवतः आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व और महावीर) का पाषाण स्तंभ स्थापित किया।[187] यह अभिलेख दिगम्बर जैनियों का प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस अभिलेख के समीप जैन मन्दिरों और चैत्यों के अवशेष हैं।

महत्त्वपूर्ण जैन गुप्त अभिलेखों में गुप्त संवत् 159वें वर्ष का पहाड़पुर (बंगलादेश) का ताम्र-पत्र लेख[188] भी है। यह वट गोहाली में विहार को अर्हतों की पूजा के लिए धर्मदान का उल्लेख करता है। इसकी अध्यक्षता बनारस के पंचस्तूपनिकाय के निर्ग्रन्थ आचार्य गुहनंदिन के शिष्य करते थे। वट गोहाली की पहचान गोआल्भिटा से की जा सकती है।

---

183. *का॰इं॰इं॰*, सं॰ 61.
184. *जैन आर्ट आर्किटेक्चर*, पृ॰ 129-131.
185. *एपि॰इंडि॰*, II, सं॰ 14, *का॰इं॰इं॰*, III, पृ॰ 258.
186. *ज॰ए॰सो॰बं॰*, 1896, 578, *ल्यूडर्स लिस्ट*, सं॰ 78.
187. *इंण्डि॰ऐंटी॰*, पृ॰ 125-27.
188. *एपि॰इंडि॰*, XX, पृ॰ 59-61.

यह अनुदान उल्लेख करता है कि ब्राह्मण और उसकी पत्नी ने तीन दीनार नगर सभा में जमा किए। इससे उसको नागिरत्त मंडल, दक्षिणामंशक में विभिन्न चार गांवों की एक कुलवाप और चार द्रोणवाप भूमि प्राप्त हुई जिनसे पूजा के लिए चन्दन, धूप, फूल, दीपक, आदि का खर्चा चलाया जाता था। वट गोहाली का जैन विहार पहाड़पुर के आधुनिक मंदिर का मौलिक स्थान हो सकता है। ब्राह्मण पति-पत्नी द्वारा विहार को अनुदान लोगों की धार्मिक उदारता का बोध कराता है।

राजगृह के सोन भंडार गुफा के समीप एक गुप्त अभिलेख[189] जैन मुनि वैरदेव का उल्लेख करता है और उसकी उपाधि आचार्य रत्न है। अभिलेख के समीप एक छोटी नग्न जैन मूर्ति शैलकृत है। नेमिनाथ की मूर्ति पर अन्य खंडित गुप्तकालीन लेख[190] गुप्तकाल के राजगृह से प्राप्त हुआ। यह अभिलेख महाराजाधिराज चन्द्र का उल्लेख करता है जो चन्द्रगुप्त प्रथम या चन्द्रगुप्त द्वितीय का हो सकता है। नेमिनाथ की काले बैसाल्ट की मूर्ति गुप्तकाल की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियों में से एक है। अहिच्छत्र के अंकित स्तंभ पर गुप्त अभिलेख[191] आचार्य इन्द्रनंदिन और पार्श्व के मन्दिर का भी उल्लेख करता है।

चौथी और पांचवीं सदी की जैन तीर्थंकरों की तीन पाषाण मूर्तियां विदिशा से प्राप्त हुईं। इन मूर्तियों के अभिलेखों[192] से यह पता चलता है कि जैन आचार्य सर्प्पसेन क्षमण के शिष्य चेलुक्षमण के उपदेशों से महाराजाधिराज रामगुप्त ने इनको बनवाया। आचार्य सर्प्पसेन क्षमण जैन आचार्य क्षमाचार्य का शिष्य था। ऐसा ज्ञात होता है कि विदिशा का स्थानीय शासक जैन धर्मावलम्बी था जिसने जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा की।

778 ई॰ में उद्योतन सूरि द्वारा रचित *कुवलयमाला* के प्रमाण[193] से पता चलता है कि राजा तोरमाण उत्तरापथ में चन्द्रभागा (चिनाब) के किनारे स्थित पव्वेया नगर में शासन करता था। वह गुप्त कुल में "जन्मा" हरिगुप्त का शिष्य था। हमें यह भी पता चलता है कि इस नगर को अनेक विद्वानों को पैदा करने का भी गर्व है जो प्रत्यक्ष में जैन साधु थे। इस नगर की ठीक पहचान नहीं की जा सकती किन्तु यह निश्चित ही पंजाब में था। हरिगुप्त को गुप्त कुल की संतान बताया जाता है। इस हरिगुप्त को महाकवि देवगुप्त का गुरु बतलाया जाता है। इसका उल्लेख *महानिशीथ*[194] में भी किया जाता है। *महानिशीथ*[195]

189. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, 1905-06, पृ॰ 98, टिप्पणी.
190. वही, 1925-26, पृ॰ 125.
191. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, I, पृ॰ 263.
192. *ज॰ओ॰इं॰ब॰*, XVIII, पृ॰ 247.
193. ए.एन. उपाध्ये द्वारा संपादित।
194. जे॰सी॰ जैन, *प्राकृत साहित्य का इतिहास*, पृ॰ 147.
195. वही.

में रविगुप्त का नाम भी मिलता है जिसको पांचवीं सदी में रखा जा सकता है। *दश वैकालिक चूर्णि* के लेखक अगस्थ्यसिंह का गुरु ऋषिगुप्त था[196] जो कोलिय गण और वेरसामि शाखा के थे।[197] तोरमाण की राजधानी पव्वैया गुप्तकाल में जैन धर्म का बड़ा केन्द्र थी। *कुवलयमाला* में उल्लेख मिलता है कि देवगुप्त का पट्टशिष्य यज्ञदत्त था जो करीब 600 ई॰ में हुआ। उसने गुर्जर देश को अनेक जैन मन्दिरों से सजाया।

गुजरात गुप्तकाल में जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। नागार्जुन की अध्यक्षता में ग्रन्थों के संकलन हेतु बलभी में चौथी शताब्दी में पहली सभा बुलाई गई। अंत में बलभी सभा देवर्धि गणि क्षमाश्रवण की अध्यक्षता में वी॰ नि॰ सं॰ 980-513 ई॰ में मिली और जैन आगम ग्रन्थ रूप में लिखा गया। यह आगमों का बलभी वाचना कहा जाता है। राजकीय आश्रयदाता के अभाव में भी जैन धर्म गुजरात में लगातार उन्नति करता रहा। जैसलमेर भंडार से प्राप्त जिनभद्र गणि का प्राचीन ग्रन्थ *विशेषावश्यक भाष्य*[198] सूचित करता है कि इस ग्रंथ की रचना 609 ई॰ में शिलादित्य के राज्य में बलभी में हुई।

अन्य प्रमाणों से पता चलता है कि मैत्रक बलभी राजाओं के राज्य में जैन धर्म उन्नत अवस्था में था। बलभी के प्राचीन अवशेषों में अभी कुछ मूर्तियां[199] प्राप्त हुईं जो छठी सदी की मानी जाती हैं। ऐसा बताया जाता है कि[200] आकोटा (गुजरात) की छठी सदी की मूर्ति पर अंकित जिनभद्र वाचनाचार्य की पहचान संभवतः बलभी के निवासी और प्रसिद्ध जैन विद्वान् जिन भद्रगणि से की जाती है। *विविध तीर्थकल्प*[201] में इस बात का उल्लेख है कि 787 ई॰ में मुसलमानों के ध्वंस के पहले बलभी में चन्द्रप्रभु का चैत्य था।

गुप्तकाल के जैनेतर ग्रन्थों में जैनियों के बार-बार उल्लेख मिलते हैं। भास,[202] सुबन्धु,[203] और बाण[204] अनेक जैनियों के उल्लेख करते हैं। सुबन्धु की *वासवदत्ता* से ज्ञात होता है कि दिगम्बर जैन हिन्दू दर्शन के कठोर विरोधी माने जाते थे। बाण *कादम्बरी* में

---

196. पद : 2.
197. पुण्य विजय, *बृहत्कल्प सूत्र*, जिल्द VI, भूमिका.
198. *जैन साहित्य का वृहद् इतिहास*, जिल्द III, पृ॰ 130
पुरातन जैन वाक्य सूची, भूमिका, पृ॰ 145.
199. *जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर*, I, पृ॰ 135.
200. वही, I, पृ॰ 138.
201. *सिं॰जै॰सि॰*, X, पृ॰ 129.
202. *अविमरकम* 5वां एक्ट.
203. *वासवदत्ता*, पृ॰ 157, 174 आदि.
204. *कादम्बरी*, पृ॰ 160.

जैनियों की उदारता के कारण जैन उनकी खुलेआम प्रशंसा करता है। *भागवत*,[205] *ब्रह्माण्ड*[206] आदि में जैनियों के उल्लेख हैं। वराहमिहिर *बृहत्संहिता*[207] में जैन मूर्ति के निर्माण की पद्धति का उल्लेख है। *वसुदेवहिंडी* निश्चित रूप से गुप्तकाल की कृति है[208]। दण्डी *दशकुमारचरित* में जैन धर्म का भी उल्लेख करता है।

उत्तर गुप्तकाल

उत्तर गुप्तकाल में जैन लेखों की कमी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्म का अस्तित्व निरन्तर रहा किन्तु उन्नति आगे नहीं हो सकी। चीनी यात्री युवान च्वांग, जो भारत में सातवीं सदी के दूसरे चरण में आया था, बौद्ध धर्म के साथ जैन धर्म का भी विवरण देता है। जैन धर्म देश के विभिन्न भागों में समूहों (पाकेट्स) के रूप में विद्यमान था। गुजरात के कुछ राजा लोग जैन धर्म के अनुयायी थे।

युवान च्वांग का वर्णन

सातवीं सदी के दूसरे पद में युवान च्वांग की यात्रा विवरण से यह स्पष्ट है कि जैन धर्म विभिन्न स्थानों जैसे कापिशी,[209] सिंहपुर,[210] राजगृह,[211] पुंड्रवर्धन[212] और समतल[213] में प्रचलित था। चीनी यात्री के विवरण से ज्ञात होता है कि भारत में उसके समय दिगम्बर जैन श्वेताम्बरों से अधिक लोकप्रिय थे। सिंहपुर के विवरण के कथन के सम्बन्ध में ही केवल हमको श्वेताम्बर का उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि युवान च्वांग की यात्रा के समय सिंहपुर में विशाल जैन मन्दिरों का समूह था। उसकी यात्रा के समय राजगृह जैन धर्म का बड़ा केन्द्र था। विपुल गिरि पर उसने दिगम्बरों को लगातार तपस्या करते हुए देखा। युवान च्वांग के विवरण से प्राचीन बंगाल के दो प्रांत पुंड्रवर्धन और समतल में जैन धर्म की लोकप्रियता दिखती है। दोनों स्थानों में यात्री ने अनेक दिगम्बरों को देखा। सातवीं सदी[214] में युवान च्वांग[215] ने कौशाम्बी के समीप पभोसा की यात्रा की। युवान

---

205. 5 अध्याय 4.
206. पृ० 87, *भविष्य* 1-43, 36.
207. 57, 45.
208. *जैन प्राकृत साहित्य का इतिहास*, पृ० 38.
209. वाटर्स, *ऑन युवान च्वांगस ट्रेवल्स इन इंडिया*, I, पृ० 123.
210. वही, I, पृ० 251.
211. वही, II, पृ० 154.
212. वही, II, पृ० 184.
213. वही, II, पृ० 187.
214. वही, I, पृ० 371.
215. वही, II, पृ० 224, 226, 228.

च्वांग[216] ने भारत के चोल द्रविड़ और मो-लो-कुन्ट (मलकुट) नाम के तीन दक्षिण के राज्यों में अनेक दिगम्बरों और चैत्यों को देखा। युवान च्वांग की यात्रा के समय (629-45 ई॰) पाटलिपुत्र और वैशाली नगर खंडहर अवस्था में थे। निर्ग्रन्थों के अनुयायी अनेक थे।[217] युवान च्वांग ने आरा के समीप मसई ग्राम की यात्रा की। उसने इस स्थान को महसोलो नाम से अपने विवरण में उल्लेख किया है। उसे यहां पार्श्वनाथ का मन्दिर और आठ जैन मूर्तियां देखने को मिलीं।[218]

सोनगिरि (दतिया जिला, मध्य प्रदेश) के प्रसिद्ध जैन मन्दिर समूह से सातवीं सदी का एक जैन अभिलेख मिला है[219] जो इस जैन केन्द्र की प्राचीनता सिद्ध करता है। यह वदाक नामक जैन धर्मावलम्बी का उल्लेख करता है जो सिंहदेव का पुत्र था।

इस समय उज्जैन के आसपास जैन धर्म की उन्नति होनी शुरू हुई। मूल संघ की पट्टावलियों[220] के अनुसार पहले छब्बीस भट्टारकों की पीठ भद्दलपुर थी। चार पट्टावलियों[221] के अनुसार भद्दलपुर मालवा में स्थित था जबकि पांचवीं पट्टावली पहले वाली पट्टावलियों की अपेक्षा ठीक बतलाती है कि यह दक्षिण में था। इसकी पहचान एलोरा के समीप स्थित भद्रिका व भद्रावती से करना ठीक प्रतीत होता है। इसके पश्चात् सत्ताईस भट्टारक अपनी गद्दी भद्दलपुर से उज्जैन ले गए जैसाकि सब पट्टावलियों से ज्ञात होता है। तिरेपनवें भट्टारक भागचन्द्र द्वितीय अपनी गद्दी 1083 ई॰ में राजस्थान के कोटा जिला में बांरा ले गए। उज्जैन से सरस्वतीगच्छ और बलात्कार गण की उत्पत्ति हुई[222] और उनका मूलसंघ के साथ उल्लेख हुआ। इस प्रकार जैन धर्म का उत्थान उज्जैन के भट्टारकों के प्रयत्नों से हुआ जान पड़ता है। सिंहनन्दि भी मालवा का संभवतः भट्टारक था।[223]

उज्जैन जैन धर्म का इतना बड़ा केन्द्र हो गया कि लोग इसके प्राचीन नाम विशाला से वैशाली जानने लगे। जैन विद्वान् महावीर के जीवन की घटनाओं का सम्बन्ध उज्जैन से बतलाने लगे। वर्धमान के नाम पर वर्धमानपुर आधुनिक बदनावर की स्थापना की गई।

सिरोही जिले के वसंतगढ़ के जैन मन्दिर में पीतल की ऋषभदेव की युगल मूर्ति

216. वही.
217. बी॰के॰ तिवारी, *हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म इन बिहार*, पृ॰ 161-62.
218. पी॰सी॰ राय, चौधरी, *जैनिज्म इन बिहार*, पृ॰ 80.
219. *जै॰शि॰, सं॰* V, सं॰ 5, *इंडियन एपिग्राफी एन्युअल रिपोर्ट*, 1962-63, पृ॰ 381.
220. *पी॰रि॰*, 1883-84, *इंडि॰ऐ॰टी॰*, XX, XXI, पृ॰ 58.
221. *जै॰सा॰इ॰*, पृ॰ 391.
222. वही, पृ॰ 371.
223. वही.

जमीन के नीचे से प्राप्त हुई जिस पर 687 ई॰ का एक लेख अंकित है।[224] इस अभिलेख में उल्लेख है कि द्रोणोरक यशोदेव ने शिल्पी शिवनाग से जैन मूर्ति बनवाई। अभी तक राजस्थान से प्राप्त जैन मूर्तियों में यह सबसे प्राचीन है।

इस समय के उड़ीसा से अनेक जैन लेख प्राप्त हुए हैं। इन सबमें प्राचीन सातवीं सदी का शैलोद्भव का अभिलेख है। वह अभिलेख[225] जैन मुनि प्रभुचन्द्र और उसके आचार्य अरहदाचार्य नासिचन्द्र का उल्लेख करता है। इससे जैन धर्म का उड़ीसा में सातवीं सदी में अस्तित्व होने का पता चलता है। सातवीं सदी का अन्य अभिलेख[226] रत्नगिरि की पहाड़ियों (कटक जिला) से प्राप्त हुआ है। यह जैन अभिलेख है और जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा का उल्लेख करता है। इन पहाड़ियों पर इतनी प्राचीन जैन बसावट का पता चलता है।

जैन धर्म की गुजरात में उत्तर गुप्तकाल में उन्नति हुई। विशालनगरी वलभी जैन धर्म का बड़ा केन्द्र हो गया। यह नगर अपने प्रसिद्ध चैत्य चन्द्रप्रभ के कारण प्रसिद्ध था। यहां पर महावीर का प्रसिद्ध मंदिर भी था। गुजरात का जैन धर्म से सम्बन्धित अन्य नगर भृगुकच्छ था। पश्चिम भारत के प्रसिद्ध जैन चैत्यों में इस नगर का शकुन विहार सबसे अधिक प्रसिद्ध था। अनेक जैन ग्रंथ[227] इस विहार का उल्लेख करते हैं जिसका निर्माण प्रत्यक्षतः गुप्त काल में हुआ। *व्यवहार भाष्य*[228] भृगुकच्छ को जैनियों के तीर्थ के रूप में उल्लेख करता है।

गुजरात के चाप जैन धर्म के वास्तविक आश्रयदाता थे। जैन लेखकों के अनुसार पंचासर का वनराज इस वंश का सबसे पहला राजकुमार था, और उसने अणहिलपुर नगर की स्थापना की। वनराज का आचार्य शीतगुण सूरि था जिसने उसको 746 ई॰ में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में सहायता की। वह जैन धर्म का आश्रयदाता था, और उसके राज्य में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। शीलगुण सूरि के कहने पर उसने पंचासर का मन्दिर बनवाया जिसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[229] उसने मरुधर देश के श्रीमाल तथा अन्य स्थानों के जैन वणिकों को पाट्टण में बसने हेतु आमंत्रित किया,

224. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*, सं॰ 365.
225. *एपि॰इण्डि॰*, XXIX, पृ॰ 38.
226. *इं॰आ॰रि॰*, 1954-55, पृ॰ 29, *ए॰रि॰इं॰ए॰*, 1954-55, सं॰ 448.
227. *जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,* VI, पृ॰ 131, 363, 438.
228. वही, पृ॰ 219.
229. *प्रबंध चिंतामणि,* पृ॰ 12, *पुरातन प्रबंध संग्रह,* पृ॰ 12.

तथा उन्हें अनेक सुविधाएँ दीं।[230] इस वंश का अन्य राजा व्याघ्रमुख था जो 628 ई० में शासन करता था।

जैन धर्म का आठवीं सदी में राजस्थान में प्रचार महान् जैन विद्वान हरिभद्र के प्रयत्नों से हुआ, जो चित्तौड़ के राजा जितरि का पुरोहित था। अपने ग्रंथ *समरैच्चकटटा*[231] में वह जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश डालता है। इससे पता चलता है कि किसी मंत्री ने अपने पुत्र सिखिन् के दीक्षा समारोह के उपलक्ष्य में लोगों में उपहारों को बांटा और जैन मन्दिर में जश्न मनाया गया। जब दीक्षा का निश्चित दिन आया तो उसे बड़ी शान से पालकी में ले जाया गया। इस समय जैन धर्म और बौद्ध धर्म में बहुत कटुता थी। हरिभद्र सूरि आठवीं सदी में रचित *धूर्ताख्यान* का लेखक था।[232] वीरसेन ने एलाचार्य से चित्तौड़ में *षट्खंडागम* और *कषायआभृत* सीखा, और इसके पश्चात् उसने *धवला* और *जय धवला* का अंश दक्षिण में नवीं सदी में लिखा।[233]

छठी और सातवीं सदी में पत्थर घाटी की गुफायें जैन साधुओं के निवास-स्थल थे। इनमें सातवीं और आठवीं सदी के चित्र हैं जो चौरासी मुनि के नाम से पुकारे जाते हैं।[234] हजारीबाग जिले में कुलुह पहाड़ी पर शैलकृत मूर्तियां हैं और आकाश लोचन पहाड़ी के शिखर पर शैलकृत जैन तीर्थंकरों के युगल चरण-चिह्न हैं। पहाड़ी से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कुछ खंडहर करीब सातवीं और आठवीं सदी के हैं।[235] कुछ प्रमाणों से सिद्ध होता है कि *पद्मपुराण* का लेखक जिनसेन भद्रिपुर (भंडिल), पाटलिपुत्र और चंपा में ही रहा था।[236] छठी से नवीं सदी ई० के प्राचीन पुरावशेष बिहार में बक्सर के चौसा ग्राम के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। इन पुरावशेषों में 20 जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां – नेमिनाथ, ऋषभनाथ, आदि की मूर्तियां और धर्मचक्र शामिल हैं। ये अवशेष पटना संग्रहालय में रखे हुए हैं।[237]

मुस्लिम यात्रियों द्वारा पश्चिम भारत में जैन धर्म का उल्लेख

जैन धर्म के बारे में कुछ सूचना मुस्लिम यात्रियों के आठवीं-नवीं सदी के विवरण से

230. *प्रबंध चिंतामणि, वनराज प्रबंध,* पृ० 15.
231. *समरैच्चकट्टा,* भूमिका, पृ० 43, ग्रंथ, पृ० 187-88.
232. *सिं०जै०सि०,* XX.
233. *जै०ग्रं०प्र०सं०,* पृ० 90 इंट्रोडक्शन.
234. बी०के० तिवारी, *जैनिज्म इन बिहार,* पृ० 168.
235. वही, पृ० 169.
236. वही.
237. राय चौधरी, *जैनिज्म इन बिहार,* पृ० 80.

मिलती है। अभाग्यवश, वे जागरूक प्रेक्षक नहीं थे, और संभ्रांति से ग्रस्त थे। उन्होंने प्रत्येक मूर्ति, मन्दिर और साधु को बौद्ध धर्म का बतलाया जो वास्तव में ठीक नहीं था। उनमें बुद्ध की मूर्ति इतनी लोकप्रिय हो गई कि सूर्य का मन्दिर भी बिलादुरी द्वारा बुद्ध का माना जाने लगा।[238] यहां तक कि यूरोपीय विद्वान् जिन्होंने इन ग्रंथों का अनुवाद किया, जैन धर्म और बौद्ध धर्म में अन्तर नहीं कर सके।

अबुजैदुल लिखता है,

> भारत में ऐसे लोग हैं जो जंगलों और पहाड़ों में भ्रमण करते हैं और शेष मानवता से कम सम्बन्ध रखते हैं। कभी-कभी उनके पास खाने को कुछ नहीं रहता। केवल वन के कन्दमूल और फल खाते हैं। इनमें से कुछ नग्न चलते हैं तथा अन्य सूर्य की तरफ मुंह करके नग्न खड़े होते हैं। वे चीते की खाल को छोड़कर कुछ नहीं पहनते। जैसा मैने वर्णन किया, मेरी यात्रा में मैंने उनको उसी स्थिति में देखा। जब सोलह वर्ष पश्चात् अपने देश को लौटा तो मैंने उन्हें वैसी स्थिति में पाया। एक तथ्य जिसने मुझे सर्वाधिक आश्चर्यचकित किया वह यह था कि वह सूर्य की गर्मी से पिघला नही।[239]

नग्नता का मत प्रायः जैनियों में पाया जाता है यद्यपि हिन्दुओं में यह अज्ञात् नहीं था। बहुत संभव है कि इनमें कुछ जैनी भी हों।

तेरहवीं सदी का लेखक असरल बिलाद यात्री नहीं था किन्तु उसने प्राचीन यात्रियों के विवरणों को अपने ग्रंथ में संकलन किया है। वह अजिबुल्दान के लेखक मिलोरबिन मुहलहिल से सूचना ग्रहण कर लिखता है कि सिंधु के समीप सैमूर नगर में काफिर रहते थे जो पशुओं का वध नहीं करते थे और न मांस, मछली, अण्डा खाते थे। लेकिन ऐसे लोग भी थे जो चट्टान से गिरे पशुओं व खून निकले पशुओं को खाते थे। जो स्वाभाविक रूप से मरते थे[240] उनको वे तुरन्त नहीं खाते थे। इस प्रकार की सूचना से दो प्रकार के लोग अर्थात् बौद्ध और जैनियों का पता चलता है।

दक्खन (लगभग 300-700 ई॰)

इस काल में जैन धर्म को दक्षिण में राजकीय सहयोग विभिन्न राजवंशों से प्राप्त हुआ। इस समय जैन धर्म दक्षिण के राज्यों में उत्तर के राज्यों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय था। दक्खन के अनेक राजा, मंत्री और छोटे राजाओं का झुकाव निश्चित ही जैन धर्म के प्रति

---

238. *द हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स*, I, पृ॰ 504.

239. वही, पृ॰ 6.

240. वही, जिल्द I, पृ॰ 97.

था। यद्यपि यह सिद्ध करना कठिन है कि राजा लोग वास्तव में इस धर्म के अनुयायी हो गये थे, फिर भी हमारे पास इसके काफी प्रमाण हैं। वे धर्म की उन्नति में सहयोग देने में उदार थे जिससे देश के इस भाग में जैन धर्म की बहुत समृद्धि हो सकी।

तल्काड़ के गंग

गंगों ने दक्षिण कर्नाटक में चौथी सदी के आसपास अपना राज्य स्थापित किया। वे पश्चिमी गंग व मैसूर के गंग कहे जाते थे। उनकी सबसे प्राचीन राजधानी कोलार में स्थित थी, किन्तु बाद में तल्काड़ बना दी गई। पूर्व गंग राजाओं में सबसे प्रसिद्ध दुर्विनीत था। अन्य महान् गंग राजा श्रीपुरुष (लगभग 726-76 ई॰) था। आठवीं और नवीं सदी में गंग वेंगी के पूर्वीय चालुक्य, मालखेड़ के राष्ट्रकूट और अन्य पड़ोसियों के आक्रमणकारी कार्यकलापों से बहुत परेशान थे।

मैसूर के गंग राजा जैन धर्म से अधिक सम्बन्धित थे।[241] बाद की अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि गंग-वंश का संस्थापक कोङ्गुणिवर्मा प्रथम (लगभग 350-400 ई॰) जैन आचार्य सिंहनंदिन का शिष्य था, और उसके सब उत्तराधिकारी जैन धर्म के अनुयायी थे। ऐसा कहा जाता है कि बाद के गंग राजा अन्नित (लगभग 500-540 ई॰) का पालन-पोषण जैन साधु विजयकीर्ति द्वारा हुआ था। उसने अपने गुरु परमार्हित विजयकीर्ति[242] के उपदेश से उरनूर के जैन मन्दिर के लिए एक गांव प्रदान किया था तथा एक-दूसरे जिन मन्दिर के लिए चुंगी से प्राप्त धन का चतुर्थ भाग दान में दिया था। अन्य अभिलेख[243] अविनीत राजा द्वारा यावनिक संघ के जैन मन्दिर को भूमि दान देने का उल्लेख करता है। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन लेखक पूज्यपाद का इस वंश के राजा दुर्विनीत (लगभग 570-600 ई॰) से सम्बन्ध रहा है। गंग राजा अविनीत, शिवकुमार (670-713 ई॰) और श्रीपुरुष (लगभग 725-88 ई॰) के अभिलेख जैन साधुओं को उपहार और जैन मन्दिरों के निर्माण के उल्लेख के साथ में ब्राह्मण मन्दिरों के दान का भी उल्लेख करते हैं। उनका व्यक्तिगत धर्म जो कुछ भी रहा हो, वे जैन धर्म के संरक्षक बने रहे। सातवीं सदी के समय का शिवकुमार का अभिलेख[244] राजा व अन्य लोगों द्वारा दान का उल्लेख करता है। आठवीं सदी का अभिलेख[245] कुछ अधिकारियों द्वारा मन्दिर को दो ग्रामों के दान का उल्लेख करता है।

---

241. बी॰ए॰ सेलीटोरं, *मेडिकल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर,* पृ॰ 7.
242. *जै॰शि॰सं॰,* 3, 94.
243. वही, 4, सं॰ 20.
244. वही, 4 सं॰ 24.
245. वही, 4 सं॰ 48.

कदम्ब वंश (करीब 340-600 ई॰)

कदम्बों ने अपना राज्य उत्तर कर्नाटक में पूर्वी पल्लवों को हराकर चौथी सदी ई॰ में स्थापित किया। मयूरशर्मन ने इस राज्य की स्थापना की और इनकी राजधानी वैजयन्ती व बनवासी थी। मयूरशर्मन के उत्तराधिकारियों में काकुस्थवर्मन् महत्त्वपूर्ण था। उसके राज्य में कदम्बों का प्रभुत्व और प्रभाव बहुत बढ़ गया था। अन्य उल्लेखनीय कदम्ब राजा रविवर्मन् था, जिसने हल्सी (बेलगांव) को अपनी राजधानी बनाया, और गंगों और पल्लवों के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया। वातापी (बादामी) के चालुक्यों के उत्थान से कदम्बों की महत्त्वाकांक्षाओं को बड़ा धक्का लगा।

वैजयन्ती व बनवासी के कदम्ब राजा प्रायः जैन धर्मावलम्बी माने जाते हैं। जैन धर्म के प्रति उनका अपूर्व अनुग्रह था क्योंकि यह धर्म संभवतः अधिकतर जनता के लोगों का था। इन राजाओं के अनेक अभिलेख मिलते हैं जिनमें जैन साधुओं को दान, मन्दिरों का निर्माण और जैन समुदाय के विभिन्न लोगों को सहायता देने का उल्लेख है। कदम्ब राजाओं के अभिलेख से पता चलता है कि उनके उदार संरक्षण में जैन समुदाय की उन्नति हो रही थी। अनेक उच्च अधिकारी और देश के समृद्ध सामन्त इस धर्म के पक्के अनुयायी थे। वे मन्दिर निर्माण कर साधुओं को आहार देकर जैन मूर्तियों की पूजा कर और उत्सवों को मनाकर अपना धार्मिक उत्साह अभिव्यक्त करते थे।

इस वंश का पहला राजा जिसने निश्चित रूप से जैन धर्म के प्रति विशेष अनुग्रह दिखलाया, वह काकुस्थ वर्मा था। इसका तुलसी (बैलगांव जिला, कर्नाटक) अनुदान अभिलेख गुप्त संवत् 80 (400 ई॰) का है। कुछ दान पलासिका से काकुस्थ वर्मा द्वारा दिया गया।[246] काकुस्थ वर्मा कदम्बों का युवराज था। इस अनुदान द्वारा अर्हतों के खेट ग्राम में एक क्षेत्र सेनापति श्रुतकीर्ति को राजकुमार की रक्षा के लिए पुरस्कार के रूप में दिया गया।[247] काकुस्थ वर्मा का पुत्र शांति वर्मा था। उसका बेटा मृगेश वर्मा हुआ। मृगेश वर्मा के अनेक अनुदानों का सम्बन्ध जैन धर्म से था। अपने राज्य के तीसरे वर्ष में उसने अभिषेक और पूजा के लिए भूमि दान में दी।[248] अपने राज्य के चौथे वर्ष में उसने कालवंग नाम के ग्राम को उपहार में दिया।[249] इसको तीन भागों में विभाजित कर लिया गया। पहला जिनेन्द्र के मन्दिर के लिए था। दूसरे भाग का सम्बन्ध श्वेताम्बरों के संघ से था और तीसरे का निर्ग्रन्थ महाश्रमणों के उपभोग के लिए था। इस अभिलेख से स्पष्ट है कि

---

246. *द सक्सेस ऑफ द सातवाहन्स इन द लोवर दक्खन,* पृ॰ 255 *इंडि॰एंटी॰,* VI, पृ॰ 23.

247. *जै॰शि॰सं॰,* 3, सं॰ 96, *इंडि॰ऐंटी॰,* VI, पृ॰ 22-32.

248. वही, 3, सं॰ 97.

249. वही, 3, सं॰ 98.

इसमें उल्लेखित जिनेन्द्र मन्दिर दोनों साम्राज्यों के साधुओं की सम्मिलित संपत्ति थी। अपने राज्य के आठवें वर्ष में उसने 33 निवर्तन प्रमाण भूमि को यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों के उपभोग के लिए दान में दी।[250]

मृगेश वर्मा के तीन बेटे थे – रवि वर्मा, भानु वर्मा और शिवरथ। उसके उत्तराधिकारी रवि वर्मा ने 478 से 513 ई॰ तक शासन किया। पहले लेख[251] के अनुसार सेनापति श्रुतकीर्ति के पौत्र जयकीर्ति ने कदम्ब राजाओं द्वारा परम्परा से प्राप्त पुरुखेटक ग्राम को रवि वर्मा की आज्ञा से अपने माता-पिता के कल्याण के लिए यापनीय संघ के कुमारदत्त तथा अन्य प्रमुख आचार्यों को दान में दिया। दूसरे लेख[252] के अनुसार दामकीर्ति (श्रुतकीर्ति के पुत्र) के अनुज श्रुतकीर्ति ने अपनी माता के कल्याणार्थ अपने स्वामी रवि वर्मा से चार निवर्तन भूमि लेकर जिनेन्द्र के लिए दान में दी। तीसरे लेख[253] से ज्ञात होता है कि रवि वर्मा के राज्य के 11वें वर्ष में उसके अनुज भानु वर्मा ने किसी पण्डर भोजक से 15 निवर्तन भूमि प्राप्त कर जिनेन्द्र के लिए दान में दे दी। रवि वर्मा का राज्यकाल सन् 478 से 513 तक का था।

रवि वर्मा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र हरि वर्मा हुआ। उसके समय के दो अभिलेख मिलते हैं। प्रथम लेख[254] से ज्ञात होता है कि उसने अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में अपने चाचा शिवरथ के उपदेश से पलासिका में सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मित जैन मन्दिर की अष्टान्हिका पूजा के लिए तथा सर्व संघ के भोजन के हेतु कूर्चकों से वारिषेणाचार्य संघ के हाथ में चन्द्र क्षोन्त को प्रमुख बनाकर वसुन्तवाटक ग्राम दान में दिया।[255] द्वितीय लेख[256] से ज्ञात होता है कि उक्त नरेश ने अपने राज्य के पांचवें संवत्सर में सेन्द्रक राजा भानु वर्मा की प्रार्थना पर अहिरिष्ठ नामक दूसरे श्रमण संघ के लिए भरदे नामक ग्राम दान में दिया। हरि वर्मा का राज्यकाल सन् 513 से 534 ई॰ में माना जाता है।

कदम्बों की एक शाखा और थी जिसके कुछ नरेशों ने मुख्य शाखा से विद्रोह किया

---

250. वही, 3, सं॰ 99, *इंडि॰एंटी॰*, VI, पृ. 22.
251. वही, 3, सं॰ 100.
252. *जै॰शि॰सं॰*, 3 सं॰ 101, *इंडि॰एंटी॰*, IV पृ॰ 25-32.
253. वही, 3, सं॰ 102.
254. *एपि॰इंडि॰*, IV, पृ॰ 140-42, पृ॰ 30, 25.
255. *जै॰शि॰सं॰*, 3 सं॰ 103, *इंडि॰एंटी॰*, V, पृ॰ 30.
256. वही, सं॰ 104.

था।[257] एक अभिलेख कृष्ण वर्मा प्रथम के राज्यकाल का है।[258] इस लेख में इसके प्रियतनय देवराज का उल्लेख है जो कि युवराज था। वह त्रिपर्वत का शासक था तथा जिन धर्म का भक्त था। उसने अर्हन्त भगवान के चैत्यालय की पूजा, मरम्मत, आदि के लिए यापनीय संघों के लिए कुछ खेत दान में दिये थे। दूसरा अभिलेख सेन्द्रक वंश के राजा भानुशक्ति की प्रार्थना पर हरि वर्मा द्वारा उसके राज्य के पांचवें वर्ष में ग्राम दान देने का उल्लेख करता है।[259]

वातापी (बादामी) के पश्चिमी चालुक्य

यह राजकुल जयसिंह और उनके पुत्र रणराग के नेतृत्व में धीरे-धीरे उठा। रणराग का उत्तराधिकारी पुलकेशिन प्रथम, जो छठी शती ई० के मध्य में हुआ, निश्चय ही शक्तिमान था। उसने वातापी को अपनी राजधानी बनाया। उसके बाद कीर्तिवर्मन् हुआ। उसने उत्तर कोंकण के मौर्य तथा बनवासी (उत्तर कनारा) के कदम्बों को परास्त किया। नलों को भी उसने हराया। जब कीर्तिवर्मन् मरा, तब उसका अनुज भ्राता मंगलराज अथवा मंगलेश ने खेती द्वीप (वर्तमान रेडी, रत्नगिरि जिला) और उत्तर दक्खन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। पुलकेशिन द्वितीय (620-42 ई०) ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। अपने राज्य में व्यवस्था स्थापित करके उसने विजय अभियान शुरू किया। उसने दक्षिण मैसूर के कदम्बों और गंगों, कोंकण के मयूर, लाट, मालव और गुर्जरों को अपने अधीन किया। चालुक्यों ने दक्षिण में पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् को भी हराया और दक्षिण के सुदूर राज्यों के साथ मित्रता स्थापित की। यद्यपि उन्होंने उन पर अन्त में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, उनको आठवीं सदी के मध्य में राष्ट्रकूटों की बढ़ती हुई सत्ता के सामने झुकना पड़ा।

पश्चिमी चालुक्यों के समय में जैन धर्म की सम्माननीय स्थिति थी क्योंकि वे उदार दृष्टिकोण के थे। रणराग के शासनकाल में उसके एक सेन्द्रक सामंत दुर्गशक्ति ने पुलिगेरे के प्रसिद्ध शंख जिनालय के लिए भूमि दान दी थी।[260] इस वंश का दान-पत्र[261] शक सं० 411 (489 ई०) का सत्याश्रय पुलकेशिन का था। उक्त नरेश के शासनकाल में सेन्द्रक-वंशी सामन्त सामियार ने अलतक नगर में एक जैन मन्दिर बनवाया था और राजाज्ञा लेकर चन्द्रग्रहण के समय कुछ जमीन और गांव दान में दिये। पुलिकेशिन प्रथम

257. वही, सं० 101.
258. वही, सं० 105.
259. *एपि०इण्डि०*, XXVI, पृ० 31.
260. *जै०शि०सं०*, 3, पृ० 109.
261. *जै०शि०सं०*, 3 पृ० 107, *इंडि०एंटी०*, VII, पृ० 209-20.

का उत्तराधिकारी उसका बेटा कीर्ति वर्मा प्रथम था। उसके शासनकाल के एक लेख के (कन्नड़) अंश से ज्ञात होता है कि कीर्ति वर्मा ने कुछ सरदारों के निवेदन पर जिनेन्द्र के पूजा विधान के लिए कुछ खेत प्रदान किये थे। उक्त लेख के संस्कृत अंश से ज्ञात होता है कि उसने अपने सरदारों द्वारा निर्मित जिनालय एवं दानशाला आदि के लिए भी कुछ खेतों का दान दिया था।[262]

कीर्तिवर्मन् ने 597 ई० तक शासन किया और उसके पश्चात् उसका भाई मंगलेश राजा बना। अभी हाल में उसके राज्य का एक नया अभिलेख[263] प्राप्त हुआ है जो उसके समय जैन धर्म की लोकप्रियता को सिद्ध करता है। अभिलेख में तिथि नहीं है किन्तु मंगलराज का उल्लेख करता है जो बादामी शाखा के मंगलेश को छोड़कर कोई अन्य नहीं हो सकता। इसलिए इसका समय करीब 600 ई० रखा जा सकता है। यह कम शक्ति के सेन्द्रक राजा रवि-शक्ति द्वारा जैन मठ को भूमिदान का उल्लेख करता है। 634 ई० में रविकीर्ति द्वारा एहोते के रचित लेख[264] से ज्ञात होता है कि बादामी के राजा पुलकेशिन के उदार सहयोग से उसने पाषाण का एक जैन मन्दिर बनवाया था। कवि रविकीर्ति केवल सच्चा और समर्पित जैन ही नहीं था अपितु अपने समय का बड़ा विद्वान् भी था। बादामी की जैन गुफा और दूसरी एहोली के पूर्व चालुक्य काल की है। पुलकेशिन द्वितीय के अनुज भ्राता कुब्ज विष्णुवर्धन की रानी अथण महादेवी ने जैन मन्दिर के उपयोग के लिए ग्राम का उपहार दिया। अकलंक के आश्रयदाता साहसतुंग की पहचान पश्चिमी चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य प्रथम (642-81 ई०) से की जा सकती है जो पुलकेशिन का उत्तराधिकारी भी था।

चालुक्य राजाओं जैसे विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य के जैन आचार्यों को उपहार देने और मन्दिरों के निर्माण करने हेतु अनेक दान लेख हैं। लक्ष्मेश्वर से अनेक रोचक अभिलेख प्राप्त हुए।[265] विनयादित्य के राज्य का 686 ई० का अभिलेख[266] मूल संघ आम्नाय और देवगण सम्प्रदाय के आचार्य को दान देने का उल्लेख करता है। विजयादित्य के राज्य का 34वें वर्ष के अभिलेख[267] में उल्लेख है कि पुलिकर (पुलिगेरे) आधुनिक लक्ष्मेश्वर नगर शंखजिनेन्द्र के मन्दिर के उपयोग हेतु दान दिया गया।

---

262. वही, पृ० 107, वही, XI, पृ० 68.69.
263. *इं०आ०रि०*, 1968-69, पृ० 47.
264. *एपि०इंडि०*, VI, पृ० 7 *जै०शि०सं०*, 3, सं० 108.
265. *इंडि०एंटी०*, VII, पृ० 3.
266. वही, पृ० 112, *जै०शि०सं०*, उ० सं० 111.
267. *किलहोर्नलिस्ट*, सं० 37, *जै०शि०सं०*, सं० 113.

विक्रमादित्य द्वितीय के 734 ई॰ के अन्य लेख[268] से मालूम होता है कि उसने पुलिकर नगर के शंखतीर्थ और थवलजिनालय की मरम्मत एवं सजावट करायी थी और जिन की पूजा के लिए कुछ भूमि दान दी थी।

कीर्तिवर्मन् द्वितीय सत्याश्रय का 751-52 ई॰ का पाषाण का अभिलेख[269] धारवाड़ जिले के नवलगुंड तालुका के अन्निगेरी ग्राम से प्राप्त हुआ है। यह जेबुलगेरि ग्राम के मुखिया कलियम्म द्वारा जैन मंदिर और कोंडिशुलर कुप्प (कीर्तिवर्मन् गोसाईं) द्वारा मूर्ति के निर्माण का उल्लेख करता है।

कुछ अभिलेख तमिलनाडु, केरल, आदि से प्राप्त हुए हैं। इनका सम्बन्ध राजकीय वंश से नहीं है। छठी सदी का एक लेख दक्षिण अर्काट, मिंगेर तालुक तिरुनाथ कुर्नूर से प्राप्त हुआ। यह चन्द्रनन्दि आसिरियर द्वारा सत्तावन दिनों में समाधि मरण का उल्लेख करता है। दक्षिण भारत में आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में आठवीं सदी में जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने हेतु अजनन्दि नाम के प्रसिद्ध जैन साधु ने सब कुछ किया। भारत के दक्षिण राज्यों के विभिन्न भागों में उसने अनेक जैन मूर्तियों का निर्माण करवाया। आन्ध्र प्रदेश के चित्तूर जिले के वील्लिमलाई और मदुरैई जिले के अनैमल, अइवरमलई, अलगरमलइ, करुंगालक्कुडि और उत्तमपलियम के छोटे अभिलेखों में इसके नाम का उल्लेख है। उसका नाम केरल में चित्रल के समीप टिन्नेवेल्ली जिले के एरुवाड़ि प्राकृतिक कन्दरा से भी पाया जाता है।

उत्तर भारत (करीब 800-1200 ई॰)

गुप्तों के पतन और हर्ष की मृत्यु के पश्चात् एक प्रकार से उत्तर भारत में राजनैतिक खिन्नता दिखने लगी। राजपूत आठवीं सदी में प्रगट होते हुए जान पड़े। उत्तर और पश्चिमी भारत में आठवीं से बारहवीं सदी का युग राजपूत युग कहा जाता है। प्राचीन क्षत्रिय वंश लुप्त हो गये और नये, जिनकी उत्पत्ति के बारे में कोई जानकारी नहीं, अस्तित्व में आए। राजपूतों की अग्निकुल कथा का सिद्वान्त प्रतीहारों, चौहान, परमार और चालुक्यों का उल्लेख करता है। राजपूतों में गुर्जर प्रतीहार तिथिक्रम से सबसे प्राचीन और ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण थे। इसके अतिरिक्त अन्य राजपूत वंश थे जैसे चन्देल, कलचुरि, तोमर, कच्छपघात, गुहिल और राष्ट्रकूट। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राजपूत वंश विदेशी, ब्राह्मण जनपद लोग आदि के वशंज हों। इन राजपूतों में एक सामान्य बात यह है कि वे शासित वर्ग के थे। यद्यपि ये राजपूत ब्राह्मण धर्म के अनुयायी

---

268. *इंडि॰एंटी॰*, VII, पृ॰ 106, *जै॰शि॰सं॰*, सं॰ 114.

269. *एपि॰इंडि॰*, XXI, पृ॰ 204-06.

थे, उन्होंने जैन धर्म को भी प्रश्रय दिया। इसके परिणामस्वरूप जैन धर्म ने उनसे सम्बन्धित राज्यों में बहुत उन्नति की।

साम्राज्यवादी प्रतीहार

साम्राज्यवादी प्रतीहारों का अन्य राजपूतों के समान सबसे प्राचीन निवास-स्थान राजस्थान था। इस वंश का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण राजा नागभट्ट प्रथम (लगभग 730-56 ई॰) था जिसने अरबों को हराया। वत्सराज, जो करीब 778 ई॰ में गद्दी पर बैठा, उत्तर भारत में साम्राज्य निर्माण करने का प्रयत्न करने वाला पहला प्रतीहार शासक था। वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय 805 ई॰ के लगभग गद्दी पर बैठा। उसने अपने कुल की विचलित राज्यलक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहा। वह इतना शक्तिमान हो गया कि आन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ तथा कलिंग के राजाओं ने उससे सहायता तथा मैत्री की प्रार्थना की।[270] उसने कन्नौज के राजा चक्रायुद्ध को हराया। उसने निम्नलिखित प्रदेशों की भी विजय की — आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य। उसने अपनी राजधानी अपने निवास स्थान से 815 ई॰ में कन्नौज को बदल दी। मिहिरभोज ने राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश के प्रदेशों की विजय कर अपने साम्राज्य का शनैः-शनैः विस्तार किया। मिहिरभोज के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम हुआ जिसने 909 ई॰ तक राज्य किया। उसने मगध और उत्तर बंगाल तक अपना साम्राज्य बढ़ाया। उसके अभिलेख काठियावाड़, पूर्वी पंजाब और अवध से प्राप्त हुए हैं।

साम्राज्यवादी प्रतीहारों के राज्य में राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और गुजरात में जैन धर्म का उत्थान हुआ। वत्सराज के समय का बना हुआ ओसिया में महावीर का जैन मन्दिर था। उद्योतन सूरि से ज्ञात होता है कि उसने जालोर के ऋषभदेव के मन्दिर को 778 ई॰ में पूर्ण किया। जालौर अनेक जैन मन्दिरों से सुसज्जित था। जालौर के समीप अन्य स्थान अगासवन भी अनेक जैन मन्दिरों से सजा हुआ था। ओसिया से प्राप्त 956 ई॰ के अभिलेख[271] से भी जैन धर्म की उन्नति का पता लगता है। कक्कुक जोधपुर के समीप मंडोर का प्रतीहार राजा था। वह संस्कृत का विद्वान् था और जैन धर्म का संरक्षक था। घटियाला के 861 के अभिलेख से यह स्पष्ट है कि उसने जैन मन्दिर को बनवाया।[272]

नागभट्ट द्वितीय ने जो आम नाम से जाना जाता है बप्पभट्टिसूरि के उपदेश से जैन मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना में बहुत धन खर्च किया। उसने 100 क्यूबिट ऊंचा जैन मन्दिर कन्नौज में बनवाया, और महावीर की स्वर्ण मूर्ति खड़ी की। कहा जाता है कि उसने

---

270. *सा॰इं॰इं॰*, 17, सं॰ 262.

271. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, 1908-09, पृ॰ 108.

272. *ज॰ए॰सो॰बं॰*, 1895, पृ॰ 516.

मथुरा, अजहिलवाड़, मोढ़ेरा, आदि स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाये।[273] ऐसा ज्ञात होता है कि उत्तर में उद्योतन सूरि के शिष्यों से विभिन्न गच्छों की उत्पत्ति हुई। वह इस क्षेत्र से विशेष सम्बन्धित रहा। उसकी मृत्यु 937 ई॰ में हुई जब उसने मालवदेश से शत्रुंजय की ऋषभ की पूजा हेतु यात्रा की। बप्पसूरि के शिष्यों नन्नसूरि और गोविन्द सूरि के प्रभाव से मिहिर-भोज ने भी जैन धर्म को आश्रय दिया।

जैसाकि पट्टावलियों से जान पड़ता है कि उज्जैन इस समय मूलसंघ के भट्टारकों की पीठ रहा।[274] प्रतीहार राजा वत्सराज के समय जिनसेन द्वितीय ने 783 ई॰ में वर्धमानपुर में *हरिवंश पुराण* की रचना की। वर्धमानपुर की पहचान धार जिले के बदनावर से की जाती है। आचार्य हरिषेण[275] जो पुण्णाट संघ का था ने वर्धमानपुर में 931 ई॰ में *कथाकोश* की रचना की। देवसेन[276] ने धार में *दर्शनसार* की रचना की।

देवगढ़, ग्यारसपुर, बडोद पठारी, आहार और इंदौर (गुना जिला) जैन धर्म के बड़े केन्द्र हो गए जहां जैन मन्दिर बने और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई।[277] ग्यारसपुर के आठखंभा पर अंकित 982 ई॰ के लेख से यह जाना जाता है कि कुछ यात्रियों ने इस स्थान की यात्रा की।

उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानों का इस समय जैन धर्म से सम्बन्ध रहा है। झांसी जिले में देवगढ़ मन्दिरों का प्रसिद्ध समूह है।[278] अधिकतर मन्दिर इस समय बने। देवगढ़ का 862 ई॰ का महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्रतीहार भोज के समय का शान्तिनाथ के मन्दिर में मिला[279] है। यह अभिलेख सिद्ध करता है कि शान्तिनाथ के मन्दिर का अस्तित्व 862 ई॰ के पहले था। देवगढ़ पहले लुअच्छागिर जाना जाता था। इस अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव ने महासामंत विष्णुराम को पंच महाशब्द की उपाधि दी। मन्दिर के स्तंभ पर अंकित लेख आचार्य कामदेव के शिष्य श्रीदेव का उल्लेख करता है। वि॰सं॰ 1016 का अन्य लेख[280] देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य त्रिभुवनकीर्ति

---

273. *द एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज,* पृ॰ 289.
274. पीरि, 1883-84, *इंडि॰एंटी॰*, XX, XXI, पृ॰ 58.
275. *भा॰दि॰जै॰ती॰ब॰*, पृ॰ 278.
276. *कैटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स सी.पी. एण्ड बरार,* पृ॰ 652.
277. *भा॰दि॰जै॰ती॰ब॰.*
278. वही.
279. *एपि॰इंडि॰*, IV, पृ॰ 309-10.
280. वही, *इंस॰सं,* 148.

का उल्लेख करता है। देवेन्द्रकीर्ति मूलसंघ सरस्वतीगच्छ के रत्नकीर्ति का शिष्य था। इस स्थान का नवीं सदी का तीसरा लेख[281] जैन मुनि नागसेनाचार्य का उल्लेख करता है।

इस समय के रचित साहित्यिक ग्रन्थों में मथुरा का बार-बार प्रसिद्ध जैन केन्द्र के रूप में उल्लेख हुआ है। आठवीं सदी में रचित *बृहत कल्प भाष्य*[282] में मथुरा के रहवास क्षेत्रों में जैन मन्दिरों का उल्लेख हुआ है। हरिषेण ने *बृहत्त कथाकोश*[283] में मथुरा का वर्णन जिन-यतन मंड़िता या मन्दिरों से भरपूर स्थान के रूप में किया है। इस ग्रन्थ की रचना 931 ई॰ में हुई। जिनप्रभ[284] से पता चलता है कि प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् बप्पभट्टि ने 768 ई॰ में मथुरा में महावीर की मूर्ति की स्थापना की। इसकी पुष्टि *प्रबंधकोश* से होती है।[285] देवसेन (895 ई॰) के अनुसार रामसेन ने माथुर संघ की स्थापना की।[286] इससे ज्ञात होता है कि मथुरा श्वेताम्बरों और दिगम्बरों का निरन्तर अनुकूल आश्रय-स्थल बना रहा। मथुरा में इस समय के कुछ अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं। उत्तर प्रदेश के अनेक प्राचीन नगर जैसे अहिच्छत्र, काम्पिल्य, काशी, सांकाश्य, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि जैन धर्म के केन्द्र रहे, और इन स्थानों से इस काल की जैन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इन प्राचीन अवशेषों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म इस क्षेत्र में प्रतीहार काल में लोकप्रिय था।

राजोरगढ़ के बड़गुर्जर प्रतीहार

राजोरगढ़ के बड़गुर्जर प्रतीहारों के राज्य में जैन धर्म ने विशेष उन्नति की। राजोरगढ़ राजस्थान में अलवर से दक्षिण-पश्चिम में 45 कि॰मी॰ दूरी पर स्थित है। जैन साधु यहां की कुछ गुफाओं में तपस्या करते थे। गुफाओं के चिह्न पहाड़ियों में दृष्टिगोचर होते हैं। जैन साधुओं की प्रेरणा से उनके अनुयायियों ने शानदार मन्दिर बनाये और उनमें मूर्तियां विराजमान कीं। राजा सावट के राज्य का वि॰सं॰ 979 (923 ई॰) का अभिलेख[287] घर्कट जाति का दे दुल्लक का पुत्र, अरभट का पौत्र सर्वदेव द्वारा राज्यपुर में शांतिनाथ के मन्दिर का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने का उल्लेख करता है। यहां तीन पूरे आकार की जैन मूर्तियां खड़ी हुई हैं।[288] कलात्मक द्वार की तरफ दो खिड़कियां हैं

---

281. *जै॰शि॰सं॰*, 5, सं॰ 148.
282. 2.1. स्टोरी सं॰ 12.
283. *सि॰जै॰सि॰*, 10.
284. *विविध तीर्थकल्प*।
285. *प्राकृत साहित्य का इतिहास*, पृ॰ 321.
286. दर्शनसार।
287. *इं॰आ॰रि॰*, 1961-62, पृ॰ 82.
288. *आ॰स॰इं॰रि॰*, 20, पृ॰ 122.

और अनेक ध्वंस जैन मूर्तियों के अवशेष हैं। एक ध्वंस मन्दिर में 13 फुट 9 इंच विशाल जैन मूर्ति है और उसके मस्तक पर दो हाथियों के सहारे 2 फुट 6 इंच चंदवा है।[289] समस्त मूर्ति की ऊंचाई 16 फुट 3 इंच है और चौड़ाई 6 फुट है। यह नौगजा जाना जाता है, और कहा जाता है कि भैसाशाह ने किसी बड़गुर्जर राजा के राज्य में इसका निर्माण किया था।

चहमान

चहमान अपनी उत्पत्ति अग्निकुल राजपूतों से मानते हैं, और वे नवीं सदी के अंत में अजमेर में स्वतंत्र हो गए। चहमानों की विभिन्न शाखाएँ राजस्थान के अलग-अलग भागों पर राज्य करती थीं – जैसे शाकम्भरी, रणथम्भौर, नाडोल, जालौर और चन्द्रावती। इन सब शाखाओं में शाकम्भरी के चौहान सबसे महत्त्वपूर्ण थे। अजयराज ने अजयमेरु व अजमेर नगर की स्थापना की। इस वंश का अन्य प्रसिद्ध राजा विग्रहराज चतुर्थ बीसलदेव (1153-64 ई॰) था। उसने गुजरात पर विजय की, और देहली को तोमरों से जीता। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज तृतीय (1179-92 ई॰) था। वह सांभर और देहली प्रदेशों का स्वामी था। उसने कन्नौज के राजा जयचन्द्र पर अपनी विशिष्टता स्थापित की। पृथ्वीराज और जयचन्द्र दोनों मुहम्मद गोरी द्वारा बारहवीं सदी के अंत में हारे।

जैन आचार्यों के प्रभाव से चौहान राजाओं ने भी जैन धर्म को आश्रय दिया। पृथ्वीराज प्रथम 1105 ई॰ में शासन कर रहा था।[290] उसने रणथम्भौर के जैन मन्दिरों पर कलश चढ़ाए।[291] यह न केवल उसे रणथम्भौर पर आधिपत्य को वरन् धार्मिक मामलों में उसकी उदारता को भी सिद्ध करता है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी अजयराज था। यद्यपि वह शिव का भक्त था, वह जैन संप्रदायों के अनुयायियों का भी सम्मान करता था। उसने जैनियों को नये बने नगर अजमेर में मन्दिर बनाने की अनुमति दे दी, पार्श्वनाथ के मन्दिर को स्वर्ण कलश चढ़ाया[292] और उसने श्वेताम्बर आचार्य धर्मघोषसूरि और उसके दिगम्बर प्रतिद्वन्द्वी गुणचन्द्र के मध्य वाद-विवाद में न्यायाधीश का कार्य किया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र अर्णेराज था जो आन्नलदेव (1133 ई॰ के पहले) के नाम से जाना जाता था। वह जिनदत्त सूरि का समकालीन था जिसका वह बड़ा सम्मान करता था। वह उसके दर्शन हेतु उसकी पीठ पर गया, और उसके अनुयायियों को जैन मन्दिर

289. वही, पृ॰ 125-29.
290. *एरि॰रा॰म्यु॰अ॰*, 1934, सं॰ 4.
291. *ए कैटलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडारण एट पाटन*।
292. *जन मन पत्रिका स्थानीय* I, सं॰ 1, पृ॰ 4.

बनवाने के लिए उचित स्थान दिया।[293] जिनदत्तसूरि की मृत्यु हो गई, और उनका दाह संस्कार 1154 में अजमेर में हुआ। दादा जिनदत्त सूरि के नाम पर यह स्थान दादाबाड़ी कहा जाने लगा अर्थात् दादा की बाड़ी। इसके पश्चात् राजस्थान के अनेक नगरों में जैन वणिकों ने अपने उद्यानों का नाम महान् संत की महान् स्मृति में दादा बाड़ी रखा। अन्यत्र भी दादाबाड़ी नाम रखा गया।

अर्णेराज के पश्चात् बीसलदेव विग्रहराज 1152 ई॰ में गद्दी पर बैठा। वह धार्मिक मामलों में पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चला। जैनियों के लिए उसने विहार बनवाये, धार्मिक आयोजनों में भाग लिया और उनके धार्मिक आचार्य धर्मघोष सूरि के कहने पर[294] एकादशी के दिन पशुओं के वध पर रोक लगा दी। उसके पश्चात् पृथ्वीराज द्वितीय राजा हुआ। बिजोलिया के 1169 ई॰ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज द्वितीय ने रोज के खर्चे को चलाने के लिए बिजोलिया के पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए मोरकुरी नाम का ग्राम दान दिया। पृथ्वीराज के पश्चात् उसका चाचा सोमेश्वर, जो अर्णेराज का पुत्र था, राजा बना। उसने अपनी व्यक्तिगत शक्ति द्वारा प्रताप लंकेश्वर की उपाधि धारण की, और स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से रेवा के किनारे पर स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर को रेवाना नाम का ग्राम दान दिया।[295] तोमरों के पश्चात् चौहानों ने देहली पर अधिकार कर लिया। चौहान राजा सोमेश्वर जैन धर्म का संरक्षक था। जब वह अजमेर से देहली आया, तो समृद्ध जैन देवपाल भी उसके साथ था। दोनों ने हस्तिनापुर की तीर्थ-यात्रा की। देवपाल ने 1176 ई॰ में कायोत्सर्ग मूर्ति की स्थापना की।[296] सोमेश्वर के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीराज तृतीय राजा बना तथा 1179 ई॰ से शासन शुरू किया। उसको धार्मिक वाद-विवादों में रूचि थी, और उसके राजकीय दरबार में 1182 ई॰ में जिनपति सूरि और उपकेशगच्छ के चैत्यवासी पंडित पद्मप्रभ के मध्य विवाद हुआ जिसमें जिनपति सूरि विजयी हुआ।[297]

चौहानों की एक शाखा ने मारवाड़ में नाडौल से 960 ई॰ से 1252 ई॰ तक राज्य किया। इस वंश का अश्वराज सोलंकी सम्राट् कुमारपाल का सामंत था। उसने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया और इसका प्रचार किया। उसने अपने राज्य में कुछ विशिष्ट दिनों के लिए अहिंसा का कड़ाई से पालन हेतु आदेश दिया। उसने अपने पुत्र कटुकराज

---

293. *खरतरगच्छ बृहद् गुरूवावली,* पृ॰ 16.
294. *ए कैटलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडारण एट पाटन,* पृ॰ 370.
295. *एपि॰इंडि॰,* XXIV, पृ॰ 84.
296. *ज्यो॰उ॰प्र॰जै॰,* पृ॰ 13.
297. *खरतरगच्छ बृहद् गुरूवावली,* पृ॰ 25-33.

को सेवाड़ी नाम का ग्राम दान में दिया जो चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के मन्दिर के लिए प्रसिद्ध था। अश्वराज के समय का सेवाड़ी के 1110 ई॰ के अभिलेख में उल्लेख है कि महासाहणीय उप्पलराक (अश्वशाला का स्वामी) द्वारा समीपाटी के मन्दिर में धर्मनाथ देव की दैनिक पूजा के लिए पदराड़ा, मेद्रंचा, छेच्छड़िया और मेदड़ी ग्रामों के प्रत्येक अरहट से एक हारक बाजरी दान देने का उल्लेख है। सेवाड़ी के 1115 ई॰ के अभिलेख में उल्लेख है कि कुटुकराज ने बाहड़ के पुत्र थलक को शिवरात्रि के दिन आदाता के दादा यशोदेव खत्तक में शान्तिनाथ की पूजा हेतु वार्षिक दान छह द्रम दिया।[298]

महाराज रायपाल ने भी जैन धर्म को आश्रय दिया। नाड़लाई के 1132 ई॰ के पाषाण अभिलेख में उल्लेख है कि महाराज रायपाल के पुत्र रुद्रपाल और अमृतपाल ने अपनी माता रानी मानलदेवी के साथ दान दिया। इस दान में दो पलिका तेल प्रत्येक तेल की घाणी से राजकीय परिवार को कर के रूप में मिलता था। इसके प्राप्तकर्ता नाडलड़ागिक में बसने वाले जैन संन्यासी थे।[299] नाड़लाई के 1138 के पाषाण अभिलेख में महाराजा रायपाल का नाडलड़ागिक पर शासन करने का उल्लेख है, तथा नाड़लाई से सामान को लाने व ले जाने की आय का बीसवां भाग गुहिल ठाकुर राजदेव द्वारा नेमिनाथ की पूजा के लिए देने का भी उल्लेख है।[300] नाड़लाई का तीसरा 1143 का पाषाण अभिलेख महाराज रायपाल के राज्य का है जब वह राउल राजदेव नडूलडागिक का ठाकुर था। यह महावीर के मन्दिर को कुछ उपहार देने का उल्लेख करता है।[301] इस स्थान का महाराजा रायपाल के राज्य का 1143 ई॰ के चौथे अभिलेख में उल्लेख है कि राउल राजदेव ने एक विंशोपक मुद्रा में और दो पलिका तेल घाणी से इस मन्दिर को दान दिया है।[302]

कुमारपाल के सामन्त महाराज अल्हणदेव को अपने स्वामी की अनुकम्पा से 1152 ई॰ के किराट कूप, लाटहद और शिवा प्राप्त हुए। उसने जैन धर्म को संरक्षण भी दिया। 1152 ई॰ में शिवरात्रि के दिन पशुओं की सुरक्षा को सर्वोच्च दान सोचकर आत्म-कल्याण की वृद्धि हेतु उसने तीन नगरों में महाजनों, तांबुलिकों और अन्य लोगों को महीने के दोनों पक्षों के अष्टमी, ग्यारस और चतुर्दशी के दिनों को पशु वध रोकने का आदेश दिया। उनको कड़ा दंड दिया जाता जो जीवों को मारते और दूसरों से मरवाते थे।[303] ब्राह्मण,

298. *एपि.इंडि.*, XI, पृ॰ 30-32.
299. वही, पृ॰ 34-35.
300. वही, पृ॰ 37-41.
301. *एपि.इंडि.*, IX, पृ॰ 159.
302. वही, पृ॰ 63-66, फिर से संपादित रामकरण *इंडि.एंटी.*, XI, पृ॰ 146.
303. *एपि.इंडि.*, XI, पृ॰ 43-46.

पुरोहित, मंत्री और अन्य को भी पशु वध नहीं करने के आदेश का पालन करने को कहा गया। यह भी कहा गया कि जो दूसरे की जान लेकर पाप करता है, उस पर पांच द्रम दंड लगाया जाए। यदि पापी का सम्बन्ध राजा से हो तो उसे केवल एक द्रम जुर्माना लगाया जाए। हमें नाडोल के अभिलेख से ज्ञात होता है कि अल्हण और केल्हण ने प्रसन्न होकर राजपुत्र कीर्तिपाल को नाड़लाई से सम्बन्धित बारह ग्राम दिये।[304] नाड़लाई में स्नान कर और सूर्य और महेश्वर की पूजा करके, कीर्तिपाल ने 1160 ई० में बारह ग्रामों में प्रत्येक से दो द्रम लेकर नाड़लाई के जिन महावीर को दिये। यह उसने या तो स्वयं या जैनियों की प्रार्थना पर किया। नाडोल के 1171 ई० के अभिलेख में उल्लेख है कि नाडोल के महाराज अल्हणदेव ने सूर्य और ईशान की पूजा करके तथा ब्राह्मणों और गुरुओं को उपहार देकर नाडूल तलपद की शुल्कमंडपिका से पांच द्रम प्रति मास लेकर नाडोल तीर्थ के संडेरक गच्छ के महावीर के जैन मन्दिर को दिए।[305]

अल्हणदेव के पुत्र कल्हणदेव ने भी जैन धर्म की उन्नति में योगदान दिया। कल्हणदेव के राज्य के 1164 ई० का संडेराव का पाषाण का अभिलेख उल्लेख करता है कि राजमाता अन्हल्लदेवी ने संडेरक गच्छ के मूलनायक महावीर तीर्थ को एक हल भूमि दान दे दी।[306] कल्हणदेव के राज्य के 1176 ई० के लालराई के पाषाण अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि सीणाणव के स्वामी और कीर्तिपाल के राजपुत्र लाखनपाल और अभयपाल ने रानी महिबल देवी के साथ शान्तिनाथ के त्यौहार को मनाने हेतु ग्राम पंचकुल की उपस्थिति में दान दिया। इस अनुदान में एक हारक वजन की बाजरी होती थी जिसका प्रयोग गुर्जरात्र के गांव भडियाउव के कूप से होता था।[307] इसी काल का दूसरा लालराई का पाषाण अभिलेख राजपुत्र लाखनपाल और अभयपाल को संनाणक के स्वामी के रूप में वर्णन करता है। यह उल्लेख करता है कि भीवड़, आसधर और अन्य कृषक गुर्जरों ने त्यौहारों के सम्बन्ध में अपने आत्मिक कल्याण हेतु खाडिसीर के खेत से चार सेर बाजरी दिया।[308] नाडोल के कल्हणदेव के राज्य के 1179 ई० के दूसरे संडेराव पाषाण के अभिलेख में उल्लेख है कि राल्हा और पाल्हा ने रानी जाल्हण की मुक्ति में संडेरक के तीर्थंकर पार्श्वनाथ के लिए उपहार में स्तंभ और भवन दिए। भवन में रहने वालों ने इस देवता को चार द्रएल दिए।[309]

---

304. वही, IX, पृ० 66-70.
305. *एपि०इंडि०*, IX, पृ० 63-66, रामकरण द्वारा दुबारा संपादित.
306. *इंडि०एंटी०*, XL, पृ० 146.
307. वही, पृ० 49-50.
308. वही, पृ० 50-51.
309. वही, पृ० 51-52.

कीर्तिपाल ने चहमान राजधानी नाडोल से जालौर बदल दी। जालौर के चहमानों के राज्य में भी जैन धर्म अग्रसर हुआ। महाराज अल्हण के पौत्र और महाराज कीर्तिपाल के पुत्र समरसिंह देव के राज्य के 1182 ई॰ के जालौर पाषाण अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि श्रीमाल जाति के यशोवीर ने मंडप बनवाया और इस कार्य में उसका भ्राता तथा गोष्ठी के सब सदस्य सम्मिलित हुए।[310] यशोवीर समरसिंह के उत्तराधिकारी उदयसिंह का मंत्री हो गया। जालौर के अन्य अभिलेख में उल्लेखित है कि कुमारपाल द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ का मन्दिर चहमान वंश के महाराज समरसिंह के आदेश से भंडारी यशोवीर द्वारा 1185 ई॰ में पुनः निर्मित किया गया।[311] चहमान राजा चाचिगदेव के राज्य के 1245 ई॰ के अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि तेलिया ओसवाल नरपति ने चन्दन विहार के महावीर भंडार को 50 द्रम दान दिया।[312] 1275 ई॰ का अन्य अभिलेख सामंतसिंह के राज्य में पार्श्वनाथ के मन्दिर को नरपति द्वारा उपहार देने का उल्लेख करता है।[313]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चौहानों के उदार संरक्षण में जैन धर्म का राजस्थान के मारवाड़, अजमेर, बिजोलिया और सांभर क्षेत्रों में प्रभुत्व हो गया। दोनों जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म निरन्तर साथ-साथ उन्नति करते गये। उनमें कटुता और असहिष्णुता या अनुदारता की भावना नहीं थी। राजा लोग दोनों ब्राह्मण धर्म के देवताओं और जैन तीर्थंकरों की पूजा किया करते थे तथा साथ में दोनों धर्मों के समारोहों और उत्सवों में भाग लिया करते थे।

चन्द्रवाड़ के चौहान

चौहान राजा चन्द्रपाल ने राजस्थान के बाहर उत्तर प्रदेश में चन्द्रवाड़ (आधुनिक फिरोज़ाबाद) में दसवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में राज्य स्थापित किया। उसका दीवान रामसिंह और राजा स्वयं जैन धर्मावलम्बी थे। चन्द्रवाड़ में दुर्ग बनवाकर उन्होंने 996-99 ई॰ में जैन मन्दिर बनवाया और इसमें चन्द्रप्रभु की मूर्ति स्थापित की। इस वंश के चौहान राजा चन्द्रपाल, भरतपाल, जाहड़ और बल्लाल या तो जैन थे या जैन धर्म के संरक्षक थे। उनके मंत्री जैन धर्म के अनुयायी थे। अभयपाल के मंत्री अमृतपाल ने चन्द्रवाड़ में जैन मूर्ति निर्मित की। जहड़ के मंत्री सोडुसाहु ने अपभ्रंश में 1173 ई॰ में भविष्यदत्त कथा लिखवाई। उत्तर प्रदेश में इटावा जिले में असालिखेड़ में चौहान वंश की अन्य शाखा थी।

---

310. *एपि॰इंडि॰*, XI, पृ॰ 52-54.
311. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1908-09, पृ॰ 55.
312. वही.
313. वही.

इस स्थल से इस काल की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इस काल की जैन मूर्तियां इलाहाबाद जिले के कौशाम्बी और जलसों से भी प्राप्त हुई हैं।[314]

परमार

यद्यपि मालवा परमार सत्ता का केन्द्र रहा, इस वंश की छोटी-मोटी शाखाएं चन्द्रावती और आबू, बांसवाड़ा, जालौर और किराड़ पर शासन करती थीं। वाक्पति मुंज (973 ई०) मालवा के परमार वंश का प्रसिद्ध राजा माना जाता है। उसमें रचनात्मक राजनीतिज्ञता और सैनिक योग्यता संयुक्त रूप से विद्यमान थी जो कम देखने को मिलती है। उसने त्रिपुरी के कलचुरि राजा की शक्ति को नष्ट किया। उसने लाट, कर्णाट, चोल और केरल को मस्तक टेकने को बाध्य कर दिया। वह चालुक्य तैलप द्वारा बुरी तरह हारा। करीब 1000 ई० में भोज राजा बना और 1055 ई० तक राज्य किया। वह मालवा के परमार राजाओं में सबसे प्रसिद्ध और महान् था। उसके अधीन परमार साम्राज्य उच्च शिखर पर पहुंच गया, और मालवा सर्वोच्च यश और कीर्ति तक उठा। यह वंश निरन्तर राज्य करता रहा जब तक कि अलाउद्दीन ने चौदहवीं सदी के आरम्भ में मालवा को जीत नहीं लिया।

इस समय जैन धर्म ने मालवा में काफी उन्नति की जैसाकि साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रमाण से स्पष्ट होता है। यद्यपि राजा लोग ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, वे जैन धर्म की उन्नति में भी रुचि लेते थे। वे जैन विद्वानों के संरक्षक थे, और अपने राज्य में जैन धर्म को भी प्रोत्साहन देते थे। जैन साधुओं ने अनेक लोगों को जैन बना लिया था। जैन मन्दिर निर्मित किये गए और उनमें मूर्तियां विराजमान की गईं। यात्रा के लिए जैन-तीर्थ स्थल भी थे।

वाक्पति मुंज ने जैन आचार्य अमितगति, महासेन, धनपाल और धनेश्वर को आश्रय दिया। अमितगति, जो माथुर संघ का था, माधवसेन सूरि का शिष्य और नेमिषेण का महाशिष्य था। महासेन लाड़ बागड़ संघ का था, और वह गुणकरसेन का शिष्य था। गुणकरसेन जयसेन का शिष्य था। महासेन पर्पट का गुरु था और पर्पट सिंधुराज का महत्तम था। *परीक्षा मुख* का लेखक माणिक्यनंदि संभवतः उसके राज्य में धार में रहता था। उसके पूर्वज पद्मनन्दि, विष्णुनन्दि, वृषभनन्दि, रामनन्दि और त्रैलोक्यनन्दि थे। वे मालवा के क्षेत्र में निवास करते होंगे।

प्रसिद्ध जैन लेखक प्रभाचन्द्र राजा भोजदेव द्वारा सम्मानित किया गया। भोज की प्रार्थना पर धनपाल ने *तिलक मंजरी* लिखी, और भोज ने लेखक को "सरस्वती" की उपाधि से विभूषित किया। लेखक के प्रभाव से भोज का झुकाव जैन धर्म के प्रति हो गया।

314. *ज्यो० उ० प्र० जै०*

डुबकुण्ड के वि॰सं॰ 1145 (1088 ई॰) के अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि शांतिसेण ने राजा भोज की राजसभा में विद्वानों को हराया। सुराचार्य भी उसके दरबार की शोभा बढ़ाता था। देवभद्र को भी संभवतः भोज का आश्रय और अनुग्रह प्राप्त था।

धारानगरी के प्रसिद्ध जैन आचार्य जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर भोज के समकालीन थे। उसका अन्य समकालीन जैन कवि नयनन्दि था जिसने धार के जिनवर विहार में रहते हुए 1043 ई॰ में *सुदर्शन चरित्र* की रचना की। श्रीनन्दि के शिष्य श्रीचन्द्र ने धार में भोज के समय *पुराणसार* और रविषेण के *पदमृचरित* और पुष्पदंत के *महापुराण* पर टीकाओं की रचना की। राजा भोज के राज्य में जब श्रीपाल मांडलिक था, नेमिचन्द्र सैधानिक ने आश्रयनगर (केशोरायपाटन) में *लघुद्रव्य संग्रह* की रचना की।

भोजपुर के प्राचीन जैन मन्दिर में जैन तीर्थंकर की विशाल मूर्ति के पादपीठ पर अंकित अभिलेख चन्द्रार्थ मौलि (अर्थात् शिव देवता) का उल्लेख करता है, जिसकी प्रतिष्ठा भोजदेव के राज्य में जैन साधु नेमिचन्द्र सूरि के उपदेश से जैन गृहस्थ सागरनन्दिन द्वारा की गई थी। जैन-मूर्ति की प्रतिष्ठा करते समय आरम्भ में शिव का मंगलाचरण किया गया। इससे ज्ञात होता है कि मूर्ति प्रतिष्ठा करने वाला व्यक्ति दोनों धर्मों का समान रूप से भक्त था। भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह देव था जो प्रभाचन्द्र का संरक्षक था।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के ऊन के जैन मन्दिर मालवा के उत्तर परमार राजाओं के राज्य में निर्मित हुए जान पड़ते हैं। इसकी पुष्टि उदयादित्य के दो अभिलेखों और नरवर्मन् के सर्पबन्द अभिलेख से होती है।

जैन धर्म का नरवर्मन् के राज्य में बहुत उत्थान हुआ। समुद्रविजय, जिसने मालवा में तर्कशास्त्र का अध्ययन किया, नरवर्मन् की राजसभा में प्रसिद्ध विद्वानों में से एक था। जब जिनवल्लभ सूरि धार आया, नरवर्मन् ने उसको धार्मिक उपदेशों को सुनने हेतु आमंत्रित किया। उसकी अद्‌भुत काव्य प्रतिभा से वह इतना आनन्दित हुआ कि उसने उसको तीन ग्राम या तीन लाख पारुत्थ द्रम में किसी एक पसंद को स्वीकार करने हेतु निवेदन किया। जिनवल्लभ ने किसी को भी स्वीकार नहीं किया। इसकी अपेक्षा उसने प्रार्थना की कि नरवर्मन् को दो खरतर मन्दिरों के व्यय के लिए चित्तौड़ के चुंगीघर से दो पारुत्थ द्रम प्रतिदिन देना चाहिए। जिनवल्लभ के उत्तराधिकारी जिनदत्त सूरि ने अपने शिष्यों को वृत्तिपंजिका दी उसे लक्षण-शास्त्र के अध्ययन हेतु धार भेजा। जिनदत्त सूरि ने स्वयं जैन धर्म प्रचार करने हेतु उज्जैन, धार, बागड़ और चित्तौड़ की यात्रा की।

भोजपुर की जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति के पादपीठ पर वि॰सं॰ 1157 का लेख उल्लेख करता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठा नरवर्मन् के राज्य में वेभक वंश के चिल्लन द्वारा

की गई। शेरगढ़ के जैन मन्दिर में 1134 ई॰ के अभिलेख में उल्लेख है कि किस प्रकार नरवर्मन् के राज्य में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ के महोत्सव को नूतन चैत्य में मनाया गया। देवपाल ने रत्नत्रय तीर्थंकरों की तीन मूर्तियों – शान्तिनाथ, कुंदनाथ और अर्हनाथ – की व्यवस्था की, और अपने पुत्र, माता-पिता, सम्बन्धी और गोष्ठी के सदस्यों के साथ कोशवर्धन में उनका प्रतिष्ठा समारोह किया। उसके पूर्वज माहिल्ल ने सूर्याश्रम से मालव को गमन किया।

परमार राज्य में जैन विद्वानों और साधुओं की साहित्यिक, प्रचार और सुधार की प्रवृत्तियों के कारण जैन धर्म शनैः-शनैः शक्तिशाली हो गया। धरसेन धार में रहता था, और उसका शिष्य विद्वान् आचार्य महावीर जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं में प्रवीण था और उसको राजा विंध्यवर्मन् का आश्रय प्राप्त था।

जब आशाधर ने करीब 1192 ई॰ में मांडलगढ़ से धार गमन किया, वह महावीर द्वारा पढ़ाया गया। आशाधर जैन धर्म का प्रसिद्ध विद्वान् था। वह तेरहवीं सदी के मध्य तक लम्बे समय तक रहा और जैन धर्म पर अनेक ग्रंथ लिखे। उसने अपने जीवनकाल के पांच राजाओं का उल्लेख किया है – विंध्य वर्मा, सुमट वर्मा, अर्जुन वर्मा, देवपाल और जैतुगिदेव। संभवतः उसका पिता सलरवण संधि विग्रहिक था और आशाधर के पुत्र ने भी उसी राजा की किसी पद पर सेवा की। महान् कवि बिल्हण द्वारा आशाधर की बहुत प्रशंसा की गई है। बिल्हण विंध्य वर्मा का संधिविग्रहिक था, और बाल सरस्वती महाकवि मदन ने उसके नेतृत्व में काव्य-शास्त्र सीखा। आशाधर के अनेक शिष्य थे जैसे विशालकीर्ति, अर्हदास और देवचन्द्र, जिन्होंने अपने साहित्यिक योगदान से जैन धर्म का उत्थान किया।

1197 ई॰ (वि॰सं॰ 1264) में जिनपति सूरि ने धार की यात्रा की और शान्तिनाथ के मन्दिर में विधि मार्ग का प्रचार किया। तेरहवीं सदी के मध्य में देवधर उज्जैन में जैन मठ का मुखिया प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु वि॰सं॰ 1327 (1270 ई॰) में मालवा में हुई, और तेरह दिन पश्चात् उसका नियुक्त उत्तराधिकारी विद्यानन्दसूरि भी विद्यापुरी में मर गया। इसके पश्चात् विद्यानन्द सूरि का धर्मकीर्ति उपाध्याय को धर्मघोष के नाम से सूरिपद प्राप्त हुआ। उसका स्वर्गवास वि॰सं॰ 1387 (1300 ई॰) में हुआ।

गंधावल, बदनावर, ऊन, उज्जैन, आदि से प्राप्त अनेक मूर्तियों के अवशेषों से जैन धर्म की प्रगति और लोकप्रियता का पता चलता है। चौदहवीं सदी के पहले जैन तीर्थों के अस्तित्व की जानकारी जिनप्रभ सूरि के *विविध तीर्थ* से प्राप्त होती है, जो उज्जैन का कुडंगेश्वर, मंगलपुर का अभिनन्दनदेव, दशपुर का सुपार्श्व और भाइलस्वामीगढ़ के महावीर का उल्लेख करता है। मदनकीर्ति की *शासन चतुस्त्रिंशतिका* में मंगलपुर का

अभिनंदनजिन और बड़वानी का बावनगजा का बृहद्देव के रूप में नाम मिलते हैं। *जयानन्द प्रवारजगीतिका* में लक्ष्मी का उल्लेख है जो निमाड़ के समीप जंगल में स्थित है। धार जिले में तालनपुर नाम का तीर्थ है। वि॰सं॰ 1022 के मूर्ति अभिलेख में तुंगिपत्तन का नाम है। *प्राकृत निर्वाण काण्ड* जो गलती से कुन्द-कुन्द का बताया जाता है, चूलगिरि, पावागिरि और सिद्धवरकूट का उल्लेख करता है। चूलगिरि की पहचान बडवानी के बावनगजा से की जाती है और पावागिरि की ऊन से। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के जैन मन्दिरों और मूर्तियों के अवशेष बावनगजा और ऊन से प्राप्त हुए हैं।

मूर्तियों पर अंकित कुछ लेख जैन संघ और उनके आचार्यों पर प्रकाश डालते हैं। इन आचार्यों ने जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा का आयोजन किया। मूल संघ और इसके आचार्य रत्न-कीर्ति का उल्लेख वि॰सं॰ 1323 के अभिलेख में हुआ है। वि॰सं॰ 1230 के बदनावर से प्राप्त अभिलेख में इस संघ का नाम मिलता है। माथुर संघ की जानकारी जैन मूर्तियों पर बारहवीं सदी के बदनावर से प्राप्त जैन अभिलेखों से होती है। बागड़ संघ के कल्याणकीर्ति ने वि॰सं॰ 1308 में वर्धमानपुर (वर्तमान बदनावर) में जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। तासनपुर से प्राप्त वि॰सं॰ 1325 की जैन मूर्ति पर लाड़वागड़ गच्छ (काष्ठासंघ) का उल्लेख है। बदनावर में शांतिनाथ के जैन मन्दिर के अस्तित्व की जानकारी वि॰सं॰ 1229 के अभिलेख से होती है। खंडेलगच्छ की उत्पत्ति राजस्थान के खंडेला से हुई है, और इसका उल्लेख वि॰सं॰ 1325 के अभिलेख में मिलता है। माथुर संघ और इसके आचार्यों की जानकारी वि॰सं॰ 1308 के अभिलेख से होती है। पुन्नार संघ के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित बदनावर में एक मूर्ति है।[315]

अन्य राजपूत राजाओं के समान आबू के परमार राजाओं ने भी जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया। सिरोही के दियाणा नाम के ग्राम जैन मन्दिर में 967 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि कृष्णराज के राज्य में विष्टित कुल के वर्धमान द्वारा वीरनाथ की मूर्ति की स्थापना की गई।[316] यह अभिलेख बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह कृष्णराज की तिथि को भी निश्चित करता है। वह आबू का परमार राजा था, तथा अरण्यराज का पुत्र और उत्पलराज का पौत्र था। यह आबू के परमार राजाओं में सबसे प्राचीन है।

झाड़ोली के महावीर के मन्दिर के अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि परमार राजा धारा-वर्ष की पत्नी शृंगारदेवी ने 1197 ई॰ में मन्दिर को भूमि दान दी।[317] चन्द्रावती के राजा आल्हण सिंह के राज्य में 1243 ई॰ का अभिलेख पार्श्वनाथ के मन्दिर के हेतु दान

315. *म॰श्रू॰ए॰*, जिल्द 2, पृ॰ 503-04.

316. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰,* सं॰ 486.

317. वही, सं॰ 311.

का उल्लेख करता है।[318] 1288 ई॰ में महाराज बीसलदेव के राज्य में चन्द्रावती की सारंगदेव और दत्ताणी के ग्राम के परमार ठाकुर श्रीप्रताप और श्री हेमदेव ने पार्श्वनाथ के मन्दिर के व्यय के लिए भूमि के दो टुकड़े दिए।[319] रावल महीपाल देव के पुत्र सुहड़सिंह ने कुछ धार्मिक उत्साह का आयोजन करने हेतु इस मन्दिर को 400 द्रम दान दिए। दियाणा के 1334 ई॰ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजा तेजपाल और उसके मंत्री कूप ने होज बनवाया, और इसे महावीर के मन्दिर को दिया।[320]

चालुक्य

चूंकि चालुक्यों ने आबू को जीत लिया था, इसका सम्बन्ध भी अग्निकुल की कथा से हो गया। अणहिलपाटन (गुजरात में आधुनिक पाटन) के चालुक्य वंश की स्थापना मूलराज ने की है। इसके बाद के राजा मूलराज का भतीजा और दुर्लभराज का पौत्र भीम प्रथम ने करीब 1021 ई॰ से 1063 ई॰ अर्थात् बयालीस वर्ष तक राज्य किया। जब सुलतान गजनी चला गया, उसने अपनी राजधानी फिर से प्राप्त की और चालुक्य शक्ति को पुनर्जीवित किया। भीम के पश्चात् उसका पुत्र कर्ण राजा हुआ। 30 वर्ष (लगभग 1063-93 ई॰) के लम्बे समय तक राज्य करने के उपरांत भी उसको विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंह सिद्धराज था। अणहिलवाड़ के राजाओं में यह सबसे महत्त्वपूर्ण था और उसने 1093 ई॰ से 1145 ई॰ तक राज्य किया। जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् राजगद्दी पर कुमारपाल का अधिकार हुआ। वह शक्तिशाली व्यक्ति था, और उसने आक्रमणकारी नीति को अपनाया।

गुजरात समस्त चालुक्य काल में जैन धर्म का उन्नत केन्द्र रहा। गुजरात के चालुक्य राजाओं की राजसभा पर जैन धर्म का प्रभाव इस वंश के संस्थापक के समय से देखा जा सकता है। मूल बस्तिका नाम का जैन मंदिर अपनी राजधानी अणहिलपाटन व अणहिलवाड़ में मूलराज स्वयं के द्वारा बनाया गया बतलाया जाता है। श्रीचन्द्र के *कथाकोश* के अनुसार मूलराज का विधि सलाहकार (धर्मस्थानस्यं गौष्ठिकः) अणहिलवाड़ के प्राग्वाट जाति का सज्जन था, और सहस्रकीर्ति का शिष्य श्रीचन्द्र था। सहस्रकीर्ति के आध्यात्मिक पूर्वज कुन्द-कुन्द आम्नाय के श्रुतकीर्ति और श्रीकीर्ति थे जिन्होंने सज्जन के पुत्र कृष्ण को पढ़ाने हेतु इस ग्रंथ को लिखा। इस आम्नाय के आध्यात्मिक गुरुओं की प्रतिष्ठा उस समय के राजनैतिक जगत् की जानकारी कभी-कभी प्रशस्ति से मिलती है जहां सहस्रकीर्ति का वर्णन इस प्रकार है – पूज्यात्मा आचार्य जिसके उच्च कमल चरण

318. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1919-10, सं॰ 22.
319. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*, सं॰ 55.
320. वही, सं॰ 490.

प्रसिद्ध राजाओं जैसे गांगेय, भोजदेव व अन्य से पूजे जाते हैं। यहां संदर्भ कलचुरि राजा और मालवा के परमार राजा से है।

भीम के राज्य में प्राग्वाट वंश के उसके मंत्री विमल ने आबू में आदिनाथ का शानदार मन्दिर बनवाया। इस युग की भारतीय कला की सर्वोच्च अभिव्यक्ति यहां पायी जाती है। यह मंदिर अपनी उच्च ललित नक्काशी, शिष्टता और सौन्दर्यता के लिए विश्व में अनुपम माना जाता है। मन्दिर का निर्माण 1031 ई॰ में पूर्ण हुआ अर्थात् महमूद गजनी द्वारा सोमनाथ के नष्ट होने के सात वर्षों उपरान्त। *खरतरगच्छ पट्टावली* में उल्लेख मिलता है कि पोरवाल जाति के मंत्री ने तेरह सुल्तानों के छत्रों को जीता, चन्द्रावती की स्थापना की और अबुदाचल पर ऋषभदेव का मन्दिर बनवाया। विमल की ये गतिविधियां उसके स्वामी भीम की स्वीकृति का परिणाम थीं और संभवतः मुस्लिमों को नष्ट करने के स्वभाव के विपरीत थीं जो सोमनाथ और अन्य स्थानों पर देखने को मिलता है।

सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के राज्य में जैन धर्म का चालुक्य राज-सभा में बहुत प्रभुत्व हो गया। कुमारपाल अपने युग के प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र के प्रभाव से जैन धर्म का अनुयायी हो गया और उनकी प्रेरणा और नेतृत्व में गुजरात को अनेक जैन मन्दिरों से सुशोभित किया। अनुयायियों और संस्थाओं को ध्यान में रखते हुए सदा के लिए गुजरात जैन धर्म का बड़ा केन्द्र हो गया। इस सफलता का रहस्य धर्मान्धता नहीं वरन् विभिन्न धर्मों में सहयोग उत्पन्न करना था। यह जैन धर्म का मुख्य सिद्धांत है और इस पर हेमचन्द्र द्वारा वाचन और कर्म पर जोर दिया गया।

इस धर्म की निरन्तरता और अनुयायियों की समृद्धि पोरवाड़ जाति के तेजपाल द्वारा निर्मित तेजपाल मन्दिर से पुष्ट होती है। तेजपाल चालुक्य राजा सोमसिंह देव का मंत्री था। यह मन्दिर आबू के आदिनाथ मन्दिर के पड़ोस में है। यह 1230 ई॰ में बनकर पूर्ण हुआ। शिल्प-सजावट सौन्दर्यता में इसकी तुलना केवल आदिनाथ मन्दिर से की जा सकती है। इन दो मन्दिरों के अतिरिक्त बारहवीं और तेरहवीं सदी में अनेक जैन मन्दिर यहां निर्मित किये गए। इसी प्रसिद्धि के कारण इस स्थान का नया नाम देलवाड़ा पड़ा। इसके अतिरिक्त आबू और काठियावाड़ में शत्रुंजय और गिरनार पर राजाओं और वणिकों का विशेष ध्यान पड़ा। इनकी उदारता की जानकारी विशाल और रमणीय मन्दिरों से होती है जो पहाड़ियों की चोटियों को सजाते हैं। खांभात (केम्बे) के चिन्तामणि का पार्श्वनाथ का मन्दिर का निर्माण 1108 ई॰ में हुआ, और उसकी मरम्मत 1295 ई॰ में हुई। यहां के अभिलेखों में मालवा सपादलक्ष और चित्रकूट के श्रावकों के नाम हैं जिन्होंने समय-समय पर मन्दिर को दान दिया।[321]

321. आर॰सी॰ मजूमदार, *द स्ट्रगल फोर एम्पायर,* V, 427-29.

जयसिंह के उत्तराधिकारी का नाम कुमारपाल था जो शनैः-शनैः हेमचन्द्र के प्रभाव में आया और अंत में जैन धर्म को अपना लिया। उसने जैन धर्म के प्रचार हेतु अनेक कदम उठाये और कुछ निश्चित प्राचल या अनुपात में उसने अपने राज्य को एक आदर्श जैन राज्य बना लिया। उसने न केवल स्वयं जैन ग्रंथों में वर्जित आनन्द और सुखों को त्याग दिया अपितु अपनी जनता को भी उसके मार्ग पर चलने को बाध्य किया। उसने पशु जीवन की रक्षा हेतु आदेश निकाला और इसका समस्त साम्राज्य में कड़ाई से अनुसरण किया गया। *द्व्याश्रय काव्य* से ज्ञात होता है कि राजस्थान के पालि देश में ब्राह्मणों को यज्ञ में मांस के स्थान पर अनाज का प्रयोग करने हेतु बाध्य होना पड़ा और संन्यासियों को मृग चर्म पाना कठिन हो गया जिसको वे पहले पहनते थे। मेरुतुंग *युकाविहार प्रबन्ध* में उल्लेख करता है कि सपादलक्ष के एक साधारण वणिक को चूहे को कुचलने के अपराध में अपने समस्त धन को यूक विहार की कीमत को चुकाने का दण्ड दिया गया।[322] यह स्पष्टतः अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण होने के कारण अविश्वसनीय है।

हठुंडी के राठौड़

हठुंडी मारवाड़ में बीजापुर के पास स्थित है। राठौड़ दसवीं सदी में यहां शासन करते थे। साधारणतः वे जैन धर्मावलंबी थे। हरिविर्मन् के पुत्र विदग्धराज ने वासुदेवाचार्य के उपदेश से यहां पर ऋषभदेव का मंदिर बनाया, और इसको भूमि दान में दी। उसके पुत्र मम्मट ने इस मन्दिर को अनुदान दिया। उसके पुत्र का नाम धवल था जिसने अपने दादा द्वारा निर्मित जिन मन्दिर का पुनरुद्धार किया और हर प्रकार से जैन धर्म की कीर्ति को बढ़ाने में सहयोग दिया। उसने अपने पुत्र के साथ पीप्पल नाम के कूप का दान दिया। धवल ने वृद्धावस्था में अपने पुत्र बलप्रसाद को गद्दी पर बैठाकर संसार को त्याग दिया। हस्ति कुंडी की गोष्ठी ने भी इस मन्दिर का पुनरुद्धार किया। इसके ठीक होने पर मूर्ति का प्रतिष्ठा समारोह वासुदेवाचार्य के पुत्र शांतिभद्र द्वारा 1053 ई॰ में हुआ और अनेक श्रावकों ने इसमें भाग लिया। राष्ट्रकूटों ने अपने आपको सुवर्ण में तोला, और गरीबों को दान में बांट लिया।[323]

बयाना व श्रीपथा के यदुवंशी व सूरसेन राजा

यदुवंशी व सूरसेन के राज्य में पूर्व भरतपुर राज्य और मथुरा जिला सम्मिलित थे। अनुश्रुतियों से ज्ञात जैतपाल ग्यारहवीं सदी के पूर्व अर्धभाग में रखा जा सकता है। उसका उत्तराधिकारी 1044 ई॰ के बयाना अभिलेख में उल्लेखित विजयपाल था। उसका उत्तराधिकारी तहनपाल था जिसके पश्चात् क्रमशः धर्मपाल, कुंवरपाल और अजयपाल

---

322. *प्रबंध चिंतामणि*, पृ॰ 110.

323. *ना॰जै॰इं॰*, I, सं॰ 898.

(1150 ई॰) हुए। अजयपाल का उत्तराधिकारी हरिपाल था। हरिपाल का उत्तराधिकारी सहनपालदेव (1192 ई॰) हुआ। सहनपाल का उत्तराधिकारी कुंवरपाल ज्ञात होता है। कुंवरपाल के पश्चात् अनंगपाल गद्दी पर बैठा। अनंगपाल के पश्चात् क्रमशः पृथ्वीपाल, राज्यपाल और त्रिलोकपाल उत्तराधिकारी हुए। अंतिम को तेरहवीं सदी में रखा जा सकता है।

सूरसेन छठी से बारहवीं सदी ई॰ तक उस क्षेत्र में राज्य करते थे जिसमें भरतपुर जिला और मथुरा जिला सम्मिलित थे। जैन धर्म इस समय यहां पर बहुत फला-फूला। कुछ सूरसेन राजाओं ने इस धर्म को स्वीकार किया, और इसको प्रोत्साहन दिया। यहां अनेक जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा होने का पता चलता है। जैन आचार्यों ने यहां की यात्राएँ कीं और इनमें से कुछ ने इसको अपना निवास भी बनाया।

चूंकि प्राचीन समय में जैन धर्म मथुरा में प्रचलित था, इसका अस्तित्व इस युग में भी रहा। यहां पर जैन धर्म का सबसे प्राचीन चिह्न दसवीं सदी में मिलता है। प्रद्युम्नसूरि मेवाड़ के राजा अल्लट का समकालीन था, और उसका सपादलक्ष और त्रिभुवनगिरि की राजसभाओं में सम्मान होता था।[324] प्रद्युम्नसूरि के शिष्य अभयदेव सूरि द्वारा घनेश्वर सूरि को दीक्षित किया गया। त्रिभुवनगिरि का कर्दमभूपति धनेश्वर सूरि के समान प्रसिद्ध था। कर्दम उसका नाम था या उपाधि इसकी जानकारी नहीं है। उसने राजगच्छ की स्थापना की। वह मालवा के मुंज राजा का समकालीन कहा जाता है जिसकी मृत्यु 997 ई॰ में हुई।[325] इस कर्दमभूपति की पहचान 1155 ई॰ के अनंगपाल देव के ठाकरड़ा (डूंगरपुर) अभिलेख में उल्लेखित राजा पृथ्वीपाल देव उपनाम भर्त्रिपिट्ट से की जा सकती है।[326] इस अभिलेख में चार राजाओं के नाम हैं जैसे पृथ्वीपाल देव उपनाम भर्त्रिपट्ट, उसका पुत्र त्रिभुवनपाल देव, उसका पुत्र विजयपाल और उसका पुत्र सूरपाल देव। जिस वंश के वे थे, उसका उल्लेख नहीं है किन्तु वे सूरसेन राजा जान पड़ते हैं। बयाना की जिन मूर्ति के 994 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि वे बागड संघ के उपदेशों से तीन भाई सिंहक, यशोराज और नोन्नक द्वारा निर्मित करवाई गईं।[327] 994 ई॰ का जैन मूर्ति का पाद पीठ का अभिलेख और बिना मस्तक की महावीर की जैन मूर्ति का 1004 ई॰ का अभिलेख कटरा से प्राप्त हुए हैं।[328]

---

324. *पीटरसन्स रिपोर्ट्स*, 3, पृ॰ 158-162.
325. *जैन साहित्यों का संक्षिप्त इतिहास*, पृ॰ 197-98.
326. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1915-16, पृ॰ 3.
327. *प्रो॰रि॰अ॰स॰वे॰स॰*, 1909-10, पृ॰ 52.
328. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1909-10, सं॰ 1, 2.

दिगम्बर जैन कवि दुर्गदेव ने कुंभनगर के शान्तिनाथ के रमणीय मन्दिर में 1032 ई॰ में *रिष्टसमुच्चय* को पूरा किया जब लक्ष्मीनिवास राज्य करता था।[329] कुंभनगर की पहचान भरतपुर के समीप कामा से की जा सकती है। जहां तक राजा लक्ष्मीनिवास का प्रश्न है, उसकी पहचान वि॰सं॰ 1012 के बयाना के अभिलेख[330] में उल्लेखित चित्रलेखा के पुत्र लक्ष्मणराज से की जा सकती है। बयाना के 1043 ई॰ के अभिलेख में श्वेताम्बरों के काम्यक-गच्छ के जैन आचार्य विष्णु सूरि और महेश्वर सूरि के नाम हैं, और यह अभिलेख विजयपाल राजा के राज्य में महेश्वर सूरि की मृत्यु का उल्लेख करता है।[331] विजयपाल ने दुर्ग को फिर से बनवाया और उसमें परिवर्धन किया तथा अपने नाम पर उसका नाम विजयगढ़ रखा। काम्यकगच्छ की उत्पत्ति भरतपुर जिले के कामा से हुई और वह इस क्षेत्र तक ही सीमित रहा। अभिलेख में श्रीपथा नगर के उल्लेख से ज्ञात होता है कि बयाना का प्राचीन संस्कृत नाम श्रीपथा था। 1136 ई॰ के जैन अभिलेख की मूर्तियां बयाना तहसील के नरोली से प्राप्त हुई हैं।[332] इन मूर्तियों से सिद्ध होता है कि इन सबका प्रतिष्ठा समारोह एक समय पर हुआ था।

बयाना का अंतिम सूरसेन राजा कुमारपाल था जो 1154 ई॰ में राजगद्दी पर बैठा। जैन साधु जिनदत्त सूरि ने उसको उपदेश दिया। शांतिनाथ के मन्दिर पर स्वर्ण कलश और ध्वज रखने का समारोह जिनदत्त सूरि द्वारा आनन्द से मनाया गया।[333] जिनपति सूरि के दो शिष्य जिनपाल गणि और धर्मशील गणि इस स्थान के यशोभद्राचार्य के पास अध्ययन किया करते थे। जिनपति सूरि से सूचना प्राप्त करने पर त्रिभुवनगिरि के साथ यात्रा को गये, और अन्य संघ के साथ अपने आचार्य से 1188 ई॰ में मिले।[334] वादिदेव सूरि ने, जो बारहवीं सदी के उत्तर अर्धभाग में रहता था, त्रिभुवनगिरि के दुर्ग में किसी योग्य विद्वान् को हराया।[335] एक उपकेशगच्छ का मन्दिर भी वहां था।[336] इन तथ्यों से ज्ञात होता है कि सूरसेनों के समय इस क्षेत्र में जैन धर्म की उन्नति हो रही थी।

देहली के तोमर

तोमर अपनी राजधानी देहली से हरियाणा तक के प्रदेश में शासन करते थे। इस समय

329. *सि॰जै॰सिं॰*, जिल्द, 21 (इंट्रोडक्शन).
330. *एपि॰इंडि॰*, XXII, पृ॰ 120.
331. *इंडि॰एंटी॰*, XXII, पृ॰ 57.
332. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1920-21, पृ॰ 116.
333. *खरतरगच्छ बृहद् गुरूवावली*, पृ॰ 19.
334. वही, पृ॰ 34.
335. *भारतीय विद्या*, जिल्द 2, पार्ट 1, पृ॰ 62.
336. वही.

देहली के तोमर प्रतीहार राजा मिहिरभोज की प्रभुसत्ता को मानते थे। बज्रट, जज्जुक और गोग संभवतः देहली से सम्बन्धित थे। दसवीं सदी में तोमर और शाकम्भरी के चौहानों के मध्य युद्ध हुआ। तोमरों ने देहली में बारहवीं शताब्दी के मध्य तक राज्य किया जब चहमान विग्रहराज बीसलदेव ने उनको उखाड़ फेंका।

तोमर जैन धर्म के प्रति उदार थे। अनंगपाल तृतीय (1132 ई०) का मंत्री नट्ठलसाहु समृद्ध और विशुद्ध रूप से जैन श्रावक था। उसने देहली और अन्य स्थानों पर अनेक जैन मन्दिर बनवाये। उसने कवियों और विद्वानों को संरक्षण दिया, और अनेक जैन काव्यों को अपभ्रंश में लिखवाया।[337]

कलचुरि

कलचुरियों का शक्तिशाली सत्ता के रूप में उत्थान कोकल्ल प्रथम के समय हुआ, जिसने डाहलमंडल यानी जबलपुर क्षेत्र में राज्य स्थापित किया। इसके पश्चात् महत्त्वपूर्ण राजा गांगेयदेव का विजेता के रूप में वर्णन किया गया। उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। गांगेयदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी लक्ष्मीकर्ण कलचुरि राजाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व वाला राजा था। उसने 1041 से 1072 ई० के लम्बे समय के अधिकांश में उत्तर भारत में अपना प्रभुत्व जमाया। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल थे इसलिए उनको अपने स्थान से हटा दिया गया।

कलचुरि युग में जैन धर्म की उन्नति हुई, इसकी जानकारी गयाकर्ण के बहूमरीबन्द पाषाण के अभिलेख और अन्य पुरातात्त्विक अवशेषों से होती है। इस लेख में उल्लेखित है कि साधु सर्वधर के पुत्र महाभोज ने शान्तिनाथ का मन्दिर बनवाया। अभिलेख इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख करता है कि इसके ऊपर सफेद चंदवे का निर्माण सूत्रधार ने किया। शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा आचार्य सुभद्र ने की जो चन्द्रकर आचार्य की आम्नाय में देशी गण परंपरा का था। इस काल की अनेक जैन मूर्तियों के अवशेष त्रिपुरी, बिल्हरी और करीतलाई से प्राप्त हुए हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण जैन धर्म का केन्द्र सोहागपुर था। जूरा में भी जैन मूर्तियों के टुकड़े मिले हैं। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां आरंग, सिरपुर, मल्हार, धनपुर, रतनपुर और पद्मपुर से प्राप्त हुई हैं। मल्हार की मूर्तियां विशाल हैं।[338]

जिजाकभुक्ति (बुन्देलखंड) के चन्देल

अनुश्रुतियों के अनुसार चंदेलों की उत्पत्ति चन्द्र और ब्राह्मण कुमारी के मेल से हुई। ऐसा ज्ञात होता है कि चंदेल प्राचीनतम आदिवासी भार व गोंडों के वंशज थे। उनका उत्थान

---

337. *ज्यो०उ०प्र०जै०.*

338. *म०श्रू०ए०,* जिल्द 2, पृ० 410.

अपने राजा धंग (954-1008 ई॰) के नेतृत्व में गुर्जर-प्रतीहारों की सामन्ती स्थिति से हुई। स्वतंत्र होने पर उसने पूर्वी और पश्चिमी पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध किये। उसका उत्तराधिकारी विद्याधर (1017-29) महमूद गजनी के विरुद्ध लड़ा। उनके पतन के पहले वे मालवा के परमारों और नर्मदा के कलुचरियों के ऊपर सर्वोत्तम सत्ता के रूप में समझे जाते थे।

चन्देल राजाओं के प्रश्रय और वणिकों के प्रयत्नों से जैन धर्म की बड़ी उन्नति हुई, जिन्होंने मन्दिर बनवाये और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। पार्श्वनाथ के मन्दिर के 953-54 ई॰ के खजुराहो के अभिलेख में उल्लेख है कि पाहिल ने जो राजा धंग द्वारा सम्मानित था, अनेक प्रकार के उपहार और उद्यानों के दान दिये। शान्तिनाथ मूर्ति के वि॰सं॰ 1132 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि पाहिल गृहपति वंश के प्रति समर्पित था। इसमें यह भी उल्लेखित है कि कीर्त्तिवर्मन् के राज्य में शान्तिनाथ की मूर्ति पैतृक मंत्रियों के समूह जैसे पाहिल्ल और जीजू द्वारा प्रतिष्ठित की गई। वे वासवचन्द्र के शिष्य थे। एक मूर्ति का 1147-48 ई॰ का अभिलेख गृहपति वंश के पणिधर, उसके पुत्र श्रेष्ठिन् त्रिविक्रम, आल्हण और लक्ष्मीधर का उल्लेख करता है। दूसरी मूर्ति मदनवर्मन् के समृद्ध राज्य में पाहिल के पुत्र साल्हे द्वारा 1157-58 ई॰ में स्थापित की गई। साल्हे के पुत्र महेगण महिचन्द्र, श्रीचन्द्र, जिनचन्द्र और उदयचन्द्र थे। खजुराहो में दसवीं से बारहवीं सदी के कुछ जैन मन्दिर और अनेक जैन मूर्तियां हैं।

महोबा में अनेक जैन मन्दिर हैं, इनमें से कुछ चन्देल राजा जयवर्मन् (1117 ई॰), मदनवर्मन् और परमर्दी (करीब 1163 ई॰) के राज्य के हैं। परमर्दी के राज्य से 1180 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि गृहपति वंश के और वनपुर के निवासी श्रेष्ठिन् गल्हण के दो पुत्र जहड़ और उदयचन्द्र ने मदनेश सागरपुर (आहार) में शान्तिनाथ का चैत्य बनवाया। ऐसा जान पड़ता है कि पाड़ाशाह ने संयुक्त तीन मूर्तियां शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अर्हनाथ की प्रतिष्ठा वि॰सं॰ 1236 में भुबोन, आहारजी, बंजरगगढ़ और मनहरदेव में की। दुधई से जमीन से प्राप्त आधा दर्जन अभिलेखों में प्रसिद्ध चन्देल राजा यशोवर्मन् के पौत्र राजा देवलब्धि का उल्लेख है। देवगढ़ में जमीन से अनेक जैन मूर्तियां और मन्दिर निकले हैं। देवगढ़ राजा कीर्तिवर्मन् (कारब 1070-90 ई॰) के नाम पर कीर्तिगिरि जाना जाने लगा। जैसाकि *प्राकृत निर्वाण काण्ड* से ज्ञात होता है कि सोनगिरि, अहरजी, द्रोणगिरि और नैनागिरि (रेशन्दीगिरि) जैन तीर्थ स्थान थे, और चन्देल काल की अनेक ज़ैन मूर्तियां इन स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[339]

चन्देलों के राज्य में उत्तर प्रदेश के महोबा, कालंजर, देवगढ़, करगत, बाणपुर,

339. वही, पृ॰ 453.

चन्दपुरा, दुधई और सैरोना समृद्ध जैनियों के निवास स्थान थे। यहां अनेक जैन मन्दिर और मूर्तियां बनीं। दिगम्बर जैन साधु और विद्वान् जैसे कमलदेव, श्रीदेव, वासवचन्द्र, शुभचन्द्र और गुण-भद्र ने जैन धर्म के प्रचार हेतु इस क्षेत्र की यात्रा की। चन्देल राजा कीर्तिवर्मन् के राज्य में 1063 ई॰ में सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण हुआ। 1097 ई॰ में देवगढ़ में जैन मन्दिर बनाया गया। जयवर्मा के राज्य में 1112 ई॰ में अनेक जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। नेमिनाथ की मूर्ति 1154 ई॰ और सुमतिनाथ की 1156 ई॰ में रूपकार लखन द्वारा बनाई गई। प्रसिद्ध समृद्ध श्रावक रत्नपाल और उसके पुत्रों ने मन्दिर को बनवाया और 1163 ई॰ में उसका प्रतिष्ठा समारोह किया। गृहपति जाति के श्रेष्ठी महिपति ने नेमिनाथ जिनालय बनवाया और उसका प्रतिष्ठा समारोह किया। चन्देल परमाल (1165-1203 ई॰) के समय अनेक जैन मन्दिर और मूर्तियां बनीं। महोबा में 1167 ई॰ में जैन मन्दिर स्वयं राजा द्वारा निर्मित किया गया। चन्देल राजा वीरवर्मन् (1274-78 ई॰) के समय की जैन मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। प्रसिद्ध वणिक पाड़ाशाह (भैसाशाह) ने इस क्षेत्र में अनेक जैन मन्दिरों को बनवाया।[340]

कच्छपघाट

कच्छपघाट वंश की तीन शाखाएँ थीं जो क्रमशः ग्वालियर, दुबकुण्ड और नरवर पर राज्य करती थीं। ग्वालियर शाखा का सबसे प्राचीन राजा लक्ष्मण है। लक्ष्मण के पुत्र महाराजाधिराज वज्रदाम ने ग्वालियर के प्रतीहार राजा को हराकर 977 ई॰ में व पहले अपनी सत्ता स्थापित की। दूसरी शाखा का सबसे प्राचीन राजा अर्जुन है जिसकी राजधानी चंदोम (दुबकुंड) थी। तीसरी शाखा की तीन पीढ़ियों की जानकारी है। तेरहवीं सदी के प्रथम अर्धभाग में वज्रपाल व जजेपल्ल वंश ने नरवर पर अपनी सत्ता स्थापित की। चाहड़देव ग्वालियर, चन्देरी, नरवर और मालव क्षेत्र का अस्तित्व इस काल के सबसे महान् राजाओं में था।

कच्छपघाटों, प्रतीहारों और यज्वपालों के समय जैन धर्म ने बड़ी उन्नति की। इन तीनों वंशों के राजा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थें परन्तु जैन धर्म के उत्थान में भी रुचि दिखाते थे। जैन मूर्ति के 1077 ई॰ के पादपीठ के अभिलेख में उल्लेखित है कि ग्वालियर शाखा के कच्छपघाट राजा महाराजाधिराज वज्रदामन के समय जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई। दुबकुंड के पाषाण अभिलेख से ज्ञात होता है कि लाटवागट गण के जैन साधु विजयकीर्ति के उपदेश से प्रेरित होकर कुछ जैन श्रावकों ने जैन मन्दिर बनवाया और दुबकुण्ड शाखा के कच्छपघाट के शासक महाराजाधिराज ने भूमि और अन्य वस्तुएं इस मन्दिर हेतु 1088 ई॰ में दान दीं। दुबकुण्ड में काष्ठासंघ से महान् आचार्य देवसेन का

340. *ज्यो॰ उ॰प्र॰ जै॰.*

1095 ई॰ का स्तंभ स्मारक रूप में है। सिहोनिआ, मनहरदेव ओर सोनगिरि कच्छपघाटों के राज्य में जैन धर्म के बड़े केन्द्र हो गए क्योंकि यहां से अनेक जैन मन्दिरों और मूर्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

विदिशा जिले में बड़ोह के जैन मन्दिर में 1056 ई॰ के जैन अभिलेख में यात्री के नाम का उल्लेख है और 1077 ई॰ के अभिलेख में देवचन्द्र यात्री का नाम है।

चन्देरी के प्रतीहारों और बाद में नरवर के यज्जवपालों के समय चन्देरी, बूढ़ी चन्देरी, थुवोन, भमोन, देवगढ़, आदि जैन धर्म के बड़े केन्द्र हो गए। 1226 ई॰ में अनेशाह द्वारा प्रतिष्ठित कुछ मूर्तियां खंडगिरि से प्राप्त हुई हैं। 1262 ई॰ के नरवर के अभिलेख में उल्लेखित है कि यज्जवपाल राजा आसलदेव के अधिकारी जैत्रसिंह ने मंदिर का निर्माण करवाया। नागदेव जैन मन्दिर में मूर्ति प्रतिष्ठित करता हुआ जान पड़ता है।[341]

बंगाल के पाल और सेन

शशांक की मृत्यु के पश्चात् बंगाल में करीब एक सौ वर्षों तक अराजकता रही। इस अराजकता को दूर करने के लिए इस क्षेत्र के विशिष्ट लोगों ने 750 ई॰ में गोपाल को अपना राजा चुना। उसने 750 ई॰ में पाल साम्राज्य की स्थापना की। पाल वंश का सबसे शक्तिशाली राजा गोपाल का पुत्र धर्मपाल था जिसने 770 से 810 ई॰ तक शासन किया। इस समय कन्नौज पर अधिकार करने हेतु प्रतीहारों, राष्ट्रकूटों और पालों में त्रिकोणात्मक संघर्ष शुरू हुआ। पहले प्रतीहार राजा वत्सराज ने धर्मपाल को हराया। उसके चले जाने पर धर्मपाल ने अपने को उत्तर भारत का स्वामी बना लिया। उसने अन्य राजा को गद्दी पर बैठाकर कन्नौज में दरबार लगाया। प्रतीहार राजा नागभट्ट द्वितीय ने तुरन्त धर्मपाल को हराया। धर्मपाल का पुत्र देवपाल अपने पिता की अपेक्षा सैनिक पराक्रम में अधिक योग्य था। उसने चालीस वर्ष के राज्य में उत्तर भारत में सर्वोत्तम राजा की स्थिति प्राप्त कर ली। उसका प्रत्यक्ष राज्य बंगाल और बिहार से अधिक विस्तार में नहीं लगा। बारहवीं सदी में देवपाल के पश्चात् पालों के पतन में अधिक समय नहीं लगा। मुसलमानों के आगमन से पहले बंगाल के सेनों ने बारहवीं सदी में अपनी सत्ता स्थापित कर ली और अंत में पालों की शक्ति को नष्ट कर दिया।

बंगाल और बिहार में पालों और सेनों के समय जैन धर्म का शनैः-शनैः पतन शुरू हुआ। पाल युग का जैन अभिलेख बारागांव से भी प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख राज्यपाल के शासन के 24वें वर्ष का है जो दसवीं सदी ई॰ पूर्व अर्धभाग में राज्य करता था। इस

---

341. *म॰थ्रू॰ए॰*, जिल्द 2, पृ॰ 563.

अभिलेख का उद्देश्य वैश्य जाति के मनोरथ के शिष्य वैद्यनाथ का मन्दिर की यात्रा करना था। इसके अतिरिक्त इस काल की कुछ मूर्तियां नालंदा में भी मिली हैं।[342]

जैन तीर्थंकरों की दो मूर्तियां बनिया से प्राप्त हुई हैं। पाल युग की एक महावीर की मूर्ति (काले बैसॉल्ट में) वैशाली से भी मिली है। जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक मूर्तियां राजगृह से मिली हैं।

नौ से ग्यारहवीं सदी के काल की कांसे की उनतीस मूर्तियां धनबाद जिले के अलौर स्थान से प्राप्त हुईं। शाहबाद जिले में जैन तीर्थंकरों की अनेक मूर्तियां हैं। चौसा के संग्रह में दसवीं-ग्यारहवीं सदी के बाद की मूर्तियां नहीं हैं। दसवीं व ग्यारहवीं सदी ई॰ की अनेक जैन मूर्तियां नेशनल म्यूजियम, न्यू देहली में हैं।[343]

एक विशाल और रमणीय जैन मूर्ति दिनाजपुर जिले के सुरहर नाम के गांव से प्राप्त हुई है। कुछ अन्य जैन मूर्तियां भी इस स्थल से मिली हैं। जैन मूर्तियां मालदा जिला, बंगाल से भी मिली हैं। इन मूर्तियों से यह सिद्ध होता है कि इस काल में जैन धर्म का प्रभाव था।[344]

यशस्तिलकचम्पू के प्रसिद्ध लेखक सोमदेव का उल्लेख शक संवत 888 के अभिलेख में है। चूंकि उसको गौड़ संघ का बतलाया गया है, वह मूल में बंगाल का साधु जान पड़ता है। इस समय बंगाल में जैन धर्म का प्रचलन था, और जैन साधुओं का आदर होता था। सोमदेव अपने ग्रंथ में दक्षिण बंगाल के प्राचीन बन्दरगाह ताम्रलिप्त के जैन चैत्य का उल्लेख करता है। दसवीं सदी में बंगाल में जैन धर्म के पतन से इस राज्य के साधुओं ने अन्य भागों में शरण ली।[345]

उड़ीसा का केशरी वंश

उदयगिरि-खंडगिरि गुफाओं से दिगम्बर जैन अभिलेख प्राप्त हुए हैं। ये दसवीं सदी ई॰ के हैं, और वे उड़ीसा के केशरी वंश के उद्योतकेशरी के राज्य में अंकित किये गये थे। ललितेन्दु केशरी गुफा से प्राप्त पहला अभिलेख[346] उद्योतकेशरी के राज्य के पांचवें वर्ष में अंकित किया गया, और यह प्राचीन जैन मन्दिरों की मरम्मत का उल्लेख करता है। इसमें यशनन्दि नाम के जैन साधु का नाम भी सुरक्षित है। यह अभिलेख उदयगिरि-खंडगिरि पहाड़ियों का कुमारी पर्वत के रूप में उल्लेख करता है। यह खारवेल के कुमारी

342. बी॰के॰ तिवारी, *जैनिज्म इन बिहार*, पृ॰ 169.
343. वही.
344. *तुलसी प्रज्ञा*, जिल्द 6, सं॰ 10, पृ॰ 6.
345. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 171-72.
346. *एपि॰इंडि॰*, XIII, पृ॰ 165.

पर्वत की भी याद दिलाता है। इस पर्वत का साहित्यिक संदर्भ भी मिलता है। हरिसेण की 931 ई॰ में रचित *बृहतकथा कोश*[347] में ओड्रविषय के कुमारगिरि का उल्लेख है। यह कुमारगिरि व कुमारीगिरि एक ही रूप में है।

उद्योतकेशरी के राज्य के अठारहवें वर्ष के दूसरे अभिलेख[348] में कुलचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र को देशीगण और आर्य संघ ग्रह कुल का बतलाया गया है। कर्नाटक और मध्य प्रदेश[349] के विभिन्न स्थानों से प्राप्त अभिलेखों से भी देशीगण जाना जाता है। इसी पहाड़ी में से प्राप्त अन्य लेख में भी उपर्युक्त मुनियों[350] का उल्लेख है। इन अभिलेखों से सिद्ध होता है कि जैन धर्म दसवीं सदी ई॰ तक उड़ीसा में निरन्तर जीवित रहा। बाद में यह शनैः-शनैः पूर्ण लुप्त हो गया।

पंजाब, हिमाचल प्रदेश और हरियाणा

पंजाब, हिमाचल प्रदेश और हरियाणा में जैन धर्म के अस्तित्व की जानकारी के केवल कुछ प्रमाण हैं। हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा के महत्त्वपूर्ण अभिलेख[351] में राजकुलगच्छ के दो जैन साधुओं के उल्लेख मिलते हैं। राजकुलगच्छ और राजगच्छ दोनों संभवतः एक ही हैं। किसी सिद्धराज को श्री अमलचन्द्र के शिष्य के रूप में वर्णन किया जाता है। अमलचन्द्र, अभयचन्द्र सूरि का शिष्य था। सिद्धराज का पुत्र घंग था और घंग का पुत्र चष्टक था। चष्टक की पत्नी रल्हा थी। उसके दो पुत्र थे और दोनों जैन धर्म के प्रति समर्पित थे। बड़े का नाम कुंडलक था और छोटे का नाम कुमार था। ऐसा ज्ञात होता है कि वे पार्श्वनाथ की मूर्ति निर्माण हेतु उत्तरदायी थे। यह अभिलेख 854 ई॰ का जान पड़ता है।[352]

कश्मीर का एक श्रावक रत्ना (रयण) ने रैवतक की पवित्र पहाड़ी पर 932 ई॰ में नेमिनाथ की मणिबिम्ब की स्थापना की।[353] इससे प्रकट होता है कि दसवीं सदी में कश्मीर में कुछ जैन थे। पुरातात्त्विक प्रमाणों[354] से सिद्ध होता है कश्मीर के कुछ स्थानों में लोग जैन धर्म से पूरे अज्ञात नहीं थे। अभी हाल में आठवीं और नवीं शताब्दी की कुछ जैन

347. 61, 67 संपा॰ ए॰एन॰ उपाध्ये द्वारां.
348. *एपि॰इंडि॰*, XIII, पृ॰ 165.
349. *जै॰शि॰सं॰*, 4, पृ॰ 7.
350. वही, 4, सं॰ 95.
351. *एपि॰इंडि॰*, I, पृ॰ 120.
352. वही.
353. *पुरातन प्रबंध संग्रह*, पृ॰ 97, *सि॰जै॰सि॰*, 10, पृ॰ 9 (*विविधतीर्थकल्प*).
354. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰जम्बू॰ और कश्मीर*, 1917-18, पृ॰ 7, 1918-19, पृ॰ 3.

मूर्तियां पंजाब से प्राप्त हुई हैं।[355] हिमाचल क्षेत्र से हमें बाद के अभिलेख मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जैन धर्म बहुत बाद तक इन क्षेत्रों में कैसे चलता रहा।

सिंधु देश में मौटे तौर पर मुल्तान, मुजफ्फरगढ़ और मोंट गोमरी शामिल थे। इस क्षेत्र में जैन धर्म का मुख्य केन्द्र मुल्तान था। खरतरगच्छ के जिनदत्त सूरि ने 1169 ई॰ में अपना चातुर्मास यहां बिताया था। कोमलगच्छ का अस्तित्व मुल्तान में पहले से ही था। खरतरगच्छ के अनुयायियों और कोमलगच्छ के मध्य सम्बन्ध हार्दिक नहीं थे।[356]

राष्ट्रकूट

राष्ट्रकूट शब्द का अर्थ पद के अधिकारी हैं, जिनके अधीन भूमि भाग है और जो राष्ट्र कहे जाते हैं। राष्ट्रकूटों के राज्य की स्थापना दन्तिदुर्ग ने की, जिसने 750 ई॰ में चालुक्यों को उखाड़ फेंका, और अपनी राजधानी आधुनिक शोलापुर के समीप मान्यखेट व मालखेड़ में निश्चित की। राष्ट्रकूटों ने शीघ्र समस्त उत्तर महाराष्ट्र के क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उनको गुजरात और मालवा पर आधिपत्य के लिए प्रतीहारों से लड़ना पड़ा। यद्यपि उनके आक्रमणों के परिणामस्वरूप गंगा की घाटी तक राष्ट्रकूट साम्राज्य नहीं फैल पाया पर उन्होंने खूब लूट की, और राष्ट्रकूटों की ख्याति में वृद्धि की। राष्ट्रकूट निरन्तर वेंगी (आधुनिक आन्ध्र प्रदेश) के पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध लड़े, दक्षिण में कांची के पल्लवों से और मदुराई के पांड्यों से भी उनके युद्ध हुए। संभवतः राष्ट्रकूटों में सबसे बड़े राजा इन्द्र तृतीय (914-22 ई॰) और कृष्ण तृतीय (934-65 ई॰) थे। महिपाल की हार और 915 ई॰ में कन्नौज लूट के पश्चात् इन्द्र तृतीय अपने समय का सबसे शक्तिशाली राजा था। वह मालवा के परमारों और वेंगी के चालुक्यों के विरुद्ध संघर्ष में जुटा रहा। वह तंजौर के चोल राजाओं के विरुद्ध भी लड़ा। कृष्ण तृतीय की मृत्यु के पश्चात् अन्य राष्ट्रकूट सामन्त उठे और अपने आपको स्वतंत्र बना लिया। इस प्रकार राष्ट्रकूट साम्राज्य का अन्त हुआ।

राष्ट्रकूट युग दक्षिण में जैन धर्म के इतिहास में सबसे अधिक उन्नति का युग था। इस युग में अनेक जैन लेखक और प्रचारक हुए। वे लोगों की शिक्षा में रुचि लेते थे। जैनियों द्वारा बहुत से मठों की स्थापना और उनमें रहवासियों के लिए आहार और औषधियों की व्यवस्था की गई, और ऐसा विधान जैनियों के लिए भी किया गया। अधिकतर राष्ट्रकूट राजा न केवल जैन धर्म के महान् संरक्षक थे किन्तु जैन धर्म के प्रति उनका स्पष्ट झुकाव भी था। राष्ट्रकूटों के बहुत से सामंत और अधिकारी जैन थे। अल्तेकर[357]

---

355. *को.हि.जै.*, जि. 1, पृ॰ 170.

356. *जैन जर्नल महावीर जयंती स्पेशल*, पृ॰ 195-96.

357. *राष्ट्रकूटस् एण्ड देयर टाइम्स*, पृ॰ 313.

के अनुसार यह बहुत संभव है कि इस युग में दक्षिण की कम-से-कम एक तिहाई जनसंख्या जैन धर्म का पालन कर रही थी।

श्रवणबेलगोला के 1229 ई॰ के अभिलेख के आधार पर यह माना जाता है कि महान् दार्शनिक अकलंक को दन्तिदुर्ग द्वारा संरक्षण दिया गया।[358] सबसे प्राचीन राष्ट्रकूट जैन अभिलेख श्रवणबेलगोला से प्राप्त हुआ है।[359] इसमें ध्रुव के पुत्र और गोविन्द तृतीय के बड़े भाई रणावलोक कम्बय्य के राज्य का उल्लेख है। यह राजकुमार ध्रुव का सबसे बड़ा बेटा था और अपने प्रख्यात पिता के अधीन गंगवाड़ी का गवर्नर था। यह अभिलेख दान का उल्लेख करता है, और जैन धर्म के प्रति कम्बय्य का अनुराग सिद्ध करता है। शक संवत 724 के मन्न ताम्रलेख[360] से भी ज्ञात होता है कि राजकुमार का जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण था।

स्तम्भ का छोटा भाई और ध्रुव का उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय संभवतः जैन धर्म का प्रशंसक था। 814 ई॰ का कदम्ब ताम्रपत्र[361] प्रभूतवर्ष के राज्य का उल्लेख करता है जो गोविन्द तृतीय के अतिरिक्त कोई नहीं है। अर्ककीर्ति विमलादित्य पर से शनिग्रह के दूषित प्रभाव को दूर करने में सफल हुआ। विमलादित्य चाकिराज की बहन का पुत्र था और समस्त गंग प्रदेश का राजा था। इस अभिलेख से स्पष्ट है कि विमलादित्य गंगवाड़ी के सर्वोच्च गवर्नर चाकिराज के अधीन चालुक्य राजा था। अनुग्रही विमलादित्य और उसका चाचा चाकिराज शिलाग्राम में जैन मन्दिर के लिए समस्त ग्राम देकर प्रसन्न हुए। यह ग्राम मान्यपुर के पश्चिम की तरफ था।

गोविन्द तृतीय का उत्तराधिकारी अमोघवर्ष प्रथम 814 ई॰ में गद्दी पर बैठा। वह नवीं सदी में जैन धर्म के संरक्षकों में सबसे बड़ा था। नासिक जिले में एक जैन मन्दिर था जिसका नाम अमोघवर्ष के नाम पर रखा गया। अमोघवर्ष के 859 ई॰ के राज्य का टूटे हुए पाषाण का अभिलेख नागलूर द्वारा नागुल बसति नाम के जैन मन्दिर के निर्माण का उल्लेख करता है। यह अभिलेख मन्दिर के लिए अनेक ग्रामीणों द्वारा भूमि दान उपहार जीवनकाल दस्तावेज के रूप में उल्लेख करता है। यह उपहार मन्दिर की ओर से सिंधवुर गण के आचार्य नागनंदिन द्वारा स्वीकार किया गया।

धारवाड़ जिला, नवलगुंड तालुक, कोन्नूर ग्राम के पाषाण अमोघवर्ष के राज्य के 860

---

358. *एपि॰कर्णा॰*, II, सं॰ 67.

359. वही, सं॰ 25.

360. वही, IX, सं॰ 61.

361. *एपि॰इंडि॰*, IV, पृ॰ 332, *इंडि॰एंटी॰*, XII, पृ॰ 11.

ई॰ के अभिलेख[362] में उल्लेखित है कि अपने अधीन सामंत बकेश (बंकेय) की प्रार्थना पर उसकी महत्त्वपूर्ण की हुई सेवाओं को मानते हुए उसके द्वारा स्थापित देवालय के लाभ के लिए अमोघवर्ष ने तेलेचुर ग्राम व अन्य ग्रामों की भूमि मूल संघदेशीय गण और पुस्तकगच्छ के त्रिकाल योगीश के शिष्य साधु देवेन्द्र को दी। यह ध्यान देने योग्य है कि अभिलेख के पद में विष्णु और जिनेन्द्र से आशीर्वाद मांगा गया था। इसमें जैन धर्म की भावना भी प्रकट होती है।

अनेक साहित्यिक ग्रंथ स्पष्टया सिद्ध करते हैं कि अमोघवर्ष जैन धर्मावलंबी बनाया गया था। अमोघवर्ष प्रथम का समकालीन और *उत्तर पुराण* का लेखक गुणभद्र दृढ़ता से स्वीकार करता है कि उसका आचार्य जिनसेन प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा का गुरु था।[363] अमोघ-वर्ष स्यादवाद् के जैन सिद्धांत में विश्वास करता था। महावीराचार्य के *गणितसार संग्रह* में उसके बारे में कहा गया है जो सम्राट् का ठीक समकालीन था।[364] अमोघवर्ष स्वयं अपनी *प्रश्नोत्तर रत्नमाला*[365] में वर्धमान की उपासना करता है।

कुछ समकालीन जैन लेखक इस महान् राष्ट्रकूट राजा के लिए स्पष्टतया उत्साह व्यक्त करते हैं। समकालीन जैन वैयाकरण शाकटायन ने अपनी स्वयं के *व्याकरण ग्रंथ* पर टीका लिखी और उसका नाम *अमोघवृत्ति* रखा। इससे उसका राष्ट्रकूट सम्राट् के प्रति सम्मान का पता चलता है। जिनजेन स्वयं इस महान् राष्ट्रकूट सम्राट् की बहुत प्रशंसा करता है। *ओषधि ग्रंथ कल्याण कारक*[366] का लेखक उग्रादित्य अन्य समकालीन लेखक था और इस ग्रंथ की रचना रामगिरि पर हुई थी। उसने श्री तुंगवल्लभ महाराजाधिराज की राजसभा में मांस भोजन की निरर्थकता पर भाषण दिया। श्री तुंगवल्लभ कोई अन्य न होकर अमोघवर्ष ही था। कविराज मार्ग के कुछ पद्य जिन की स्तुति में हैं।[367] प्रसिद्ध दिगम्बर *धवला* और *जयधवला* नाम की टीकाओं का नाम अमोघवर्ष से पड़ा जो *धवल* और *अतिशय धवल* के रूप में हैं। जैन धर्म का उस पर इतना प्रभाव था कि उसको एक से अधिक बार गद्दी को त्यागना पड़ा था।

राजा अमोघवर्ष का पुत्र और उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय था। उसने गुणभद्र को अपने पुत्र कृष्ण द्वितीय का गुरु नियुक्त किया। यदि वह पूर्ण श्रावक नहीं था तो वह कम-से-

---

362. वही, VI, पृ॰ 25.
363. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 204.
364. वही.
365. वही.
366. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 204.
367. *मैसूर गजेटियर*, 2, पृ॰ 741.

कम जैन धर्म का आश्रयदाता अवश्य था। 702 ई॰ के मूलगुंड के अभिलेख[368] में उल्लेखित है कि कृष्ण द्वितीय के समय वरवैश्य जाति का चन्द्रार्य का पुत्र चिकार्य धवल विषय के गवर्नर ने मूलगुंड नगर में जिन का बड़ा मन्दिर बनवाया। उसका अनुज भ्राता असीर्य जो नवीन आगम में प्रवीण बताया गया है, ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनालय की देखभाल हेतु दान दिया।

कृष्ण द्वितीय *उत्तरपुराण* के लेखक गुणभद्र का संभवतः आश्रयदाता था। यह ग्रंथ गुणभद्र के शिष्य लोकसेन द्वारा कृष्ण द्वितीय के राज्य में पूर्ण हुआ। लोकसेन का आश्रय-दाता लोकादित्य था जो राष्ट्रकूट राजा के अधीन वनरासी में बांकीपुर का गवर्नर था। जैसा- कि हमको *उत्तरपुराण*[369] की प्रशस्ति से ज्ञात होता है यह लोकादित्य जैन धर्म का आश्रयदाता था। गुणभद्र स्वयं दावा करता है कि कृष्ण द्वितीय उसका शिष्य था।[370] श्रवण- बेलगोला का अभिलेख[371] परवादिमल्ल नाम के साधु को कृष्ण से जोड़ते हैं जिसकी पहचान राष्ट्रकूट से की जाती है। अन्य जैन अभिलेख[372] (902 ई॰) में लोकादित्य और उसके स्वामी कृष्ण द्वितीय का उल्लेख है।

अन्य राजा इन्द्र तृतीय का भी जैन धर्म के प्रति आकर्षण रहा। दाहवुलपाडु स्तंभ अभिलेख[373] से ज्ञात होता है कि राजा इन्द्र तृतीय के सेनापति श्रीविजय ने स्वतः इस संसार को त्याग दिया और जैन साधु हो गया। इसी स्थान से[374] इन्द्र तृतीय का एक अन्य अभिलेख प्राप्त हुआ। 916 ई॰ का इन्द्र तृतीय के राज्य का कर्नाटक के धारवाड़ जिला करजगी तालुक से प्राप्त अभिलेख[375] में उल्लेख है कि महासामंत लेन्डेयरस ने व्युतव्यूर नाम के ग्राम को दान दिया। इन्द्र तृतीय का एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख नासिक जिले से भी मिला है। कर्नाटक के बेलगांव जिले के करीब 900 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि मणिचन्द्र के गुरु नेमिनाथ नाम के जैन साधु थे जो समुद्र में चन्द्रमा के समान थे।[376] यह राष्ट्रकूट राजाओं का समय था। प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा इस साधु का बहुत सम्मान किया गया।

---

368. *एपि॰इंडि॰*, XIII, पृ॰ 190, *जै॰शि॰सं॰*, 2, पृ॰ 137.
369. *मेडिवल जैनिज्म*, पृ॰ 89.
370. वही, पृ॰ 39.
371. *एपिकर्ण*, पृ॰ 67.
372. *मेडिवल जैनिज्म*, पृ॰ 207 *जै॰शि॰सं॰*, 4, सं॰ 77.
373. *आ॰स॰इ॰ए॰रि॰*, 1905-06 पृ॰ 121.
374. *इंडि॰एंटी॰*, XII, 1928-29, पृ॰ 125.
375. *आ॰स॰इं॰ए॰डि॰*, 1928-29, पृ॰ 125.
376. *द एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज*, पृ॰ 13.

गोविन्द चतुर्थ के राज्य के दो जैन अभिलेख 925 ई॰ और 932 ई॰ के हैं।[377] दोनों की खोज आधुनिक कर्नाटक राज्य से हुई है। 925 ई॰ के पहले अभिलेख में नागप्प द्वारा जिनालय के निर्माण का उल्लेख है।[378] इसमें बंकपुर के घोर जिनालय की भी जानकारी मिलती है जिसके मुखिया गुरु चन्द्रप्रभ भटार थे। इस पुरोहित को असुन्दी नाम के ग्राम पर शासन करते हुए बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्राम इस मन्दिर के लिए दान के रूप में था। 932 ई॰ का दूसरा अभिलेख बल्लेरी जिला अदोनी तालुक से प्राप्त हुआ। इसमें उल्लेखित है कि सिंदवाडी के गवर्नर (महासामंत) कन्हर की पत्नी रानी चंदी यब्बे ने जैन मन्दिर का निर्माण करवाया। ऐसा कहा जाता है कि इस रानी ने नन्दवर में जैन मन्दिर बनवाया और इसकी देखभाल की ठीक व्यवस्था की। यह अभिलेख पद्मनंदिन नाम के जैन आचार्य का भी उल्लेख करता है। यह कन्हर कृष्ण तृतीय नाम का राजकुमार है जो अपने चचेरे भाई गोविन्द चतुर्थ के अधीन गवर्नर था।[379]

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश के राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसके राज्य के दो अभिलेख रायचूर जिले के कोपबल तीर्थ-क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। 940 ई॰ का प्राचीन अभिलेख[380] अकाल वर्ष वन्नर्देव का उल्लेख करता है और वह कृष्ण तृतीय के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। कोपबल के समीप प्राप्त 964 ई॰ का जैन अभिलेख[381] महत्त्वपूर्ण है। यह शंकरगंड द्वितीय नाम के राष्ट्रकूट सामन्त राजा का उल्लेख करता है जिसने जयधीर जिनालय बनवाया। जिनालय का नाम उसके नाम पर पड़ा। इस राजा का नाम कन्नड़ कवि अजित की *तीर्थंकर पुराणतिलकम्*[382] में पाया जाता है जिसने इसकी रचना 993 ई॰ में की। इस कवि के अनुसार शंकरगण एक महान् जैन संरक्षक था। सम्मिलित साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह राष्ट्रकूट गवर्नर दसवीं सदी में कर्नाटक में जैन धर्म का प्रवर्तक था। इस अभिलेख में इसको दी गई रट्टरमेरु उपाधि से यह ज्ञात होता है कि शंकरगण राष्ट्रकूट वंश का था। इस अभिलेख से अतिरिक्त जानकारी भी मिलती है कि अन्य राष्ट्रकूट सामंत रट्टय ने जो चालुक्य वंश का था, शंकरगण्ड द्वितीय द्वारा स्थापित मंदिर को कुछ भूमि दान दी, और नागनंदि पंडित भटार ने मंदिर की तरफ से दान प्राप्त किया।

---

377. *बॉम्बे कर्नाटक इंस्क्रिपशन्स* I, I, सं॰ 34.
378. *एनुअल रिपोर्ट ऑफ साउथ इंडिया*।
379. *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स*, पृ॰ 149.
380. *जै॰शि॰सं॰*, 3, सं॰ 48.
381. वही, सं॰ 46.
382. *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स*, पृ॰ 370.

कृष्ण तृतीय के राज्य के कुछ अन्य अभिलेखों की भी जानकारी मिलती है। इनमें से एक अभिलेख[383] तमिलनाडु (उत्तर अर्कोट) पोलूर के समीप तिरुमलाई पहाड़ी से प्राप्त हुआ है। इसमें उल्लेखित है कि कृष्ण तृतीय की रानी के सेवक ने यक्ष को तिरुमलाई की पहाड़ी के तीर्थ पर दीपक का उपहार दिया। एक दर्जन से अधिक जैन अभिलेख और अनेक शैल-कृत जैन मूर्तियाँ इसी पहाड़ी से प्राप्त हुईं। कृष्ण तृतीय के समय का एक अन्य अभिलेख[384] धारवाड़ जिले के रोण तालुक में नरेगल से भी प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार बूटुग की पद्मब्बरेसी नाम की पत्नी ने नरेगल में एक जैन मंदिर बनवाया, और 950 ई॰ में मंदिर से लगे हुए भिक्षागृह को तालाब का दान नमयर मारसिंहय्य नाम के अधीन राजा द्वारा दिया गया।

प्रसिद्ध जैन कवि सोमदेव ने इस महान राष्ट्रकूट सम्राट् के राज्य में 881 शक संवत में *यशस्तिलकचम्पू* लिखा। अन्य जैन विद्वान् इन्द्रनंदि योगिन्द्र ने शक संवत् 861 में कृष्ण तृतीय के राज्य में मालखेड़ में *ज्वालामालिनी-कल्प*[385] लिखा।

कृष्ण तृतीय के भाई और उत्तराधिकारी खोट्टिग के राज्य के भी कुछ अभिलेख हैं। चितलदुर्ग जिले के 908 ई॰ के लेख में उल्लेखित है कि खोट्टिग के चालुक्य सामंत पंडच्च की पत्नी जक्की सुन्दरी ने जैन मंदिर बनवाया जिसके लिए उसके स्वामी ने दान दिया[386]। उसके राज्य का जैन धर्म की स्तुति करता अन्य अभिलेख भी धारवाड़ जिले से प्राप्त हुआ।[387]

राष्ट्रकूट वंश में अंतिम प्रमुख नाम राजा इन्द्र चतुर्थ का है। श्रवणबेलगोला के 982 ई॰ के लेख[388] से ज्ञात होता है कि वह सच्चे जैन के तुल्य मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसकी बढ़ा-चढ़ा-कर प्रशंसा की गई है और हमें बतलाया गया है कि महावीर के सिद्धान्त में विश्वास करने वाला वह कभी झूठ नहीं बोलता था।

पल्लव

पल्लव की उत्पत्ति नाग राजाओं से हुई है जो सातवाहनों के सामंत थे। दक्षिण में पल्लवों के उत्थान का संबंध सातवाहन साम्राज्य के पतन से है, और बहुत शीघ्र ही उन्होंने काँची

---

383. *एनुअल रिपोर्ट साउथ इंडियन एपिग्राफी,* सं॰ 65.
384. *बॉम्बे कर्नाटक इंस्क्रिपशन्स,* 1, I, सं॰ 38.
385. *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स* सं॰ पृ॰ 48.
    जैनिज्म एण्ड कर्नाटक कल्चर, पृ॰ 34.
386. *मैसूर गजेटि़यर,* 2, पृ॰ 769-70.
387. *जै.शि.सं.,* 4, सं॰ 87.
388. *एपि॰ कर्नाटक,* 2, सं॰ 133.

पर अधिकार कर लिया। बाद में सिंहविष्णु ने एक नए वंश की स्थापना की। उसने चोलों की शक्ति पर कावेरी तक अपना साम्राज्य बढ़ाया, और इसके अतिरिक्त उसने पाण्ड्य, कलभ्र और मालव को हराया। सिंहविष्णु के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् उत्तराधिकारी हुआ। उसके गद्दी पर बैठने के कुछ वर्ष पश्चात् पल्लवों और चालुक्यों में दक्षिण में आधिपत्य के लिए भयंकर और लम्बा संघर्ष हुआ। महेन्द्रवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् सातवीं सदी के द्वितीय चतुर्थांश के आरंभ में गद्दी पर बैठा। वह पल्लव राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसने सफलतापूर्वक पुलकेशिन द्वितीय के भयंकर आक्रमणों को खदेड़ा। उसने सिंहासन के दावेदार मानवर्मन् की सहायता के लिए दो नाविक आक्रमण लंका पर किए। 655 ई॰ में परमेश्वरवर्मन् प्रथम सिंहासन पर बैठा। उसके समय पल्लवों और चालुक्यों के मध्य प्राचीन शत्रुता फिर से चालू हुई। जैसाकि होता है दोनों तरफ के लोग अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। बाद में नरसिंहवर्मन् द्वितीय सातवीं सदी के अंत में राजा बना। उसका राज्य सुरक्षा और समृद्धि का था। नरसिंहवर्मन् के पश्चात् परमेश्वरवर्मन द्वितीय राजा हुआ। जब परमेश्वरवर्मन् द्वितीय की मृत्यु हुई, उसका राज्य गृह-युद्ध में उलझ गया। लोगों ने अंत में लोकप्रिय राजकुमार नंदिवर्धन को अपना राजा चुना जिसने पैंसठ वर्ष राज्य किया। नंदिवर्मन् के राज्य में पल्लव-चालुक्य कटुता दोबारा शुरू हो गई। अंतिम महत्त्वपूर्ण प्रभु अपराजितवर्मन् (करीब 876-95 ई॰) था।

जैन धर्म पल्लव युग में तमिलनाडु में उन्नत अवस्था में था। सिंहविष्णु जैन धर्म का संरक्षक था। यह विश्वास करने का यह भी कारण है कि पल्लव महेन्द्रवर्मन् प्रथम स्वयं जीवन के शुरू में जैन था।[389] *मत्तविलास प्रहसन* से प्रमाणित होता है कि प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय शैव दार्शनिक अपर के प्रभाव से महेन्द्रवर्मन् शैव हो गया। उसके परिवर्तन के पश्चात् यह राजा जैनियों का अत्याचारी हो गया। जैनियों से संबंधित पल्लवों का सबसे प्राचीन अभिलेख परमेश्वरवर्मन् प्रथम (670-95 ई॰) के राज्य का है, और वह आंध्र प्रदेश, नेलौर जिला नलजनपडु से प्राप्त हुआ है।[390] इस अभिलेख में परमेश्वर पल्लवादित्य की पहचान परमेश्वर प्रथम से की जाती है और उसका अर्हत के चरण ध्यान करते हुए वर्णन किया गया है।

नंदिवर्मन् द्वितीय पल्लवमल (730-800 ई॰) के राज्य के कुछ अभिलेखों की जानकारी मिलती है। इस राजा के राज्य के चौदहवें वर्ष के किल खत्तमंगलम चट्टान

---

389. *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स*, पृ॰ 34.

390. पेरियपुरनम् में महेंद्रवर्मन् प्रथम द्वारा चुडड्लोर में अनेक जैन मंदिरों के नष्ट करने का उल्लेख है। देखिये *इंडि॰एंटी॰*, 40, पृ॰ 215.

के अभिलेख[391] (तमिलनाडु, उत्तर अर्काट जिला, वंडिवाश तालुक) में उल्लेखित है कि अन्डइ इलइचर में पवननन्दिन सात कलंजु का दान मठ के संन्यासियों को खिलाने को दिया। इस राजा के राज्य से दो अभिलेख अलग से इसी स्थान से मिले हैं। दोनों अभिलेख नन्दिवर्मन द्वितीय के 56वें वर्ष के हैं। उनमें से एक लेख[392] में पवनन्डीवर नाम की पल्ली को पंडित मुप्पवई के पुण्य के लिए सत्रह कलजु स्वर्ण के दान देने का उल्लेख है। पल्लि पवनन्डी का नाम संन्यासी के नाम पर रखा गया। जैन साधु पवनन्डी की पहचान तमिल ग्रंथ *नन्नुल* के इसी नाम के लेखक से की जा सकती है।[393]

अन्य जैन मंदिर का उल्लेख अंगलूर (गिंगी तालुक, दक्षिण अर्काट) के अभिलेख में हुआ है। यह अभिलेख[394] नंदिवर्मन द्वितीय के 50वें वर्ष का है। इस राजा का बिना तिथि का अभिलेख[395] चिंगलीपुट जिले के काँची से प्राप्त हुआ है जो अर्हत मंदिर को उपहार का उल्लेख करता है। इस अभिलेख में आचार्य आजिविक दर्शन का उल्लेख है जिसने नरसिंहवर्मन् द्वितीय की रानी लोक महादेवी का उपचार किया।

अन्य जैन पल्लव अभिलेख[396] कम्पवर्मन् के राज्य का है जिसका एकीकरण नंदिवर्मन् द्वितीय के पुत्र दंतिवर्मन् से किया जाता है जो नवीं सदी के अंतिम आधे भाग में राज्य करता था। यह अभिलेख कम्पवर्मन् के राज्य के छठे वर्ष का है। यह अभिलेख पल्लव काल के जैन मंदिरों के समूह के बारे में स्पष्ट जानकारी देता है। यह अभिलेख मंदिर के पुनरुद्धार, अतिरिक्त मुखमंडप का निर्माण, और काड़गदियरियर की पत्नी मदेवी द्वारा पल्लि को घण्टी के उपहार का उल्लेख करता है।[397] ऐसा प्रतीत होता है कि यह मंदिर समारोह समस्त पल्लि कहा जाता था। इसमें जिन को समर्पित मूल चैत्य, सामने मंडप, पक्षी का सहायक चैत्य और मठ (पालि) (जहाँ जैन साधु रहते थे) शामिल थे। यह पल्लि तीर्थंकर विमल के मंदिर के नाम से पुकारा जाता है। यह अभिलेख मंदिर में लगातार दीपक जलाने के खर्च के लिए श्री नंदिदेव के शिष्य बलदेवपिदारन भूमि की बिक्री का उल्लेख करता है।

नोलम्ब पल्लव जो नवीं और दसवीं सदी में प्रकाश में आए, आधुनिक कर्नाटक के प्रदेशों पर राज्य करते थे, और वे पश्चिम गंगों के सामंत थे। नोलम्ब नरेन्द्र के समय

391. *एपि.इंडि.*, 27, पृ. 203, नेलोर अभिलेख, पृ. 676.
392. *एनुअल रिपोर्ट इंडियन एपिग्राफी*, 1968-69, पृ. 60.
393. वही, पृ. 6.
394. *एनुअल रिपोर्ट इंडियन एपिग्राफी*, पृ. 6.
395. वही, 1954-55.
396. *द एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज*, पृ. 165.
397. *को.हि.जै.*

के तीन जैन अभिलेख जैन धर्म से संबंधित हैं। तमिलनाडु में धर्मपुरी के दुर्ग का 878 ई॰ का सबसे प्राचीन अभिलेख[398] जैन मंदिर को दान का उल्लेख करता है। इसके राज्य का दूसरा जैन अभिलेख[399] शक संवत् 815 (893) का है। इसमें उल्लेखित है कि राजा से मूल पल्लि ग्राम का ग्राम उपहार में स्वीकार कर चंडियण्ण और नंदियण्ण नाम के दो नागरिकों ने धर्मपुरी की बसति की मरम्मत हेतु मूल संघ, सेनान्वय पोगरीयगण के विनयसेन सिद्धान्त के शिष्य कनक सिद्धान्तसेन को दान में दिया। यह अभिलेख अतिरिक्त सूचना देता है कि यह बसति मूल में उपर्युक्त नागरिकों द्वारा बनवायी गयी थी जिनको सेट्टी श्रीमंगल का पुत्र बतलाया गया है। प्राचीन समय में धर्मपुरी तगडूरू के नाम से जानी जाती थी।[400]

महेन्द्र के राज्य का तीसरा जैन अभिलेख आन्ध्र प्रदेश, अनन्तपुर जिले में हेमावती से प्राप्त हुआ है। यह लगभग नष्ट पाषाण अभिलेख[401] महेन्द्र और उसके पुत्र अय्यप द्वारा स्थानीय जैन मंदिर को कुछ दान देने का उल्लेख करता है। इस अय्यप का एक अन्य जैन अभिलेख[402] इसी स्थान से प्राप्त हुआ है जहाँ उसके पिता महेन्द्र का उल्लेख है। इसमें उल्लेखित है कि अय्यपदेव ने बुडुगुरु नाम का ग्राम लोकाय्य को भेंट दिया, जो दसय्य का छोटा भाई था और जिसका अर्हत् सिद्धांत के दीपक के रूप में वर्णन किया गया है। इस लोकाय्य ने निधियण्ण द्वारा निर्मित जैन बसति को भेंट किया। यह वही मन्दिर है जिसका उल्लेख महेन्द्र के 815 शक संवत् में भी हुआ है। यह पाषाण अभिलेख सिद्ध करता है कि महेन्द्र और उसका पुत्र जैन धर्म के आश्रयदाता थे। अय्यप का बिना तिथि का अभिलेख[403] दसवीं सदी ई॰ के आरम्भ का माना जाता है। यहां यह भी बताना आवश्यक है कि महेन्द्र के शक संवत् 815 के अभिलेख की शुरुआत जिनेन्द्र की स्तुति से होती है।[404]

नवीं सदी का वल्लभलाई (उत्तर अर्काट) से प्राप्त अभिलेख भवनन्दिन के शिष्य और राजा के आध्यात्मिक उपदेशक देवसेन की मूर्ति को स्थापित करने का उल्लेख करता है।[405]

---

398. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 213.
399. *एपि॰इंडि॰*, X, पृ॰ 54.
400. वही, X, पृ॰ 64.
401. *सा॰इं॰इं॰*, 9, I, सं॰ 19.
402. *एपि॰इंडि॰*, XI, पृ॰ 70.
403. वही, पृ॰ 65.
404. वही, पृ॰ 68.
405. वही, IV, पृ॰ 141.

साम्राज्यवादी चोल

चोल साम्राज्य जिसका उत्थान नवीं सदी में हुआ था, प्रायद्वीप के बहुत कुछ भाग में फैला हुआ था। चोल राजाओं ने श्रीलंका और मालद्वीप पर आक्रमण किए और उन पर विजय भी की। उनका राज्य कुछ समय तक कलिंग और तुंगभद्रा दोआब तक फैल गया था। उनके पास शक्तिशाली नौसेना थी, और दक्षिण-पूर्व एशिया प्रदेश पर भी उनके प्रभाव का अनुभव किया जाता था। चोल साम्राज्य निःसंदेह दक्षिण भारत के इतिहास में उत्कर्ष पर पहुंच गया था।

चोल साम्राज्य का संस्थापक विजयलय था जो पहले पल्लवों का सामन्त था। उसने 850 ई॰ में तंजौर को जीता और पाण्ड्य राजाओं से लड़ा। 897 ई॰ तक चोल पल्लव राजा को हराने और मारने में पर्याप्त शक्तिशाली हो गए, और उन्होंने समस्त तोंड मंडल को जीत लिया। चोलों को राष्ट्रकूटों के विरुद्ध कठिनता से लड़ना पड़ा। 946 ई॰ में राष्ट्रकूट राजा ने चोल राजा परांतक प्रथम को हराया, और चोल साम्राज्य के उत्तर भाग को मिला लिया। इसमें चोलों को बड़ा धक्का लगा किन्तु राष्ट्रकूट साम्राज्य के पतन के पश्चात् उन्होंने शीघ्र अपनी स्थिति संभाल ली।

सबसे शक्तिशाली चोल राजा राजाराज (985-1014 ई॰) और उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम (1012-44 ई॰) थे। राजेन्द्र प्रथम ने अपना ध्यान पांड्य, चेर और उनके साथी लंका के राजा की तरफ किया। उसने त्रिवेन्द्रम में चेर नौसेना को नष्ट किया और ब्यूइलोन पर आक्रमण किया। बाद में उसने मदुराई पर विजय की और पांड्य राजा को जीता। उसने श्रीलंका को जीता और अपने साम्राज्य में इसके उत्तरी भाग को मिला लिया। राजेन्द्र प्रथम ने पांड्य और चेर प्रदेशों को पूर्ण रूप से जीतकर राजाराज को मिलाने की नीति को आगे बढ़ाया, और उनको अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। श्रीलंका की विजय पूरी हुई। राजेन्द्र चोल के पश्चात् चोल सत्ता का पतन शुरू हुआ। ग्यारहवीं सदी के अंत और बारहवीं सदी के आरम्भ में पांड्यों ने अपने खोये हुए राज्य को पुनः चोलों से प्राप्त कर लिया, और साथ में नई शक्तियों जैसे होयसलों और काकतियों ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए।

चोलों के समय के जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक लेखों से ज्ञात होता है कि जैन विशाल चोल साम्राज्य में काफी हद तक सब जगह विद्यमान थे। यद्यपि साम्राज्यवादी चोल ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, वे धार्मिक मामलों में बहुत कुछ उदार थे। साम्राज्यवादी चोलों का सबसे प्राचीन लेख आदित्य प्रथम (871-907 ई॰) का उत्तर अर्काट जिला, अर्कोनम तालुक में बेडले से प्राप्त हुआ है।[406] आदित्य (राजकेशरीवर्मन्) के 14वें वर्ष

406. *सा॰इं॰इं॰*, 3, सं॰ 92, *सा॰इं॰इं॰*, 13, सं॰ 245.

सिंगपुरनाडु में विडल उपनाम माडेविअरन्डै मंगालम अभिलेख में श्रावकों द्वारा किये हुए वचन का उल्लेख है कि आचार्य गुणकीर्ति भट्टारक की नारी शिष्य और संन्यासी कनक्वीर कुरत्तियार को बचाया और खिलाया जावे। इसके अतिरिक्त इस अभिलेख मंडल में पुरुष शिष्यों और 400 नारी शिष्यों में विवाद का भी उल्लेख है। यह वास्तव में एक बड़ा संस्थापक था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अभिलेख में उल्लेखित नारी संन्यासी प्रभावशाली व्यक्ति की पुत्री थी। इसी स्थान से प्राप्त प्राचीन अभिलेख[407] नन्दिवर्मन् द्वितीय के राज्य का है जहां जैन मन्दिर समूह को विडपल्लि कहा जाता है। आदित्य के समय के अभिलेख में उल्लेखित माडेवि अरंद मंगलम विडाल का अन्य नाम था। राजशेखरवर्मन के दूसरे वर्ष का प्राचीन जैन अभिलेख[408] संभवतः आदित्य प्रथम के समय का है। यह कावेरी के दक्षिण किनारे तिरुनगेस्वर्मन से प्राप्त हुआ है। मनु कुमारमार्तन्डन नाम के बाड़े की मरम्मत और मिलाडियर्पल्लि के गोपुर के व्यय के हेतु कुमारमार्तंडपुरम् के वणिकों द्वारा उपहार देने का उल्लेख है। ऐसा ज्ञात होता[409] है कि कुमारमार्तंडन पल्लव राजा नंदिवर्मन् द्वितीय का उपनाम था।

पुरान्तक प्रथम (907-55 ई०) के बहुत से अभिलेख हैं। पहला अभिलेख[410] तोन्डर, गिंगी तालुक और दक्षिण अर्काट जिला से प्राप्त परान्तक के तीसरे वर्ष का है। यह परम्बूर में जैन आचार्य वच्चिसिंग इलम्परुमान डिगल को दो उद्यान और कूप पल्लिच्चंदम के रूप में ग्राम दान और उसके शिष्य को राजा विन्नको व रैयन वयिरि मलैयन द्वारा उल्लेख है। इसी वर्ष का अन्य अभिलेख[411] टिरक्काट, वंडिवश तालुक, उत्तर अर्काट जिले से प्राप्त हुआ। इसमें उल्लेखित है कि नेल्वेलि के येरनंदि उपनाम नरतोंग पलवरियम द्वारा श्री दंडपुर पोन्नुर नाडु में मैसित पेरुमवल्लि नाम के जैन मन्दिर हेतु दो सौ भेड़ों को दान में दिया। नेलवेलि संभवतः तंजौर जिले में स्थित है।[412] इसी जैन मन्दिर का दसवीं सदी के अन्य तमिलनाडु के अभिलेख में उल्लेख है।

अर्काट जिले के पोलुर तालुक से प्राप्त परान्तक के चौथे वर्ष का अभिलेख[413] कर्नाटक प्रदेश के दो व्यक्तियों द्वारा इस स्थान के जैन मन्दिर को उपहार देने का उल्लेख करता है। यह दान तपस्वी को खिलाने तथा पल्लियाल्वार यानी जैन तीर्थंकर

407. *एनुअल रिपोर्ट साउथ इंडियन एपिग्राफी*, 1909, बी. 82.

408. *सा०इं०इं०*, 3, 91.

409. *एनुअल रिपोर्ट साउथ इंडियन एपिग्राफी*, 1907, सं० 199.

410. *सा०इं०इं०*, 19, सं० 80.

411. वही, सं० 51.

412. वही, पृ० 25.

413. *सा०इं०इं०*, 19, सं० 89, *सा०इं०इं०*, 3, सं० 97.

की प्रतिदिन पूजा के लिए दिया जाता था। राजेन्द्र प्रथम के बारहवें वर्ष के कुछ बाद के अभिलेख[414] में उल्लेखित है कि प्राचीन समय में पल्लव रानी ने पहाड़ी के जैन मन्दिर में नित्य दीपक जलाने की व्यवस्था की।

उत्तर अर्काट जिले में विल्लापक्कम स्थान से प्राप्त परान्तक प्रथम के राज्य के 945 ई॰ का अभिलेख[415] पट्टिनि कुरत्ति अडिगल नाम की साध्वी द्वारा कूप निर्माण का उल्लेख करता है। जैसाकि नाम से स्पष्ट होता है कि वह प्रसिद्ध नारी आचार्या थी। इसी प्रमाण से यह ज्ञात होता है कि वह तिरुप्पमलइ जैन संस्थापन या प्रतिष्ठापन या अधिष्ठापन या प्रस्थापन के भट्टारक अरिपटनेमी साधु की शिष्या थी। इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इस स्थान पर रहने वाले जैनियों ने अपने आपको संगठित किया और अपने हित को देखने हेतु चौबीस सदस्यों की प्रतिनिधि रूपवाली परिषद् बनाई।

परान्तक के पश्चात् उसके तुरन्त उत्तराधिकारी के अनेक जैन अभिलेखों की जानकारी मिलती है। सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख तंजौर जिला, तिरुत्तुरइ पुन्डि तालुक पल्लन कोविल से प्राप्त ताम्रपत्र अभिलेख है।[416] अभिलेख से शलेत्ति कुडियन द्वारा जैन मन्दिर (पल्लि) की स्थापना का पता चलता है। मन्दिर का नाम सुन्दर शोलप्पे सम्बल्लि परान्तक के पौत्र सुन्दर चोल के नाम से है। नन्दीर संघ के चन्द्रनन्दि भटारों उपनाम नोनिदेवर की देखभाल के लिए उपहार की व्यवस्था की जाती थी। वह प्रतिष्ठान की अध्यक्षता करता था, और वह साधु और साध्वियों से सम्बन्धित था। चूंकि मन्दिर का नाम सुन्दर चोल (956-973 ई॰) पर था, इसका निर्माण दसवीं सदी के तृतीय चतुर्थांश में हुआ प्रतीत होता है। हस्तिमल्ल की उदयेन्दिराम ताम्रपत्र अभिलेख[417] के अनुसार दिगम्बर जैनियों के अधिकार में प्राचीन पल्लिचन्दम था जिसमें दो पट्टि भूमि थी जो परांतक प्रथम के राज्य में कडइक्कोट्टूर ग्राम के दिए हुए उपहार से परे थी।

अर्काट जिले के सिरमूर में राजकेशरी (संभवतः सुन्दर चोल 956-73 ई॰) के 17वें वर्ष का अभिलेख पार्श्वनाथ के मन्दिर के मंडप में दीपक की व्यवस्था का उल्लेख करता है, और मंडप में धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या की जाती थी।[418] राजराजा प्रथम का भी जैन अभिलेख है। उसके राज्य का आठवें वर्ष का एक अन्य अभिलेख भी है।[419] वह लाटराज वीर चोल का उल्लेख करता है जो चोल राजा का करदाता था। अपनी पत्नी की प्रार्थना

414. वही सं॰ 68.
415. *एनुअल रिपोर्ट साउथ इंडियन एपिग्राफी*, 1900, बी. 53.
416. *एनुअल रिपोर्ट साउथ इंडियन एपिग्राफी*, 1961-62, पृ॰ 4-5.
417. *सा॰इं॰इं॰*, 2, पृ॰ 287, (सं॰ 7 बी.).
418. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 216.
419. *एपि॰इंडि॰*, IV, पृ॰ 337.

पर उसने कुरंगनपाड़ी (अर्काट के समीप आधुनिक कुरमबड़ी) से कुछ प्राप्त आय को तिरुप्पमलइ देवता को दी। चोल सामंत को तिरुप्पमलइ देवता के पवित्र चरणों की पूजा करने वाला बतलाया गया है। राजाराज प्रथम की बड़ी बहन कुंडुवइ का जैन धर्म के प्रति अधिक झुकाव था।

मदुरा के पाण्ड्य

पाण्ड्य भारत के प्रायद्वीप के सुदूर राज्य करते थे। इनकी राजधानी मदुरा थी। कुंडुगोन व उसके पुत्र मारवर्मन् अयनिसुलमानी का पल्लव राजा सिंहविष्णु के साथ झगड़ा हुआ। अन्य प्रसिद्ध पाण्ड्य राजा अरिकेशरी मारवर्मन् (लगभग 650 ई॰) की पहचान नेडुमरन से की जाती है। अरिकेशरी और उसके उत्तराधिकारियों कुच्चडयन्, रणधीर (लगभग 800 ई॰), मारवर्मन् राजसिंह प्रथम और नेडुंजडयन वरगुण प्रथम (लगभग 765-815 ई॰) के राज्य में पाण्ड्यों की प्रभुसत्ता चोल, केरल और अन्य पड़ोसियों की कीमत पर सब तरफ निरन्तर बढ़ती गई। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी श्रीमर श्रीवल्लभ (लगभग 815-62 ई॰) ने लंका के राजा तथा पल्लवों, गंगों और चोलों को संयुक्त रूप में कुडोमुक्कु स्थान पर हराकर प्रसिद्धि प्राप्त की। चोल, पल्लव और गंग ने मिलकर पाण्ड्य राजा वरगुणवर्मन् वरगुण द्वितीय पर 880 ई॰ में सफलता प्राप्त की। इस बड़ी हार के अतिरिक्त चोलों के उत्थान के कारण पाण्ड्यों को अन्य कठिनाई का सामना भी करना पड़ा। इस प्रकार पाण्ड्य राज्य ने अपनी स्वतंत्रता खो दी, और 920 ई॰ से तेरहवीं सदी के आरम्भ तक चोलों से दासता भुगतनी पड़ी।

वास्तव में पांड्य राजवंश जड़ से नहीं उखाड़ा गया, और समय-समय पर इसने चोलों की प्रभुसत्ता समाप्त करने हेतु प्रयत्न किये। वीर पाण्ड्य के विद्रोह को दबा दिया गया, और एक प्रकार से चोल साम्राज्य केवल एक प्रदेश रह गया। लेकिन नियंत्रण के उपरांत भी पाण्ड्य निरन्तर विद्रोह करते रहे। चोल शीघ्र कमजोर होते गये और पाण्ड्य धीरे-धीरे अपने खोये हुए यश और प्रसिद्धि को फिर से प्राप्त क़रने लगे। जटावर्मन् और कुलशेखर का 1190 ई॰ में राजगद्दी पर बैठना पांड्यों के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है। इसके पश्चात् इनका उत्थान शुरू हुआ, और एक सदी और उससे अधिक तक उन्होंने दक्षिण भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाया। कुलशेखर के उत्तराधिकारी जटावर्मन् और मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (लगभग 1216-38 ई॰) के राज्य में चोल पीछे हो गये। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय (लगभग 1238-51 ई॰) के समय चोल पाण्ड्य होयसल के सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसके बाद का राजा जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (लगभग 1251-72 ई॰) का शक्तिशाली व्यक्तित्व था, और उसने पाण्ड्यों की शक्ति शिखर को ऊंचा कर दिया। अंत में उसने दक्षिण में

चोलों की शक्ति को कुचल दिया, कांची पर अधिकार कर लिया, और चोल प्रदेश, कोंगुदेश और लंका को जीत लिया। उसके अवैध पुत्र वीर पाण्ड्य और वैध पुत्र सुन्दर के मध्य संघर्ष शुरू हुआ। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर खिलजियों ने उनके प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर ली।

पाण्ड्यों के राज्य में जैन धर्म प्रचलित था। इस वंश का सबसे प्राचीन अभिलेख[420] पूर्व त्रावनकोर राज्य चित्रल से प्राप्त हुआ है। तमिल भाषा और वहेलुत्त लिपि का यह अभिलेख वरगुण प्रथम (लगभग 765-815 ई॰)[421] उपनाम नेडुंजदयन के राज्य का 28वें वर्ष का है। इसमें उल्लेखित है कि पेरयकुंडि के अरिष्टनेमि भटार की शिष्या नारी आचार्य गुणन्दांगी द्वारा सुवर्ण उपहार चारणों की पवित्र पहाड़ी को दिया। इस राजा के राज्य के दो अतिरिक्त अभिलेखों की जानकारी है और दोनों रामनाथपुरम जिले से प्राप्त हुए हैं। वे टुक्काटाम्पल्लि का उल्लेख करते हैं[422] जो कुरन्दइ का जैन मन्दिर केन्द्र ज्ञात होता है। यह वेन्बुडाडु का महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिर केन्द्र ज्ञात होता है।[423]

वरगुण द्वितीय के राज्य का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जैन अभिलेख है। यह ऐवर्मलइ पाषाण अभिलेख[424] मदुरै जिले के पलनी तालुक से प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख ऐवर्मलइ पहाड़ी पर प्राकृतिक गुफा के ऊपर अंकित है, जो जैन अवशेषों के लिए प्रसिद्ध है। अधिकतर पांड्य अभिलेखों के विपरीत इससे निश्चित तिथि का ज्ञान होता है अर्थात् शक संवत् 792 (870 ई॰)। अभिलेख के अनुसार वह वरगुण द्वितीय के 8वें वर्ष का है। इस अभिलेख में उल्लेखित है कि गुणवीरकुर वडिगल के शिष्य कालम के शान्तिवीरों कुरवर ने 500 काणम स्वर्ग पार्श्व भटार (पार्श्वनाथ) और सेवक यक्षियों की पूजा और एक संन्यासी को खिलाने हेतु उपहार में दिये । इस प्रकार यह अभिलेख अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध करता है कि इस पहाड़ी का मन्दिर समूह पार्श्व को समर्पित इस अभिलेख के पहले अस्तित्व में था। सडयन मारन[425] के 20वें वर्ष के अन्य महत्त्वपूर्ण पांड्य जैन अभिलेख में उल्लेखित कुछ उल्लेख के द्वारा पहचान राजसिंह द्वितीय (लगभग 900-20 ई॰) से की जाती है। यद्यपि शास्त्री का कहना है कि वह भिन्न व्यक्ति है।[426] यह अभिलेख मदुरै जिला, पेरियकुलम तालुक में उत्तम पलियम से प्राप्त हुआ है। अभिलेख बहुत नष्ट हो

420. *ट्रावनकोर आर्कियोलाजिकल सीरीज,* I, पृ॰ 193.
421. शास्त्री, *द पाण्ड्य किंगडम,* पृ॰ 36.
422. *एनुअल रिपोर्ट ऑन एपिग्राफी* (मद्रास), 1914, 430, 431.
423. *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स,* पृ॰ 62.
424. *सा॰इं॰इं॰,* 14, सं॰ 22, *एपि॰इंडि॰,* XXXII, पृ॰ 337.
425. *सा.इं.इं.,* 14, सं॰ 14, सं॰ 69.
426. शास्त्री, *द पांड्य किंगडम,* पृ॰ 74.

चुका हुआ है किन्तु यह निश्चित रूप से इस पहाड़ी के जैन चैत्य का उल्लेख करता है। यह पहाड़ी जैन पुरावशेष के लिए प्रसिद्ध है। पाण्ड्य राजा राजसिंह द्वितीय ने अनेक जैन मन्दिरों का दान दिया।[427] इससे यह सिद्ध होता है कि वह जैनियों का आश्रयदाता था।

पश्चिमी गंग

पश्चिमी गंग राजा जैन धर्म के बड़े संरक्षक थे। नीतिमर्ग प्रथम (853-70 ई॰) और उसका दूसरा पुत्र बुतुग सच्चे जैन थे। मरसिंह (880-900 ई॰) अजितसेन का शिष्य था और पक्का जैन था। उसने सक्रियता से जैन विद्वानों को सहयोग दिया, जैन सिद्धान्त का पालन किया और अनेक स्थानों पर बस्तियों और मानस्तंभों की स्थापना की, और राज्य त्यागकर संल्लेखना द्वारा अपने जीवन का अंत किया। उसका मंत्री चामुंडराय जैन धर्म के विशेष प्रवर्तकों में एक माना जाता है। वह वीर सेनापति था, और अलौकिक गुणों जैसे उदारता को धारण करने वाला था। नेमिचन्द्र और अजितसेन उसके गुरु थे। उसने जैन धर्म हेतु अनेक दान दिये। उसने गोमट की विशाल प्रतिमा को श्रवणबेलगोला में खड़ा किया और श्रवणबेलगोला में चिक्कबेर पर बसति का निर्माण करवाया। उसने कन्नड़ लेखक को आश्रय दिया। उसके उदाहरण का उसके उत्तराधिकारियों और सामंतों ने अनुसरण किया।

उत्तर चालुक्य

राष्ट्रकूटों (754-974 ई॰) के युग के पश्चात् उत्तर चालुक्य आते हैं। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने जैनियों का वध किया, किन्तु ऐसे उदाहरण भी सिद्ध करने को हैं कि उन्होंने जैन धर्म को संरक्षण दिया। तैलप द्वितीय का जैन धर्म के प्रति अधिक लगाव था, और उसने *अजित पुराण* के लेखक रत्न कविरत्न को आश्रय दिया। उसने राजा से कविरत्न की उपाधि प्राप्त की। तैलप के पुत्र सत्याश्रय ने अपने जैन गुरु के सम्मान में स्मारक बनवाया। उसके उत्तराधिकारियों में एक जयसिंह तृतीय ने बलिपुर में बस्ती का निर्माण करवाया। राजकीय परिवार के सदस्य, राज्य के उच्च उत्तराधिकारी, सामन्त, राजा और सामंत स्वामी कभी-कभी जैन धर्म का अनुसरण करते थे और वे श्रावक और श्राविकाएं थे। कुछ पूर्वी चालुक्य जैन थे व उस धर्म के आश्रयदाता थे और उन्होंने उस धर्म को पवित्र दान दिये। अम्मराज द्वितीय के तीन अभिलेख दसवीं सदी में जैन धर्म को एक बहुत लोकप्रिय धर्म के रूप में उल्लेखित करते हैं। राजा विमलादित्य (1022 ई॰) के राज्य का विजयनगरम के समीप रामतीर्थम् के कन्नड़ अभिलेख में उल्लेखित है कि देशीगण

427. वही, पृ॰ 84.

का आचार्य त्रिकाल योगिन सिद्धान्त देव मुनि, जो राजा का गुरु था, रामतीर्थम् पहाड़ी के प्रति सम्मान व्यक्त करता था। यह स्थान जैनियों के तीर्थ के रूप में माना जाता था।

पश्चिमी चालुक्य

पश्चिमी चालुक्य वंश का संस्थापक तैलप महान् कन्नड़ कवि रण्ण का आश्रयदाता था। बाद का राजा सत्याश्रय द्राविड़ संघ के विमलचन्द्र पंडित देव नाम के जैन आचार्य से आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्राप्त करता था। इस वंश के बहुत से जैन राजा जैसे जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय, और विक्रमादित्य चतुर्थ जैन लेखकों को आश्रय देकर और जैन आचार्यों और जैन मन्दिरों को भूमि देकर जैन धर्म के प्रति अनुराग दिखाते थे।[428]

शिलाहार

इतिहास से शिलाहार वंश की तीन शाखाओं की जानकारी मिलती है। इस वंश की सबसे प्राचीन शाखा आठवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में दक्षिण कोंकण पर राज्य करती थी। दूसरी शाखा ने उत्तर कोंकण पर करीब चार सौ वर्षों तक राज किया। तीसरी शिलाहार शाखा ने कोल्हापुर, सतारा और बेलगांव में ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में अपनी सत्ता स्थापित की। यह शाखा अधिक स्वतंत्र थी और इसके राजाओं में से एक विजयकार व विजयादित्य ने अंतिम चालुक्य राजा के पतन के लिए विज्जन व बिज्जल को सहायता दी, ऐसा कहा जाता है। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा भोज (लगभग 1175-1210 ई॰) था जिसका राज्य यादव राजा सिंघण द्वारा जीत लिया गया था।

शिलाहारों की कुलदेवी महालक्ष्मी थी किन्तु उन्होंने जैन धर्म को भी प्रोत्साहन दिया जैसाकि इस समय के साहित्यिक लेखों और अभिलेखों से ज्ञात होता है। इस कड़ी में मंडरादित्य द्वारा निर्मित अर्हत् का चैत्य है। उसने जैन तीर्थंकर नेमिनाथ का अन्य मन्दिर अजुरिका (कोल्हापुर में आधुनिक आजेर) में बनाया और इसका नाम त्रिभुवन तिलक रखा जो उसके बिरुदों में से एक था।

शिलाहार राज्य में विभिन्न स्थानों पर स्थापित बहुत से जैन मन्दिरों का उल्लेख इस युग के अभिलेखों में है। हविना हेरेलिगे (आधुनिक हेरल) ग्राम में पार्श्वनाथ का मन्दिर था जिसका निर्माण सामन्त कामदेव के हड़पवल (तांबूल संदूक ले जाने वाला) द्वारा किया गया था। वह शिलाहार राजा विजयादित्य की अधीनता मानता था।[429] पार्श्वनाथ का अन्य मन्दिर मंडलोर (आधुनिक मडुर, कोल्हापुर जिला) में था। मामा सामंत लक्ष्मण की प्रार्थना पर राजा विजयादित्य ने माघनन्दि सैधान्तिक के शिष्य अर्हन्नदि सिद्धान्तदेव को कुछ भूमि

428. *द स्ट्रगल फॉर एम्पायर,* पृ॰ 429.

429. *एपि॰इंडि॰,* 3, पृ॰ 207.

दान में दी। माघनन्दि सैद्वान्तिक मन्दिर के भट्टारक[430] का कार्य करता था। तीसरा पार्श्वनाथ का मन्दिर मंडरादित्य के सामन्त निम्बदेवरस द्वारा कवडे गोल्ल में बनाया गया। इसको अभ्यावोले (आधुनिक ऐहोल बीजापुर जिला) की वीर बणजा नाम की प्रसिद्ध वणिक श्रेणी से अनेक करों व दरों से दान प्राप्त हुआ।

निम्बदेवरस शिलाहार राजा मंडरादित्य का वीर सामंत था। वह जैसा वीर था वैसा जैन भक्त भी था। उसने कवुडे गोल्ल में पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया। उसने कोल्हापुर में दो अन्य जैन मन्दिर बनवाये। मंडरादित्य के सामंत निम्बदेव ने चैत्यालय बनवाया।[431] निम्बरदेव कुंदान्वय जैन मुनि माघनन्दि का श्रावक था। निम्बदेव का कहना है कि उसने जैन देवी पद्मावती का वरदान प्राप्त किया। उसने कोल्हापुर में अन्य जैन मन्दिर स्थापित किया और उसका नाम रूपनारायण रखा जो उसके स्वामी मंडरादित्य का बिरुद था। इसका स्पष्ट उल्लेख पूर्व संघली राज्य के तरदाल की जैन बस्ती के अभिलेख में हुआ है।[432] निम्बरदेव मूलसंघ देशीयगणगच्छ और कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय का था। उसने रूपनारायण मन्दिर को अपने गुरु माघनन्दि सैद्वान्तिक के अधिकार में रखा, और वह जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। इसका उल्लेख उस समय के अनेक अभिलेखों में हुआ है। अब यह मानस्तंभ का मन्दिर पुकारा जाता है।

माघनंदि सैद्धान्तिक रूप से एक महान् सन्यासी था जिसका ज्ञान और धर्म के कारण बड़ा सम्मान होता था। तेराउल अभिलेख[433] के अनुसार उसने जैन धर्म के सिद्धान्तों का सब लोगों में प्रचार किया और सामंत निम्ब उनको प्रणाम करता था।

श्रवणबेलगोला के अभिलेख[434] में माघनन्दि की बड़ी प्रशंसा की गई है। वह सन्यासियों का राजकुमार था। उसके अनेक शक्तिशाली श्रावक और सामंत थे जैसे कदारनाकरत, निम्बरदेव और कामदेव।[435] इस काल के अभिलेखों में अनेक धार्मिक शिष्यों के नाम मिलते हैं जैसे श्रुतकीर्ति त्रैविदय, गंडविमुक्तदेव,[436] माणिक्यनन्दि, पंडित[437] और अर्हनन्दि सिद्धान्त-देव।[438]

430. वही, पृ॰ 211.
431. *एनुअल रिपोर्ट इंडियन एपिग्राफी*, 1945-46, पृ॰ 40.
432. *एपि॰इंडि॰*, XIV, पृ॰ 23.
433. *एपिग्राफिया कर्नाटिका*, 2 इंट्रोडक्शन, पृ॰ 61.
434. *एपि॰कर्णा॰*, 2, इंट्रोडक्शन, पृ॰ 17.
435. वही.
436. वही.
437. *एपि॰इंडि॰*, III, पृ॰ 207.
438. वही, पृ॰ 211.

ऐसा कहा जाता है कि माघनन्दि ने कोल्हापुर में तीर्थ की स्थापना की। वह कोल्हापुर में प्रत्यक्ष रूप से मठ का संस्थापक था जो उस समय जैन धर्म का बड़ा केन्द्र हो गया। जब निम्बदेव ने पार्श्वनाथ के मन्दिर की स्थापना की, तो उसने उसको अपने गुरु माघनन्दि की देखभाल में रखा। यह मन्दिर रूपनारायण के नाम से जाना जाता था, जो सामंत निम्बदेव के स्वामी गुंडरादित्य का बिरुद था। बाद में माघनन्दि ने श्रुतकीर्ति त्रैविदय को रूपनारायण का पुरोहित नियुक्त किया।[439] वह भी विद्वान् व्यक्ति था।

रूपनारायण मन्दिर उस समय जैन समारोहों का केन्द्र बन गया। यद्यपि श्रुतकीर्ति त्रैविदय कोल्हापुर के मन्दिर का पुरोहित था, वह कवड़े गोल के बाजार में बिक्री की जाने वाली वस्तुओं पर कर व दर के उपहार को इस स्थान के पार्श्वनाथ के मन्दिर की भलाई के हेतु लेता था।[440] इससे ज्ञात होता है कि मन्दिर के कार्यों का नियंत्रण कोल्हापुर के रूपनारायण मन्दिर के केन्द्र से होता था।

इस माघनंदि सैद्धान्तिक का अन्य शिष्य माणिक्यनंदि पंडित का उल्लेख कोल्हापुर के रूपनारायण मन्दिर के आंगन के अन्य अभिलेख में[441] हुआ है। हाविन हेरिलिगे (कोल्हापुर जिला में आधुनिक हेरले) में सामंत कामदेव का ताम्बूल-संदूक ले जाने वाले वारिदेव द्वारा स्थापित करने वाले पार्श्वनाथ चैत्य का पुरोहित था। इस अभिलेख में मन्दिर के लिए भूमि और मकान के दान देने का उल्लेख है।

माघनंदि सैद्धान्तिक का अर्हनंदि सिद्धान्तदेव नाम का अन्य शिष्य कोल्हापुर जिला कागल के समीप बगानी ग्राम पार्श्वनाथ जैन बस्ती के पाषाण अभिलेख[442] से जाना जाता है। मन्दिर की स्थापना चौधारे काम गावुण्ड द्वारा की गई, और भूमि और पुष्प उद्यान का उपहार उसके लिए उसके मामा सामंत लक्ष्मण की प्रार्थना पर राजा विजयादित्य द्वारा परिवार के आध्यात्मिक हित के लिए किया गया।

तीर्थंकर चन्द्रप्रभु को समर्पित अन्य मन्दिर नागलदेवी के कहने पर नेभगाउंड द्वारा बनवाया गया। नागलदेवी संभवतः मंडरादित्य की माता थी। यह मन्दिर हाविन हेरिलिगे (आधुनिक हेरले, कोल्हापुर जिला) में था। कोल्हापुर के रूपनारायण के मन्दिर के समान इसका नाम भी मंडरादित्य के बिरुद त्रिभुवनतिलक पर रखा गया। इसका पुरोहित शान्तिवीर सिद्धान्तदेव बालचन्द्रवती का शिष्य था। इसका गुणगान कर्णपार्य के *नेमिनाथ पुराण* में किया गया है, और इसको आश्रय शिलाहार राजा विजयादित्य के मंत्री

---

439. *एपि०कर्णा०*, 2.

440. *एपि०इंडि०*, XIX, पृ० 30.

441. *एपि०इंडि०*, XIX, पृ० 30.

442. वही, III, पृ० 207.

लक्ष्मीधर द्वारा दिया गया। हेरले का अभिलेख तीर्थंकर चन्द्रप्रभु की पूजा के लिए एक मत्तर भूमि और उद्यान का उल्लेख करता है। इसकी तिथि 1118 ई॰ है। उपहार दिये जाने वाले जैन पुरोहित, जो जैन मुनि माघनंदि सैद्धान्तिक के शिष्य थे, से ज्ञात होता है कि कोल्हापुर के शिलाहारों के प्रदेश में जैन धर्म का उनके अनुयायियों पर क्या प्रभाव था?

कोल्हापुर के शिलाहारों के साम्राज्य की सीमा के बाहर भी माघनन्दि सैद्धान्तिक पूजा जाता था। गोंक जो चालुक्य सम्राट् षष्टम का सामंत था, ने पूर्व सांगली राज्य[443] में तेरिदाल (आधुनिक तेरदाल) ग्राम में अपने नाम पर गोंक जिनालय स्थापित किया। मन्दिर के समीप के अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि गोंक ने मन्दिर के अभिषेक के लिए सामंत नेभदेव के गुरु पूज्य माघनन्दि सैद्धान्तिक को आमन्त्रित किया। तेरदाल अभिलेख माघनन्दि सैद्धान्तिक के अनेक शिष्यों का उल्लेख करता है। अंतिम उल्लेख वर्धमान के गोंक जिनालय को दिये हुए अनुदान को प्राप्त करने का था।

न केवल राजा और सामंत वरन साधारण लोगों ने भी जैन मन्दिरों का निर्माण किया। इनमें से कुछ अभिलेखों से जाने जाते हैं। कोल्हापुर जिले में कागल के समीप होनूर में पार्श्वनाथ की मूर्ति के अभिलेख में उल्लेखित है कि शिलाहार भ्राता बल्लाल और मंडरादित्य ने मन्दिर के लिए कुछ उपहार दिये। इस मन्दिर की स्थापना कोल्हापुर जिले के मुखिया बम्म गावुण्ड द्वारा की गई।[444] बेलगांव जिले के षेढ़ल में कोटलिगो द्वारा निर्मित जैन मन्दिर था। इस स्थान से प्राप्त एक अन्य पाषाण अभिलेख यह उल्लेख करता है कि स्थानीय श्रेणियों द्वारा स्वतः मन्दिर को कर व दान दिये गये और स्थानीय विवाहों के उपलक्ष्य में मन्दिर को दान दिया जाने लगा।[445]

जैन बस्तियों से सम्बन्धित कुछ मुनि साहित्यिक प्रवृत्तियों में लगे रहे।[446] माघनन्दि सैद्धान्तिक के शिष्य श्रुतकीर्ति त्रैविदय की कुछ रचनाओं के बारे में विद्वानों में विवाद है। अन्य दो जैन लेखकों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के बारे में अकाट्य प्रमाण हैं जो इस समय शिलाहार साम्राज्य की शोभा बढ़ाते थे। उनमें से एक कर्णपार्य था जो कन्नड़ ग्रंथ *नेमिनाथ पुराण* का लेखक था। अन्य जैन लेखक जिसने इस युग में समृद्धि प्राप्त की, वह था सोमदेव जो जैन व्याकरण शब्दार्णव की टीका *शब्दार्णवचन्द्रिका* का लेखक था। उसने 1205 ई॰ में शिलाहार राजा मंडरादित्य द्वारा निर्मित त्रिभुवनतिलक नामक जिनालय में

443. *इंडि॰एपी॰*, XIV, पृ॰ 14.

444. *इंडि॰एपी॰*, XII, पृ॰ 102.

445. *ए॰रि॰इं॰ए॰*, 1953-54, पृ॰ 31.

446. *महावीर एण्ड हिज़ टीचिंग्स*, पृ॰ 294-296.

आजुरिक में (आधुनिक आजेर, कोल्हापुर जिला) पूर्ण किया। वह अन्तिम शिलाहार राजा भोज द्वितीय के राज्य में रहा था जिसका वह अपने ग्रन्थ के अंत में गुणगान करता है।[447]

द्वारसमुद्र के होयसल

ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में होयसलों की शक्ति बढ़ी। बिट्टिग विष्णुवर्धन (लगभग 1110-40 ई॰) के राज्य में ही दक्षिण भारत की राजनीति में होयसल प्रभावशाली शक्ति बन सके। उसने अपनी राजधानी बेलापुर (हसन जिले में वर्तमान बेलूर) से हटाकर द्वारसमुद्र (हेलेबिड) में स्थापित की और अपने को चालुक्य अधिपति विक्रमादित्य षष्ठ से प्रायः स्वतंत्र कर लिया। इस राजकुल का दूसरा प्रबल नृपति विष्णुवर्धन का पौत्र वीर बल्लाल प्रथम (लगभग 1172-1215 ई॰) था जिसने पहले-पहल "महाराजाधिराज" का बिरुद धारण किया। वीर बल्लाल का पुत्र और उत्तराधिकारी वीर बल्लाल द्वितीय अथवा नरसिंह द्वितीय को यादव सिंघण द्वारा परास्त होना पड़ा। अंतिम होयसल राजा वीर बल्लाल तृतीय था। 1310 ई॰ के लगभग उसके राज्य को मलिक काफूर ने देवगिरि लूटने के बाद रौंद डाला और होयसल राजधानी पर वह जा टूटा। राजधानी लूट ली गयी और राजा बन्दी कर लिया गया।

होयसल वंश के संस्थापक की महानता का कारण जैन साधु का आशीर्वाद था। विनयादित्य के राज्य में होयसलों के कार्यों में व्यवस्था स्थापित करने वालों में सर्वोत्तम जैन साधु वर्धमानदेव था। बाद के दो राजाओं के आध्यात्मिक गुरु जैन साधु थे। इन राजाओं ने जैन मन्दिरों और बस्तियों को अनुदान दिया। यद्यपि सबसे प्रसिद्ध और यशस्वी होयसल राजा विष्णुवर्धन वैष्णव हो गया था, वह जैन धर्म के प्रति निरन्तर उदार और परोपकारी रहा।

उसने जैन साधु श्रीपाल त्रैविद्यदेव के प्रति धर्मनिष्ठा बतलाई, चैत्य पर वास-स्थान बनवाया और जैन साधुओं की देखभाल और जैन मन्दिरों की मरम्मत के लिए उचित अनुदान दिए। बेलूर के पाषाण अभिलेख 1129 के अनुसार उसने मल्लिजिनालय को दान दिया। 1133 ई॰ में उसने राजधानी द्वारसमुद्र में पार्श्वनाथ मन्दिर को ग्राम दान दिया और अपनी विजय की स्मृति में देवता का नाम विजय पार्श्वनाथ रखा और अपने पुत्र का विजय नरसिंह नाम रखा। उसकी रानी सांतलदेवी समस्त जीवन भर निरन्तर जैन धर्म की पक्की भक्त बनी रही। उसने जैन मन्दिरों को अनेक दान दिये। उसका आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव का शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धांतदेव था। उसकी मृत्यु संल्लेखना के रूप में 1131 ई॰ में हुई।

---

447. वही, पृ॰ 287-96.

होयसलों में कुछ विशिष्ट मंत्री और सेनापति जैन धर्म के पक्के भक्त थे। इनमें एक गंगराज था जिसने अनेक जैन मन्दिर बनवाये, बहुतों की मरम्मत कराई और अनेक जैन संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान दिया। उसकी पत्नी लक्ष्मीमती जैन संल्लेखना के नियमों के अनुसार मृत्यु को प्राप्त हुई, और उसके सुप्रतिष्ठित स्वामी ने उसकी स्मृति में श्रवणबेलगोला में समाधि-लेख अंकित करवाया। विष्णुवर्धन के अन्य सेनापति, जो जैन धर्म को मानते थे और ठीक से सेवा करते थे, वे बोप्प, पुनिस, मनियन और भरतेश्वर थे जिनका जैन आचार्यों और धर्म के कृत्यों के प्रति समर्पण श्रवणबेलगोला और अन्य स्थानों के बहुत से लेखों में उल्लिखित है। विष्णुवर्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने श्रवणबेलगोला की यात्रा की और प्रख्यात सेनापति हुल्ल द्वारा निर्मित चतुर्विंशति बगदि को एक ग्राम का दान दिया। उत्तर होयसल राजा भी जैन धर्म के संरक्षक थे। उनमें से दो वीर बल्लाल द्वितीय और नरसिंह तृतीय के आध्यात्मिक पूर्वज जैन साधु थे। इन्होंने और अन्य ने जैन मन्दिरों की स्थापना की और उनको अच्छा दान दिया।

सामंत और उच्च अधिकारी

न केवल इन प्रमुख राजघरों ने जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया, वरन इस धर्म को अनेक सामंत, राजाओं और साथ में प्रदेश के राजाओं ने भी अपना लिया। शांतर, जो कर्नाटक के कुछ भाग अर्थात् आधुनिक तीर्थ हल्लितालुक और समीप के प्रदेश पर शासन करता था, बहुत प्राचीन समय से जैन धर्म का अनुयायी था। भुजबल शांतर ने अपनी राजधानी पोम्बुर्च में जैन मन्दिर खड़ा किया और इसकी देखभाल के लिए अपने गुरु कनक नंदिदेव को एक ग्राम दान दिया। वीर शांतर के मंत्री नगुलरस का 1081 ई॰ में जैन धर्म के दुर्ग के रूप में बखान किया जाता है। बाद के राजाओं ने अनेक जैन मन्दिर और चैत्य बनाये और उनको उचित भूमि और कर दान में दिये। 1173 ई॰ में वीर शान्तर को जिन के कमलरूपी चरण को भ्रमर के रूप में वर्णन किया है। बाद में शांतरों ने वीर शैव धर्म को स्वीकार कर लिया, और इसका कुछ सीमा तक इस क्षेत्र में जैन धर्म पर भी प्रभाव पड़ा। तेरहवीं सदी में शांतरों ने अपनी राजधानी कलस बदल ली, और बाद में तुलुव में कर्कल को, जहां उनके नये धर्म के होने पर भी वे जैन धर्म के प्रति निरन्तर उदार रहे।

कोड़गाल्व, जो मैसूर के हसन जिले के उत्तर कुर्ग और दक्षिण के अर्कुल्गुद तालुका में शासन करते थे और जो ग्यारहवीं सदी में शक्तिशाली हो गये, जैन धर्म के बड़े आश्रयदाता थे। कोड़गाल्य शासकों ने जैन मन्दिरों का निर्माण किया और बारहवीं सदी के आरम्भ तक इनकी देखभाल के लिए अनुदान दिये गए। होयसल द्वारा अपने प्रदेश से चोलों द्वारा खदेड़े जाने के परिणामस्वरूप कोड़गाल्वों का पतन हो गया।

इसी प्रकार चंगनाड़ (मैसूर का वर्तमान हुणसूर तालुका चंगालव) यद्यपि शैव धर्म के अनुयायी थे, जैन धर्म के प्रति उदार थे, जैसाकि 1091 ई॰ और 1100 ई॰ के अभिलेखों से स्पष्ट सिद्ध होता है। वे जैन मन्दिरों के निर्माण और उनको दान का उल्लेख करते हैं। हनसोगे और पनसोगे नगर में (मैसूर का येदतोरे तालुका) चौसठ बसदियों में कुछ को राम के पिता दशरथ ने बनवाया। इस वंश के अनेक अभिलेख तिथि और बिना तिथि के हैं, जो ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी के हैं। अकेले राजाओं और सामंतों के अतिरिक्त वणिक वर्ग और अन्य के हैं जिन्होंने मन्दिर बनवाये, मूर्तियों की प्रतिष्ठा की, पूजा की, नित्य देवता और धर्म के लिए दान दिये। उन्होंने सांसारिक मोह को त्याग कर और जैन धर्म के अनुसार दृढ़ता से उपवास कर अपने जीवन का अन्त किया। समस्त दक्षिण में बिखरे हुए पाये जाने वाले जिन मन्दिर, चैत्य, मूर्तियों और निषिदकायें स्पष्टतया इस बात को सिद्ध करती हैं कि इस काल में जैन धर्म बहुत लोकप्रिय था और राजा से कृषक तक सब वर्गों के लोगों का जीवित धर्म था। वह जीवन काल में धार्मिक कृत्यों और उदारता की ओर प्रेरित करता था। इससे मृत्यु में शांति और आशा प्राप्त होती थी।

वारंगल के काकतीय

काकतीय पहले पाश्चात्यकालीन चालुक्यों के सामन्त थे और उनके पतन के पश्चात् उन्होंने तेलिंगाने में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित की। काकतीय शासन का पहला केन्द्र अन्यकोंड (अथवा हनुमकोंड) था परन्तु बाद में उनकी राजधानी वारंगल (अथवा ओरगल्लु) हो गई। इस कुल को विख्यात करने वाला पहला राजा प्रोलराज था, जिसका एक अभिलेख चालुक्य विक्रम संवत, 42 = 117-18 ई॰ का है। उसने पश्चिमी चालुक्यों को युद्ध में परास्त कर, दीर्घकाल तक शासन किया। रुद्र (राजा रोहण लगभग 1160 ई॰) और उसके अनुज महादेव के शासन के बाद महादेव के पुत्र गणपति 1199 ई॰ में काकतीय गद्दी पर बैठा। वह इस राजकुल का सर्व-शक्तिमान नृपति था और उसने 62 वर्ष राज्य किया। उसका चोल, कलिंग, सेउण (अर्थात् यादवराज), कर्णाट, लाट और बलनाडु, आदि राजाओं को परास्त करना कहा जाता है। गणपति संभवतः चोलराज की दुर्बलता और तेरहवीं सदी के द्वितीय चरण में दक्षिण भारत की विघटित राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही इस प्रकार सफल हो सका। पुत्रहीन होने के कारण गणपति का उत्तराधिकार 1261 ई॰ के लगभग उसकी कन्या रुद्राम्बा को मिला। तीस वर्ष राज्य करने के बाद रुद्राम्बा की गद्दी पर उसका पौत्र प्रतापरुद्रदेव बैठा। प्रतापरुद्र काकतीय वंश का अंतिम प्रभावशाली नरेश था और उसे मलिक काफूर की दक्षिण आक्रमण यात्रा के समय मुसलमानों के आगे आत्मसमर्पण करना पड़ा। तदनन्तर काकतीयों का प्रभाव घटने लगा और अंत में उनका राज्य दक्कन के बाहमनी सुल्तानों के हाथों में चला गया।

काकतीयों ने तेलुगु प्रदेश में अपनी जीवनवृत्ति का आरम्भ किया। तब राष्ट्रकूटों के अधीन जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था। विशेषकर तेलंगाना में मेमुलवेड चालुक्यों ने इस धर्म को पूरा संरक्षण दिया जैसाकि उनके स्मारकों तथा साहित्यिक ग्रंथ *यशस्तिलक* और *आदि पुराण* से प्रमाणित होता है। ये दोनों ग्रंथ क्रमशः उनके दरबारी कवि सोमदेव पम्प द्वारा लिखे गये थे। पूर्व काकतीय उस काल से अधिक दूर नहीं थे। जैसाकि *सिद्धेश्वर चरित्र* में कहा गया कि उनका माधववर्मन् की कल्पित कथा से जैन धर्म का सम्बन्ध प्राचीन दिनों से है। सेनिग्राम के अभिलेख में उल्लेखित है कि बेत प्रथम ने यद्धमल्ल जिनालय को उपहार दिया। मेडरस प्रथम बनजिपेत के अभिलेख के अनुसार काकतीय बेत द्वितीय ने जैन बसदि को उपहार दिया। प्रोल द्वितीय का 1117 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि उसके मंत्री की पत्नी मैलम और मेदराज द्वितीय ने कदललाय बसदि को बनाकर उसको दान दिया।

प्रतापरुद्र के समय तक गरुड़ चिह्न उनके ध्वज की शोभा बढ़ाता था। विद्यानाथ के *प्रतापरुद्रीय* में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि इसका सम्बन्ध वैष्णव धर्म से हो। यह बहुत संभव है कि यह कोई जैन चिह्न हो जैसे सोलहवें तीर्थंकर का गरुड़ चिह्न।

गोविन्दपुरम अभिलेख और तेलुगु काल-क्रम के *सिद्धेश्वर-चरित्र* में पाये जाने वाले समान कथन में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। गोविन्द-पुरम् के अभिलेख के अनुसार पोल वंश राजाओं के संस्थापक ने जिन के आदेश से यक्षेश्वरी की कृपा से आठ हजार हाथी, दस करोड़ घोड़े और असंख्य सैनिकों की शक्ति प्राप्त की। यही *सिद्धेश्वर क्षेत्र* में कहा गया कि पद्माक्षी देवी की कृपा से काकतीय परिवार के संस्थापक ने हजारों हाथियों, लाखों घोड़े और पैदल सेना प्राप्त की। प्रोल द्वितीय का पुत्र दुर्ग का दक्षारम अभिलेख माधववर्मन् को काकतीय वंश के संस्थापक के रूप में उल्लेख करता है। अनुमकोड़ग के समीप पहाड़ी पर पद्माक्षी की मूर्ति निःसंदेह जैन देवी है यद्यपि यह अभी शैव देवी के रूप में पूजी जाती है। तीर्थंकरों की मूर्तियों के मध्य इस देवी को शैव देवी के रूप में विश्वास नहीं किया जा सकता। मूल जैन देवी काकतीयों के शैव झुकाव के कारण धीर-धीरे शैव देवी के रूप में बदल गयी। यह जैन कथा स्वयं शैव कथा के रूप में बदल गई। देवीमूल में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षेश्वरी या शासन देवी पद्मावती हो सकती है। मन्दिर के सामने रखे पोल द्वितीय के अभिलेख को संपादित करते हुए एच॰ कृष्ण शास्त्री ने विचार व्यक्त किया है कि इसमें उल्लेखित कदललायवसदि अम्बिकादेवी व पद्मावती देवी का कन्नड़ नाम कदललाय के प्रति समर्पित था। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि काकतीयों के पूर्व राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। यह विश्वास करना ठीक है कि अनुमकोण्ड पहाड़ी पर जैन देवी गरुड़ बेत व बेत प्रथम द्वारा स्थापित की

गई और उसको जैसाकि गुडुर अभिलेख में कथन है, काकती नाम से पुकारा गया। कामबसानी ने गरुड़ बेत को पुनः राजा बनाकर काकती वंश की स्थापना की।

यह कि जैन धर्म को प्रोत्साहन बाद के काकतीय राजाओं ने किया, इसकी जानकारी पद्माक्षी पहाड़ी पर रुद्र के मंत्री गंगाधर द्वारा जैन वसति के पुनरुद्धार के कार्य से होती है। हम्मकोड के उसके अभिलेख से भी इसकी जानकारी होती है।

अप्पयार्य नाम का जैन कवि अपनी *जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय* में उल्लेख करता है कि उसने काकतीय कुमार रुद्रदेव यानी प्रतापरुद्र के राज्य में इस ग्रंथ को पूरा किया। इससे भी व्यक्त होता है कि जैन धर्म आंध्र में काकतीय काल के अंत तक फलता-फूलता रहा।

जैन धर्म की इस काल में समाज के प्रति सामान्य प्रवृत्ति की जानकारी रुद्र के राज्य के समय जनगांव तालुका के बेक्कल्लु अभिलेख से होती है। किसी नेल्लिरेड्डी ने अपने परिवार के अनेक सदस्यों के नाम पर इक्कीस मन्दिर शिव के बनवाये यद्यपि जैन धर्म उसका कुल धर्म था। एक अभिलेख में तेलुगु गद्य और पद्य में विशेष कथन मिलता है कि चार समय शैव, वैष्णव, उसका स्वयं जैन और बुद्ध अविश्वास (संजय हेतु) के कारण हैं किन्तु ईश्वर सब धर्मों और समयों में केवल एक था। इस दृढ़ विश्वास के साथ उसने इन सब मन्दिरों को शिव के लिए बनवाया। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों अधिकतर लोग इन चार धर्मों का बिना किसी वैमनस्यता के पालन कर रहे थे।[448]

दक्षिण के कलचुरि

दक्षिण के कलचुरियों में बिज्जल महत्त्वपूर्ण था। बिज्जल और उसके पुत्रों का चालुक्य सत्ता पर अधिकार कुछ वर्षों तक रहा, और बिज्जल को 1167 ई॰ में त्यागने को बाध्य होना पड़ा। उसके राज्य के कुछ काल की विशेषता लिंगायत व वीर-शैव सम्प्रदाय के उत्थान की थी। यह कहा जाता है कि बिज्जल ने लिंगायतों का वध किया, जिसके परिणाम में उसके भी जीवन का अंत हो गया। इसके पश्चात् उसके सब पुत्र एक के पश्चात् दूसरा ने 1183 ई॰ तक राज्य किया। किन्तु उनमें से किसी में अपने पिता के हड़पने की योग्यता का लाभ नहीं उठाया। हर प्रकार वे होयसल बल्लाल द्वितीय (1173-1220 ई॰) के विरुद्ध शत्रुता रखने में सफल रहे। कलचुरि सत्ता को तैल तृतीय के पुत्र चालुक्य सोमेश्वर ने 1183 ई॰ में समाप्त कर दिया।

कलचुरियों के सात अभिलेखों का पता है। पहला लेख[449] सन् 1159 ई॰ का है तथा इसमें किसी सेनापति द्वारा एक जैन आचार्य को दान मिलने का वर्णन है। यह लेख राजा

448. *द काकतीयस्*, पृ॰ 272-74.

449. *जै॰शि॰सं॰*, 4, सं॰ 251.

बिज्जल के समय का है। इस राजा का उल्लेख चार अन्य लेखों[450] में है। ये लेख सन् 1161 से 1168 तक के हैं तथा इनमें स्थानीय अधिकारियों द्वारा जैन आचार्यों को मिले हुए दानों का वर्णन है। इस वंश के अंतिम दो लेख[451] राजा सोविखे राज्य के सन् 1173 तथा 1175 के हैं तथा इनमें भी स्थानीय व्यक्तियों के दानों का उल्लेख है। यद्यपि बिज्जल लिंगायतों का वध करने वाला था, वह जैन धर्म के प्रति उदार था जैसाकि उसके राज्य में दिये हुए दान से स्पष्ट होता है।

देवगिरि के यादव

जब मान्यखेट के राष्ट्रकूट और कल्याण के पश्चिमी चालुक्य दक्कन के स्वामी थे, तब देवगिरि के यादव सामंतवर्गीय थे। इस कुल का पहला महान् नृपति भिल्लम पंचम था जिसने अराजकता की स्थिति का लाभ उठाकर अपनी राजधानी देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) में स्थापित की। भिल्लम का उत्तराधिकारी उसका प्रथम पुत्र जैतुगी अथवा जैत्रपाल प्रथम (1191-1210 ई॰) हुआ। यादवों ने अपने समसामयिकों में धीरे-धीरे अपना प्रभाव बढ़ाया। जैतुगी का पुत्र सिंघण सबसे शक्तिशाली राजा था, और अपने राज्यकाल (लगभग 1210 से 1247 ई॰ तक) में उसने कई देशों को जीता। सिंघण के पश्चात् उसका पौत्र कृष्ण (लगभग 1247-60 ई॰) उत्तराधिकारी हुआ। इसके पश्चात् उसका भाई महादेव (लगभग 1260-71 ई॰) राजा हुआ जिसने कुछ प्रदेशों को जीता। रामचन्द्र के शासनकाल में मुस्लिम सेना अलाउद्दीन खिलजी के नेतृत्व में, जो करों का शासक था, दक्षिण की ओर बढ़ी और 1249 ई॰ में देवगिरि को सहसा घेर लिया। रामचन्द्र को नितान्त अपमानजनक संधि करनी पड़ी।

देवगिरि के यादवों के पन्द्रह जैन अभिलेख हैं। इनमें सबसे प्राचीन अभिलेख[452] सिंघण के समय का 1230 ई॰ का है। इसमें जैन मन्दिर को कुछ दान देने का वर्णन है। तीन जैन अभिलेखों[453] में तीन महाप्रधान प्रभाकरदेव, मल्ल और बीचिराज द्वारा जैन मन्दिरों को दान देने का विवरण है। ये अभिलेख 1245 से 1247 ई॰ तक के हैं। चार जैन अभिलेख[454] कन्हरदेव के राज्य के हैं जिनमें तीन का संबंध दान से तथा एक का समाधि मरण से है। तीन जैन अभिलेख[455] राजा महादेव के हैं, और इनकी तिथि 1265

---

450. वही, सं॰ 256, 260, 261, 262.
451. वही, सं॰ 267, 270.
452. *जै॰शि॰सं॰*, 4 सं॰ 336.
453. वही, सं॰ 328, 329, और 330.
454. वही, सं॰ 334, 336, 337 और 339.
455. वही, सं॰ 340, 341 और 344.

और 1269 ई॰ है। समाधि मरण के भी स्मारक हैं। चार अभिलेख[456] राजा रामचन्द्र के हैं जो 1285 से 1297 ई॰ के हैं। पहले अभिलेख में मायदेव नाम के सर्वाधिकारी द्वारा जैन मन्दिर के निर्माण का वर्णन है। दूसरा समाधि मरण का अभिलेख है, और तीसरा मन्दिर को दान करने का उल्लेख करता है। चौथा अभिलेख महामंडलेश्वर टीकमदेव के मंत्री के पुत्र द्वारा एक मन्दिर के मरम्मत का उल्लेख करता है। ये अभिलेख यादवों की देवगिरि के राज्य में जैन धर्म की प्रवृत्तियों को व्यक्त करते हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार

पूर्व मध्यकाल में दक्षिण के वणिकों द्वारा सामुद्रिक यात्रा की प्रेरणा के कारण दक्षिण-पूर्व एशिया में औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार हुआ। कम्बोज में जैन धर्म के चिह्न पाये जाते हैं। जयवर्मन् सप्तम जो बारहवीं सदी में राज्य करता था, पहले बौद्ध था किन्तु बाद में जैन धर्म का अनुयायी हो गया।[457] इससे ज्ञात होता है कि इस काल में यहां पर जैन धर्म के कुछ अनुयायी थे। वास्तव में शैव धर्म का अधिक प्रभाव था और उसके पश्चात् वैष्णव का। बौद्ध धर्म लोकप्रिय था।[458]

संघर्ष का युग

महमूद गजनी (998-1030 ई॰) का आक्रमण

महमूद गजनी गजनी के सिंहासन पर बैठा। भारत में उसकी छवि केवल लुटेरे, मन्दिर और मूर्ति-भंजक की थी। उसने भारत पर सत्रह आक्रमण किये बताए जाते हैं। भारत पर महमूद के आक्रमणों का उद्देश्य उत्तर भारत के समृद्ध नगरों और मंदिरों को लूटना था। पंजाब से महमूद ने नगरकोट की पहाड़ियों और देहली के समीप थानेसर पर आक्रमण किया। उसका सबसे अधिक साहसी आक्रमण 1080 ई॰ में कन्नौज के विरुद्ध था और 1025 ई॰ में गुजरात में सोमनाथ के विरुद्ध था। कन्नौज के विरुद्ध आक्रमण में उसने मथुरा और कन्नौज पर आक्रमण किया और लूटा, और अनन्त धन से लदा बुंदेलखंड

456. वही, सं॰ 352, 354, 355 और 359.
457. बी॰आर॰ चटर्जी, *इंडियन कल्चरल इनफ्लुएन्स इन कम्बोड़िया,* पृ॰ 195.
458. जिनेश्वरदास अपने ग्रंथ *अंगकोर के पंचमेरु मंदिर में* उल्लेख करता है। जैन पूजाओं में जिन पंचमेरु और नंदीश्वर द्वीप का वर्णन किया गया है, वे अंगकोरवाट के अंगमेरु और नंदीश्वर द्वीप के जैन मंदिर थे। पांडिचेरी की फ्रेंच लायब्रेरी के 900 अभिलेखों में से कुछ का संबंध इंडोनेशिया के जैन धर्म से हो सकता है। इन मंदिरों की अर्द्धपद्मासन और नागमूर्तियों का संबंध जैन तीर्थंकरों से हो सकता है। अंगकोर के पड़ोसी स्थान जैन तीर्थंकरों के जन्म-स्थल हो सकते हैं। कंबोडिया की राजधानी के राष्ट्रीय संग्रहालय में जैन मूर्तियां हैं। ये विचार ठीक प्रतीत नहीं होते। इन मंदिरों और मूर्तियों का संबंध जैन धर्म से है किन्तु बौद्ध धर्म से नहीं।

में कालिंजर की ओर लौटा। महमूद मुल्तान से किनारे-किनारे बिना कड़ा सामना करते हुए बढ़ा और सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। भारत में पंजाब के बाहर यह उसका अन्तिम आक्रमण था। उसकी मृत्यु गजनी में 1030 ई॰ में हुई।

महमूद गजनी के इन आक्रमणों से जैन धर्म को बड़ा नुकसान हुआ। भारत पर आक्रमण करते महमूद ग़जनी राजस्थान से भी गुजरा और मार्ग के नगरों को नष्ट किया। भारत के हृदय में स्थित नारायण के विरुद्ध महमूद गजनी ने सेना भेजी। इस स्थान के राजा अपने देश की रक्षा हेतु वीरता से लड़ा किन्तु उसकी हार हुई। सुल्तान ने निर्दयता से मूर्तियों को तोड़ा और बड़ी लूट की, जिसमें हाथी और घोड़े भी सम्मिलित थे। इस स्थान का बहुत व्यापारिक महत्त्व था, और यह मध्य एशिया की विदेशी और देशी वस्तुओं का वाणिज्य केन्द्र और मंडी भी बन गया था। ए॰ कनिंघम ने इस स्थान की पहचान अलवर के समीप नारायणपुर से की है, और अन्य विद्वानों ने भी इसको माना है।[459] यह पहचान संदेहयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि दसवीं व ग्यारहवीं सदी में नारायणपुर नारायण के नाम से नहीं जाना जाता था। इस समय धनी वणिकों द्वारा बसा होने के कारण यह समृद्ध नगर था। इस स्थान से जमीन में से प्राप्त पूर्व मध्यकालीन मूर्तियाँ (दसवीं और ग्यारहवीं सदी) सिद्ध करती हैं कि इस पर मुस्लिम सेना का आक्रमण हुआ था। जिस राजा का महमूद के साथ झगड़ा हुआ था, वह शाकम्बरी के चौहान राजा दुर्लभ का पुत्र गोविन्दराज द्वितीय था। शाकम्बरी (सांभर)[460] नरेणा से 13 कि॰मी॰ दूरी पर स्थित है। फिरिश्ता का कहना है कि महमूद सोमनाथ सांभर के मार्ग की ओर से आया था।

1024 ई॰ के आक्रमण के समय उसने राजस्थान के रेगिस्तान के मार्ग से आगे बढ़कर नियत स्थान पर पहुंचने का निश्चय किया। यात्रा करते समय उसने मार्ग के नगरों को नष्ट कर दिया। वह पहले लोदोर्व पहुंचा। महमूद गजनी के मुस्लिम आक्रमण के समय लोदोर्व का पार्श्वनाथ चिन्तामणि का मन्दिर नष्ट कर दिया गया। 1618 ई॰ में सहजकीर्ति द्वारा लिखित *शतदल पार्श्वनाथ यंत्र प्रशस्ति*[461] से ज्ञात होता है कि बाद में खीमजी और पूनसी द्वारा इसकी मरम्मत करवायी गयी। सोमनाथ के मार्ग पर सांचोर और चन्द्रावती भी उसकी सेना द्वारा लूट लिये गए। महमूद ने इन स्थानों के जैन मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट कर दिया। इन दो स्थानों के कुछ मन्दिरों का पुनरुद्धार किया गया। मथुरा और कन्नौज पर आक्रमण करते महमूद ने इन नगरों को नष्ट कर दिया।

---

459. *द स्ट्रगल फॉर एम्पायर,* पृ॰ 10, *दी सल्तनत ऑफ देहली,* पृ॰ 49, ओरीलस्टीन इस स्थान को पंजाब में साल्ट रेंज में स्थित करता है। *आर्क्योलाजिकल रिमेन्स एण्ड एक्सकेवेशन्स एट बैराठ,* पृ॰ 40.

460. *द साल्ट फोर एम्पायर,* पृ॰ 23, फु.नो. 13.

461. *ना॰जै॰इं॰,* सं (2, 543).

तबकात-ए-नासिरी और तारीख-ए-फिरस्त से ज्ञात होता है कि मुहम्मद बहलिन, जिसको गजनी के बहराम शाह ने 1112 ई॰ में हिन्दुस्तान में उसके साम्राज्य का गवर्नर बनाया, ने नागौर के नगर को जीता और सुरक्षा हेतु दुर्ग बनाकर दृढ़ किया। हमिदुद्दानी रैहाणी नाम का मुस्लिम संत 1112 ई॰ के पहले और बाद में बस गया। वह जैन धर्म से बहुत प्रभावित हुआ और इसका अनुयायी हो गया। उसकी कब्र और रहवास के अवशेष नागौर में अब तक पाये जाते हैं।[462]

उत्तर भारत के तुर्कों की विजय

सिहाबुद्दीन गोरी (1172-1206 ए॰ डी॰) जो मुइज्जुद्दीन मोहम्मद के नाम से जाना जाता है, गजनी की राजगद्दी पर 1173 ई॰ में बैठा। मुइज्जुद्दीन गोमल मार्ग से आगे बढ़ा और मुल्तान और उंच को जीता। 1178 ई॰ में उसने राजस्थान को पार कर गुजरात में प्रवेश का प्रयत्न किया, किन्तु गुजरात के राजा ने आबू के समीप युद्ध में मुइज्जुद्दीन अहमद को पूर्णतया हरा दिया। भाग्य से मुइज्जुद्दीन की जान बच गई। महत्त्वाकांक्षी सुल्तान मुइज्जुद्दीन मुहम्मद और पृथ्वीराज में युद्ध स्वाभाविक था। तबरहिन्द (भटिंडा) को लेकर एक दूसरे की विरोधी सेनाओं का झगड़ा शुरू हुआ। 1191 ई॰ के तराई के युद्ध में गोरी की सेना बुरी तरह परास्त हुई और मुइज्जुद्दीन मुहम्मद की जान बच गई। 1192 ई॰ का तराई का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास में एक परिवर्तन करने वाला बिन्दु माना जाता है। तुर्की सेनाओं ने हांसी का दुर्ग, सरस्वती, समन और अजमेर को जीता। देहली का तोमर राजा खदेड़ दिया गया और देहली को गंगा की घाटी में तुर्कों को आगे बढ़ने का आधार माना गया। देहली का क्षेत्र और पूर्वी राजस्थान तुर्कों के अधीन चले गये। ऐबक ने गुजरात और अणहिलवाड़ के राजा भीम द्वितीय को हराया और अन्य नगरों को लूटा और नष्ट किया। इस प्रकार तराई और चांदवाड़ के युद्धों ने उत्तर भारत में तुर्क साम्राज्य की नींव डाल दी। उसने ग्वालियर और बयाना के दुर्गों पर अधिकार कर लिया, और चन्देलों से कालिंजर, महोबा और खजुराहो को जीत लिया।

मुहम्मद गोरी के समय-समय पर आक्रमणों के परिणामस्वरूप जैन धर्म को बड़ा नुकसान हुआ। मुसलमानों ने मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट किया। लोगों ने अपने शहरों और नगरों को छोड़ दिया, और सुरक्षा के लिए निःशंक स्थानों को चले गए। *उपकेशगच्छ प्रबंध*[463] से यह ज्ञात होता है कि मुहम्मद गोरी की सेना ने जाते हुए 1195 ई॰ में ओसिया को नष्ट कर दिया। इस मुस्लिम आक्रमण ने लोगों को डर के कारण घर-बार छोड़कर सुरक्षित स्थानों को जाने पर बाध्य कर दिया। आशधर की *धर्मामृत टीका* से ज्ञात होता

---

462. *वीरवाणी*।

463. *लहर*, 2, 8, पृ॰ 14.

है कि उसने मुस्लिम आक्रमण[464] के परिणामस्वरूप धारानगरी के लिए मांडलगढ़ को छोड़ दिया। चौहानों की हार के परिणामस्वरूप सांभर, नाडोल, नरहड़, आदि पर बुरा प्रभाव पड़ा।

मुहम्मद गोरी ने 1196 ई॰ में बयाना के कुंवरपाल नाम के सूरसेन राजा को हराया, और इसको भाउद्दीन तुगरिल के अधिकार में रखा। इस आक्रमण के कारण कामा और तहनगढ़ को बड़ा नुकसान हुआ। मुसलमानों ने हिन्दू और जैन मन्दिरों को नष्ट किया, और उनके अवशेष पर अनेक मस्जिदों को खड़ा किया। उसने इन स्थानों पर सब प्रकार की सुविधाएँ देकर मुसलमानों को बसने के लिए आमंत्रित किया, और जैनियों को बाध्य होकर इन स्थानों को छोड़कर जाना पड़ा। 1218 ई॰ में रचित *जिनदत्त चरित*[465] प्रशस्ति से यह जान पड़ता है कि कवि लक्ष्मण त्रिभुवन गिरि (तहनगढ़) को छोड़कर कृष्णविलास चला गया। अजमेर का ढाई दिन का झोपड़ा जो मूल में जैन मन्दिर और संस्कृत कालेज था, मस्जिद में बदल दिया गया।[466]

जयपुर जिला, जंभोली में हनुमान मन्दिर का शिव चैत्य मूल में चन्द्रप्रभु का जैन मन्दिर था। इस मन्दिर की धरन पर अंकित लेख[467] में चन्द्रप्रभु जिन की स्तुति में अकलंक के भाई पंडित निष्कलंक सेन द्वारा रचित पांच पद्य हैं। कुछ भट्टारकों के नाम दिये हैं जैसे अमृतसेन, सम्यमसेन सूरि, ब्रह्मसेन और योगसेन। अंतिम भट्टारक वह है जिसके चरणों की पूजा तुरुष्क भी करते थे।

बख्तियार खिलज़ी नाम के खिलज़ी अधिकारी के अधिकार में बनारस के पीछे का कुछ क्षेत्र था। अराजकता का लाभ उठाकर उसने बिहार पर लगातार आक्रमण किया। उसने प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय और विक्रमशिला विश्वविद्यालय पर आक्रमण किया और उनको नष्ट किया। इसके पश्चात् वह सेना के साथ बंगाल के सेन राजाओं की राजधानी नाडिया की ओर बढ़ा। यह आंतरिक साधनों और विदेशी व्यापार के कारण समृद्ध था।

मुहम्मद बिन बख्तियार, जिसने बिहार और बंगाल पर विजय की, के आक्रमण से जैन धर्म को बड़ा धक्का लगा। उसने अनेक जैन मन्दिरों को धराशायी कर दिया। जैन समुदायों का कत्लेआम कर दिया और उनके ग्रंथों को जला दिया। इन आक्रमणों के कारण जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या प्रायः कम हो गई, और उन्हें काफी नुकसान

---

464. *जै॰सा॰इ॰*, पृ॰ 344.
465. *अकां॰*, 8, पृ॰ 400.
466. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 51.
467. *इं॰आ॰रि॰*, 1970-71, पृ॰ 52.

उठाना पड़ा। भारत में अनेक सुन्दर मुस्लिम मस्जिदें जैन मन्दिरों को तोड़कर उनके पाषाणों से बनाई गईं। इन विजेता मुसलमानों को जैन मन्दिरों और भवनों में मस्जिद बनाने के लिए थोड़ा ही परिवर्तन करना पड़ा।[468]

देहली सल्तनत

मुइज्जुदीन मुहम्मद गोरी के पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐबक राजगद्दी पर बैठा। वह एक तुर्की गुलाम था, जिसने तराई के युद्ध के पश्चात् भारत में तुर्की सल्तनत के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। देहली सल्तनत का स्वतंत्रता से उत्थान होने में इसने सहायता दी। 1210 ई॰ में इल्तुतमिश (1210-36 ई॰) ऐबक का उत्तराधिकारी हुआ। उसे उत्तर भारत में तुर्की विजयों का एकीकरण करने वाला माना जाना चाहिए। इल्तुतमिश को सबसे बड़ा भय मंगोलों के चंगेज खां से हुआ किन्तु वह लौट गया। इल्तुतमिश ने 1225 ई॰ में बंगाल पर आक्रमण किया और वहां के राजा को हराया। 1232-34 ई॰ में उसने ग्वालियर और मालवा को जीता।

इल्तुतमिश ने अपनी पुत्री रजिया को 1236 ई॰ में सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाया। अपना अधिकार बताने के लिए रजिया को अपने भाई तथा साथ में शक्तिशाली तुर्की सामंतों से लड़ना पड़ा। वह केवल तीन वर्ष तक राज्य कर सकी। उसका राज्य तुर्की सामन्तों और राजतंत्र के मध्य सत्ता के लिए संघर्ष का आरम्भ माना जाना चाहिए। तुर्की सामंत कभी-कभी चालीस के नाम से पुकारे जाते हैं। इल्तुतमिश के छोटे पुत्र नसीरुद्दीन महमूद ने बलबन की सहायता से 1246 ई॰ में सिंहासन को प्राप्त किया। बलबन को नायब बनाया गया। अपने विरोधियों से धीरे-धीरे मुक्त होकर वह 1266 ई॰ में सिंहासन पर बैठा। उसने केन्द्रीय सरकार की स्थापना की, और राजतंत्र की प्रतिष्ठा और शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। पड़ोस में अराजकता के तत्त्वों का सामना करने के लिए उसने कठोर नीति को अपनाया। बलबन की मृत्यु 1286 ई॰ में हुई। वह निःसंदेह देहली सल्तनत के मुख्य निर्माताओं में से एक था। राजतंत्र की शक्ति को बढ़ाकर बलबन ने देहली सल्तनत की शक्ति को बढ़ाया। इसके उपरांत भी वह मंगोलों के आक्रमणों के विरुद्ध उत्तर भारत की पूर्ण रक्षा नहीं कर सका।

देहली सल्तनत के राजाओं ने गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध एक निश्चित धार्मिक नीति अपनाई। वे उनसे विशेषकर जाज़िया वसूल किया करते थे। अधिकतर मुस्लिम शासक तीर्थों में धर्म के अनुयायियों से यात्रा-कर वसूल करते थे। प्राचीन मन्दिरों की मरम्मत नहीं करायी जा सकती थी तथा नये मन्दिरों का निर्माण नहीं हो सकता था। सार्वजनिक मूर्ति-

---

468. *हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म इन बिहार,* पृ॰ 179.

पूजा की मनाही कर दी गई थी। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि कहां तक यह व्यादेश कार्यान्वित होता था और गैर-मुस्लिमों, जिनमें जैन भी थे, द्वारा पालन किया जाता था। देहली सल्तनत काल में बहुत से जैन मंदिर बनवाये गये और अनेक मूर्तियां उनमें प्रतिष्ठित की गईं। जैन विद्वानों ने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा जैन धर्म के उत्थान में योगदान दिया। जैन भंडारों को प्रस्तुत करने के लिए जैन ग्रंथों की बहुत सी प्रतियां लिखायी गईं। कुछ जैन अधिकारियों को सुल्तान द्वारा उच्च पदों पर नियुक्त किया गया।

गुलाम वंश

इल्तुतमिश के समय मुस्लिमों ने राजस्थान और मालवा क्षेत्र में जैन धर्म का बड़ा नुकसान किया। इसकी जानकारी परमार राजा देवपाल के राज्य में सलक्षणपुर में वि॰सं॰ 1287 में कवि दामोदर द्वारा रचित *नेमिजिन चरित* से होती है।[469] इस समय इल्तुतमिश देहली का सम्राट् था। दामोदर गुर्जर देश (राजस्थान) को छोड़कर मालव देश में बस गया। तेरहवीं सदी का लेखक मदनकीर्ति अपने ग्रंथ *शासन चतुस्त्रिंशतको*[470] में बताता है कि कैसे इल्तुतमिश के आक्रमण से मालव देश में मंगलपुर का अभिनन्दन तीर्थ नष्ट हो गया।

भारों के पश्चात् चौहान राजा चन्द्रपाल ने चन्द्रवाड़ (फिरोज़ाबाद) में अपने राज्य की स्थापना की। वह स्वयं, उसके मंत्री और उसके उत्तराधिकारी जैन धर्म के अनुयायी हो गये। चन्द्रवाड़ का चौहान राजा बल्लाल था, और उसका उत्तराधिकारी आहवमल (1257 ई॰) था। उसके पिता का मंत्री सोड़श, रत्नपाल (कल्ह) का बड़ा पुत्र नगर सेठ था और उसका छोटा भाई कृष्णादित्य (कन्ह) मुख्यमंत्री और सेनापति था। इस योद्धा ने गुलाम वंश के सुल्तानों के विरुद्ध बहुत से सफल युद्ध लड़े। उसने चन्द्रवाड़ राज्य में बहुत से मन्दिर निर्मित करवाये। त्रिभुवनगिरि निवासी लक्ष्मण नाम के जैसवाल जैन कवि ने *अणुव्रतरत्न प्रदीप* 1256 ई॰ में लिखा। कृष्णादित्य का भतीजा शिवदेव अपने पिता रत्नपाल के पश्चात् नगर सेठ हो गया। अनेक पीढ़ियों वाला जैन परिवार, जिसमें अनेक लक्षाधीश और उच्च अधिकारी थे, चौहानों के चन्द्रवाड़ राज्य के स्तंभ थे। यह कहा जाता है कि चौहानों के चन्द्रवाड़ राज्य में मूर्तियों की प्रतिष्ठा के इक्यावन समारोह किये गये।

खलज़ी (1290-1320 ई॰)

जलालुद्दीन खलज़ी (1290-96 ई॰) ने केवल 6 वर्ष के कम समय के लिये राज्य किया।

---

469. *प॰जै॰प्रा॰इ॰,* 2, पृ॰ 194.

470. वही, पृ॰ 403-405.

वह देहली सल्तनत का पहला खलज़ी शासक था, जिसने स्पष्टतः अपने विचार प्रस्तुत किये कि राज्य का आधार सरकार का इच्छुक सहयोग होना चाहिए।[471]

अलाउद्दीन खलज़ी (1296-1314 ई॰) विश्वासघात करके अपने चाचा और ससुर जलालुद्दीन को मारकर राजगद्दी पर बैठा। अपने विरोधियों को डराने के लिए उसने क्रूर और निर्दयता के उपाय अपनाए। उसने विजयों द्वारा अपने साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया। गुजरात उसके अधिकार में आ गया। इसके पश्चात् उसने अपना ध्यान राजस्थान में राज्य संगठित करने पर लगाया। पहले पहल उसका ध्यान रणथम्भौर के हम्मीरदेव चौहान की ओर गया। उसको 1309-11 ई॰ के मध्य धार के राजा भोज और मेवाड़ के राणा को जीतने का श्रेय है। उसके साथी मलिक काफूर ने द्क्षिण भारत में क्रमशः वारंगल और द्वारसमुद्र के विरुद्ध दो आक्रमण किये। उसके सबसे योग्य सेनापति ज़फर खान ने मंगोलों को हराया और उनको तितर-बितर किया। बाजारों पर अलाउद्दीन द्वारा नियंत्रण करने का प्रयत्न करना उसका एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग था।

अलाउद्दीन खलज़ी के राज्य में पूर्णचन्द्र अग्रवाल देहली का करोड़पति था। सम्राट् के कहने पर उसने दिगम्बर साधु माधवसेन को दक्षिण से दिल्ली यात्रा के लिए निवेदन किया और दिल्ली में काष्ठा संघ की पीठिका स्थापित की।[472] इस संघ की आम्नाय भारत के अग्रवालों में निरन्तर चलती रही। नंदी संघ के पट्ट की स्थापना देहली में की गई और सेन संघ की पीठिका की स्थापना प्रभाकर द्वारा। अलाउद्दीन दिगम्बर साधु माधवसेन द्वारा बहुत प्रभावित हुआ।[473]

महापुराण की संस्कृत टीका का लेखक ललितकीर्ति काष्ठा संघ, माथुरगच्छ और पुष्करगण का पट्टधर था। वह अनेक मंत्रों और तंत्रों में कुशल था। अलाउद्दीन ने उसको बत्तीस फरमान दिए।[474] इन फरमानों की प्रतियां कोल्हापुर और नागौर के ग्रंथ भंडारों में पाई जाती हैं। अलाउद्दीन खलज़ी जिनप्रभ सूरि के उपदेशों से भी प्रभावित हुआ जान पड़ता है। अलाउद्दीन खलज़ी की टकसाल का स्वामी ठक्कुर था जिसने *उज्जैन द्रव्यपरीक्षा* लिखी। वह देवली का रहने वाला था। खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उपदेशों को उसने अपना लिया।

तुगलक वंश (1320-1412 ई॰)

गियासुद्दीन ने तुगलक वंश नाम के नये वंश की स्थापना की। यह वंश 1412 ई॰ तक

---

471. *ज्यो॰उ॰प्र॰जै॰*, पृ॰ 16.
472. *ज्यो॰उ॰प्र॰जै॰*, पृ॰ 16.
473. *जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰*, I, पृ॰ 21.
474. *प॰जै॰प्रा॰इ॰*, 2, पृ॰ 60.

शक्तिशाली रहा। इस वंश में तीन राजा योग्य हुए हैं – गियासुद्दीन, उसका पुत्र मुहम्मद बिन तुगलक (1324-51 ई०) और उसका भतीजा फिरोज़शाह तुगलक (1351-87 ई०)। इन राजाओं में से पहले दो जिस साम्राज्य पर राज्य करते थे उसमें प्रायः समस्त भारत था। फिरोज़ तुगलक का साम्राज्य यद्यपि छोटा था फिर भी वह प्रायः इतना बड़ा था जिस पर अलाउद्दीन खलज़ी राज्य करता था। फिरोज़ की मृत्यु के पश्चात् देहली सल्तनत का विघटन होने लगा, और उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। यद्यपि तुगलक 1412 ई० तक निरन्तर राज्य करते रहे, तैमूर का 1398 में देहली पर आक्रमण तुगलक साम्राज्य का अंत कहा जा सकता है। मुहम्मद तुगलक (1324-51 ई०) राजा के रूप में सबसे अधिक याद किया जाता है क्योंकि उसने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये तथा कृषि में बहुत रुचि दिखलाई। राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् सबसे विवादास्पद कदम उसने जो लिया वह था राजधानी का देहली से देवगिरि को बदलना। उसका अन्य कदम इस समय संकेत मुद्रा के चलाने का था।

मुहम्मद बिन तुगलक का धर्म और दर्शन में व्यापक अध्ययन था। उसमें विवेक था, और उदार दृष्टिकोण भी। वह न केवल मुस्लिम रहस्योपासकों से वरन् ब्राह्मण योगियों और जैन संतों से भी चर्चा करता था। वह दिगम्बर जैन साधु प्रभाचन्द्र का सम्मान करता था। धनपाल द्वारा 1397 ई० में रचित *बाहुबलि चरित प्रशस्ति*[475] से यह जाना जाता है कि प्रभाचन्द्र ने वाद-विवाद में अपने विरोधियों को परास्त किया और मुहम्मद बिन तुगलक के मन को प्रसन्न किया। यह कवि भट्टारक प्रभाचन्द्र का शिष्य था, और अपने स्वामी के साथ यात्रा के लिए चन्द्रवाड़ गया। वासधर ने देहली के भट्टारक पदमनन्दि से *श्रावकाचारसारोधार*[476] लिखवाया। प्रभाचन्द्र भट्टारक पद्मनंदि का शिष्य था। वासधर का इस ग्रंथ में लंबकंचुक के रूप में उल्लेख किया गया है। कवि गोविन्द द्वारा रचित *पुरुषार्थानुशासन* की प्रशस्ति से यह जाना जाता है कि अमरसिंह नाम का उसका एक पूर्वज सम्राट् मुहम्मद का अधिकारी था, और उसने अपना नाम और यश कमाया।

मुहम्मद बिन तुगलक भी श्वेताम्बर जैन आचार्य जिन प्रभसूरि का सम्मान करता था।[477] श्वेताम्बरों ने अपनी पीठ देहली में स्थापित की। जिनप्रभ सूरि को सम्राट् से फरमान प्राप्त हुआ, और वह संघ के साथ तीर्थ यात्रा के लिए मथुरा, हस्तिनापुर, आदि को रवाना हुआ। इस समय जैन फारसी इतिवृत्तियों में मयूरगान (सरावगन) के रूप में उल्लेखित किये गये हैं। मुहम्मद बिन तुगलक के संरक्षण में एक महावीर के मन्दिर को

---

475. *जै०ग्रं०प्र०सं०*, 2 पृ० 19.

476. *प०जै०प्रा०इ०*, 2, 20.

477. *ज्यो०उ०प्र०जै०*

1328 ई॰ में निर्मित करवाया गया था।[478] मुहम्मद बिन तुगलक की सहायता से जिनप्रभ ने कन्यानयन तीर्थ की मरम्मत करवाई[479]।

राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् फिरोज़ तुगलक ने देहली सल्तनत के विघटन को रोकने का प्रयत्न किया। उसने सामन्तों, सेना और मौलवियों को शांत रखने की नीति को अपनाने का प्रयत्न किया, और उन्हीं क्षेत्रों में अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया जो केन्द्र द्वारा सरलता से शासित किये जा सकते थे। इसलिए उसने दक्षिण भारत में फिर से सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। उसने दो बार बंगाल पर आक्रमण किया किन्तु दोनों में असफल रहा। इस प्रकार बंगाल सल्तनत के अधिकार से निकल गया। इसके उपरांत भी सल्तनत का साम्राज्य इतना विशाल रहा जितना अलाउद्दीन खलज़ी का आरम्भ के वर्षों में था। फिरोज़ ने उड़ीसा के राजा के विरुद्ध आक्रमण किया और कांगड़ा के विरुद्ध भी। उसने मन्दिरों को तोड़ा और लूट के सामान को एकत्रित किया। किन्तु गुजरात को मिलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसके सबसे बड़े आक्रमण गुजरात और भट्ट के उपद्रवों को शांत करना था।

फिरोज़ तुगलक उदार शासक था, और समाज के सुधार के लिए उसने अनेक जनप्रिय कदम उठाये। इस प्रकार के स्वभाव का होने से वह जैन धर्म से प्रभावित हुआ। जिनदास की *होलीरेणुका चरित*[480] से यह जाना जाता है कि पद्मावती का भक्त हरिपति फिरोजशाह द्वारा सम्मानित किया गया। हरिपति आयुर्वेद में प्रवीण था। *अराधना पंजिका*[481] में उल्लेख है कि फिरोज़शाह की प्रार्थना पर प्रभाचन्द्र ने लाल वस्त्र पहनकर अंतःपुर में दर्शन दिए। हिसार के अग्रवाल जाति का साहु नरपति का पुत्र साहु विल्ला सम्राट् फिरोज़शाह द्वारा आदर किया जाता था।[482] जब फिरोज़शाह शासन कर रहा था, तब अग्रवाल जाति के महरपाल ने वि॰सं॰ 1416 में योगिनीपुर (देहली) में *द्रव्य संग्रह* की प्रति लिखवाई। यह वि॰सं॰ 1416 में रचित *द्रव्य संग्रह* की सबसे प्राचीन प्रति है।[483] फिरोज़शाह तुगलक ने देहली में स्थित अशोक के स्तंभों में अंकित अभिलेखों को पढ़ने के लिए मयूरगन पंडितों को भी आमंत्रित किया।[484]

---

478. *को॰हि॰जै॰*, सं॰ 290, पृ॰ 356-57.
479. वही, सं॰ 127, पृ॰ 314.
480. *जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰*, I, सं॰ 45.
481. *प॰जै॰प्रा॰इ॰*, 2, पृ॰ 432-34.
482. वही, 2, पृ॰ 459-76.
483. वही, वही, अध्याय 4.
484. *ज्यो॰उ॰प्र॰जै॰*, पृ॰ 16.

सैयद

तैमूर के हमले के पन्द्रह वर्ष के पश्चात् तक देहली में सुल्तान की कोई व्यवस्थित सरकार नहीं थी। 1414 से 1450 ई॰ तक ख़िज्र खां और उसके उत्तराधिकारियों ने देहली और पड़ोस के प्रदेश पर शासन किया। ख़िज्र खां सैयद या खुदा का उत्तराधिकारी होने का दावा करता था। इसलिए कुछ इतिहासकारों ने उसके द्वारा स्थापित वंश का नाम सैयद वंश रखा।

लोदी

सुल्तान बहलाल लोदी वास्तव में पहला अफ़गान सुल्तान कहा जा सकता है। बहलाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र निज़ाम खान था जिसने सिकन्दर गाज़ी की उपाधि धारण की। सिकन्दर लोदी (1489-1527 ई॰) सबसे महत्त्वपूर्ण सुल्तान जाना जाता है। उसने कुशल प्रशासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका मुख्य उद्देश्य चन्द्रवाड़, असाईखेड़ा, केरहल, आदि के चौहानों और अटेर, हथिकंट, आदि के भदैरिया राजाओं पर नियंत्रण करना था, और दोआब के आयकर की रक्षा करना था। उसने विद्वानों को अनुदान देकर विद्या को प्रोत्साहन दिया। सिकन्दर की 1517 ई॰ में मृत्यु हुई, और उसका बड़ा पुत्र इब्राहिम राजा हुआ। जब इब्राहिम ने सामंतों को दबाने का प्रयत्न किया, तब व्यापक अंसतोष था। अंत में 1523 ई॰ में बाबर इब्राहिम के विरुद्ध बढ़ा। इब्राहिम की हार हुई, और उसकी पानीपत में 1526 ई॰ में मृत्यु हुई।

उत्तर भारत में अनेक स्थानों पर सैयद काल में बहुत से मन्दिर बने और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि सैयद और लोदी शनैः-शनैः कमजोर होते गये और हिन्दू राजा शक्तिशाली। प्रशासन में जैनियों का बहुत प्रभाव था। वे तीर्थों के संघ ले गये और उन्होंने ग्रंथों की प्रतियां लिखवाईं।[485] अग्रवाल जाति बंसल गोत्र के साहु छजु ने वि॰सं॰ 1414 में प्राकृत *हेमशब्दानुशासन* हिसार में प्रस्तुत करने हेतु लिखवाया।[486] देवगढ़ इस समय जैन धर्म का बड़ा केन्द्र हो गया। संघपति होलिचन्द समृद्ध, उदार और धार्मिक था, और उसने बहुत से जैन मन्दिर निर्मित करवाये और इस स्थान पर 1424 ई॰ में बसंतकीर्ति और पद्मनंदि से मूर्तियों को तैयार करवाया। उसके आचार्य का नाम शुभचन्द्र था। उसके पुत्र, पौत्र और श्रावक धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित हुए। जैन मूर्तियों का अभिषेक समारोह 1436 ई॰ में यहां किया गया था। राजा शिवसिंह के राज्य मुंडासा स्थान में जीवराज पापड़ीवाल से निर्मित और भट्टारक जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित जैन मूर्तियां समस्त भारत से प्राप्त हुई हैं। वे सभी 1548 के अभिलेख के छाप

---

485. *प॰जै॰प्रा॰इ॰*, 2, पृ॰ 523-24.

486. *ज्यो॰उ॰प्र॰जै॰*, पृ॰ 6.

की हैं। यह असभंव प्रतीत होता है कि इतनी संख्या में जीवराज पापड़ीवाल से निर्मित जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा मुंडासा के राजा शिवसिंह के छोटे से राज्य में हो सके। ऐसा प्रतीत होता है कि वि॰सं॰ 1548 के अभिलेख की छाप का प्रयोग बाद की मूर्तियों के लिए बिना किसी महत्त्व के लम्बे समय तक हुआ।

मुसलमानों का इस समय जैन धर्म पर प्रभाव दो प्रकार से देखा जाता है – मूर्तिपूजक और मूर्तिपूजक विरोधी। जैनियों के मूर्तिपूजकों ने बड़ी संख्या में मूर्तियों का निर्माण शुरू कर दिया। मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से जैनियों के कुछ सम्प्रदाय बड़ी तीव्रता से मूर्ति-पूजा की निंदा करने लगे। इस समय निम्न मूर्ति-पूजा विरोधी सम्प्रदायों का उद्भव हुआ – मध्य प्रदेश में तारणस्वामी का तारणपंथी, गुजरात में कडुवशाह का *श्रवणपंथ* और लोंकाशाह का *लोंकागच्छ*। ये नये संप्रदाय साधुमार्गी के नाम से पुकारे जाते थे, और वे मूर्ति-पूजा और मन्दिरों के विरोधी थे।

ग्वालियर के तोमर राजा

देहली में मुस्लिम राज्य होने के कारण तोमर ग्वालियर क्षेत्र की ओर चले गये। पहले इन्होंने अपना छोटा राज्य एटा में स्थापित कर लिया। धीरे-धीरे तोमर अपने राजा वीरसिंह के अधीन शक्तिशाली हो गये, और 1394 ई॰ में गोपाद्री दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् ग्वालियर तोमर राजाओं की राजधानी हो गया। वीरमदेव (1402-23 ई॰), गणपति देव (1423-25 ई॰), डूंगरेन्द्रदेव (1425-59 ई॰), कीर्तिसिंह देव (1459-80 ई॰), कल्याणमल्ल (1180-86 ई॰), मानसिंह (1486-1516 ई॰) और विक्रमसिंह (1516-23 ई॰), आदि प्रमुख तोमर शासक थे। अंत में देहली के लोदी सुल्तान इब्राहिम ने ग्वालियर के राजकीय वंश को उखाड़ दिया।

तोमर काल में जैन धर्म एक बड़ी सांस्कृतिक और गतिशील शक्ति के रूप में उभरा। इस क्षेत्र के जैन धर्म के इतिहास में यह काल स्वर्ण युग माना जाता है। मंत्री साहु कुशराज जैसवाल की प्रेरणा से पद्मनाभ कायस्थ ने वीरमदेव के राज्य में *यशोधर चरित* लिखा।[487] साहु कुशराज जैन धर्म के प्रति समर्पित था, और उसने ग्वालियर में चन्द्रप्रभु का जैन मन्दिर बनवाया। आचार्य अमृतचन्द्र ने ग्वालियर में वि॰सं॰ 1469 में *तत्त्व दीपिका* लिखी जब वीरमदेव ग्वालियर में शासन कर रहा था।[488]

अनेक जैन मन्दिर और गुफायें निर्मित हुईं, और अनेक जैन मूर्तियां डूंगरसिंह और कीर्तिदेव के राज्य में प्रतिष्ठित की गईं। डूंगरसिह के मुख्यमंत्री कमलसिंह ने आदिनाथ की विशाल जैन मूर्ति वि॰सं॰ 1497 में स्थापित की, और इसका अभिषेक समारोह रइधू

487. *जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰*, I, पृ॰ 5.

488. वही, I, पृ॰ 6.

के द्वारा किया गया। कमलसिंह के अतिरिक्त खेल ब्रह्मचारी, असपति साहू, संघपति नेभदास और संघपति सहदेव ने यहाँ बहुत सी मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। ये शैलकृत्य मूर्तियाँ उत्तर भारत में अदभुत हैं। ये काफी संख्या में हैं साथ ही विशाल आकार की भी। श्रावकों ने तीर्थों की यात्रा के कारण संघपति की उपाधि धारण की। इस स्थान के श्रावक अग्रवाल, खण्डेलवाल, पोरवाल और गोलालार जातियों के थे।

रइधू, जिसने प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में तीस से अधिक जैन ग्रंथ लिखे थे, महान् कवि था। कमलसिंह और उसके पिता खेतसिंह ने इन ग्रंथों को लिखने के लिए प्रेरित किया। असपति का पिता भी डूंगर सिंह का मंत्री था।

मांडू के सुलतान

1305 ई॰ में अलाउद्दीन खलज़ी द्वारा मिलाने पर भी मालवा देहली की सत्ता के अधीन निरन्तर मुस्लिम शासकों द्वारा शासित रहा जब तक यह स्वतंत्र नहीं हुआ। दिलावर खान देहली सल्तनत से 1401 ई॰ में स्वतंत्र हो गया। 1436 ई॰ में महमूद खान ने मालवा के खलज़ी सुल्तानों के वंश की स्थापना की। महमूद खलज़ी मालवा के मुस्लिम शासकों में सबसे योग्य था। उसने अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया। वह मेवाड़ के राजा कुंभा और गुजरात के अहमद के विरुद्ध भी लड़ा। उसके पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र सुल्तान हुआ, और बाद में उसका दूसरा पुत्र महमूद द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने मुस्लिम सुल्तानों को नियंत्रण करने के लिए मेदनीराय को मंत्री नियुक्त किया। गुजरात के बहादुर शाह ने 1531 ई॰ में मांडू को जीता। 1535 ई॰ में मल्लूखान ने कादिर शाह की उपाधि से मालवा में स्वतंत्र प्रभुसत्ता स्थापित की। मालवा बाज बहादुर से 1561-62 ई॰ में मुगल सेनापतियों द्वारा जीत लिया गया। दिलावर खां गोरी द्वारा मालवा में स्वतंत्र राज्य स्थापित होने से भी जैन वणिक यहाँ आने के लिए आकर्षित हुए। नए सुल्तान ने अपने राज्य की समृद्धि के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता को भी समझा, और वणिक जैनियों को अपने राज्य में आने और बसने के लिए प्रेरित किया।

होशांगशाह का राजगद्दी पर बैठने और गुजरात की अधीनता से मुक्त होने के पश्चात् दुबारा सत्ता स्थापित करने पर मालवा में जैनियों को प्रोत्साहन की नीति पर सुल्तान का विशेष ध्यान गया। राज्य की आय फसल के बाद या जब बकाया हो, तब ही वसूल की जा सकती थी। इसके विपरीत सुलतान को पहले नकद की आवश्यकता थी। होशांगशाह इस बात को पहचान गया प्रतीत होता है कि उसे जैन पूंजीपतियों से धन प्राप्त हो सकता है, और जैनी भी समझने लगे कि राज्य धन लगाने का ठीक स्थान है। इस प्रकार जैनियों को राज्य संरक्षण प्राप्त होने से मालवा में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। जैनियों का आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए होशांगशाह ने उनको सरकार में रखकर सम्मान

किया। जैनियों के लेन-देन में ईमानदारी के कारण प्रतिष्ठा थी। होशांगशाह ने नरदेव सोनी को भंडारिक (खजांची) नियुक्त किया, और अपनी मंत्रिपरिषद् में भी उसको रखा। नरदेव अपने दान के लिए प्रसिद्ध हो गया था, क्योंकि उसका पुत्र संग्राम सोनी उल्लेख करता है कि उसके दान की कोई सीमा नहीं थी, और वे नरदेव से सब प्रकार का संतोष मिलने पर घर लौटते थे।

श्रीमाल जाति का मंडन नाम का एक अन्य जैन होशांगशाह के राज्य में प्रसिद्ध हो गया था। मंडन एक सफल व्यापारी था, और व्यापार में उसने बहुत सा धन कमा लिया था। उसने अपने दान में वृद्धि की और जैन मठों को स्थापित करने हेतु खुले हाथ से धन खर्च किया। उसने न तो अपने व्यापार की अवहेलना की और न होशांगशाह को अपनी आर्थिक सहायता देने में भूल की। सुल्तान होशांगशाह ने बदले में उसका सम्मान किया।

जैनियों को आश्रय देने की नीति को महमूद खलज़ी प्रथम ने जारी रखा, और उसके राज्य में जैनियों की धार्मिक प्रवृत्तियों को अधिक बल मिला। मांडू समृद्ध जैन वणिकों का एक केन्द्र हो गया, और उन्होंने जैन कल्पसूत्रों की प्रतिलिपि कराने में अपरिमित दान दिया। इस समय अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ जान पड़ता है। वास्तव में यह बताना कठिन है कि यह जैनियों को संरक्षण देने का उद्देश्य उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करना, और व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देना था या यह सुल्तान का प्रजा के प्रति धार्मिक उदारता का परिणाम था। धनी व्यापारियों ने अपने राज्य की राजधानी में व्यापारिक प्रतिष्ठान स्थापित किये जिनसे राज्य में निश्चय ही व्यापार और वाणिज्य फला-फूला।

महमूद खलज़ी के राज्य में नरदेव सोनी के पुत्र संग्रामसिंह सोनी को वही स्थान प्राप्त था जो कि होशांगशाह के राज्य में उसके पिता को। संग्रामसिंह को सुलतान महमूद का विश्वास प्राप्त था, इसकी जानकारी बुद्धिसागर की प्रशस्ति से होती है । महमूद खलज़ी के दक्षिण पर आक्रमण के समय संग्रामसिंह उसके साथ गया और अपना ग्रंथ *बुद्धि सागर* गोदावरी पर स्थित प्रतिष्ठानपुर (पैठन) में पूर्ण किया। यहाँ वह 1463 ई॰ में पवित्र स्नान हेतु गया था। संग्रामसिंह ने अपने सुल्तान का अनुराग प्राप्त करने के लिए इस ग्रंथ में उसकी प्रशंसा की है।

कल्पसूत्र की एक प्रतिलिपि में हम महमूद खलज़ी प्रथम के राज्य में अन्य जैन परिवार का राजधानी में समृद्ध होते हुए उल्लेख पाते हैं। जसवीर अपने परिवार में बहुत प्रसिद्ध हो गया। उसने बहुत से जैन स्थानों की यात्रा की और सब जगह दान दिया। उसने बावन संघपति बनाए और स्वयं संघेश्वर की उपाधि से सम्मानित हुआ। जसवीर का सरकार से भी संबंध बना रहा। शाहजादा गियाथशाह की जागीर में भी वह उच्च पद पर रहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन वणिकों की सब राज्यों में बिना किसी बाधा के पहुँच थी। वहाँ वे या तो व्यापार के लिए या यात्रा के लिए जाते थे, और यह असंभव नहीं है कि जहाँ वे जाते थे, उन राज्यों में प्रचलित आंतरिक दशा की सूचना भी लाया करते थे और अपने राजाओं को सूचित करते थे। 1454 ई॰ में जसवीर ने मेवाड़ की यात्रा की, और राजसभा में वह राणा कुंभा के द्वारा सम्मानित किया गया। राणा कुंभा के लिए ये वर्ष कठिनाइयों के थे क्योंकि महमूद खलज़ी लगातार मांडलगढ़ की विजय के लिए जोर दे रहा था। 1454 ई॰ से 1457 ई॰ तक राणा कुंभा राठौड़ों के साथ व्यस्त रहा और महमूद खलज़ी ने मांडलगढ़ को जीत लिया। जसवीर मांडू में अपना धंधा स्थापित कर राजा कुंभा के दरबार में चला गया। राणा कुंभा के साथ मांडू के सुल्तान के संबंध ठीक नहीं थे। इस कारण महमूद खलज़ी ने मांडलगढ़ पर एक सफल आक्रमण किया। इसके पश्चात् जसवीर मांडू लौट आया। इन परिस्थितियों में संदेह उत्पन्न होता है कि जसवीर ने राणा कुंभा की राठौड़ों की कठिनाइयों की सूचना की जानकारी मांडू के सुल्तान को दे दी थी।

गियाथशाह ने न केवल अपने पिता की नीति का अनुसरण किया वरन् वह जैनियों को अधिक प्रोत्साहित करते हुए भी जान पड़ता है। यह तथ्य कि जैन उसके राज्य में सुखी और समृद्ध थे, इसकी जानकारी 1198 में रचित *कल्पसूत्र* की प्रतिलिपि की प्रशस्ति में मांडू के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर की गई स्तुतियों से होती है। जैन प्रशासन से अधिक संबद्ध हो गये, और सुल्तान गियाथशाह से उन्होंने विभिन्न उपाधियाँ प्राप्त कीं। पुंजराज (मुंज बक्काल) खालसा भूमि का वजीर बना दिया गया, और उसे मफर-उल-मुल्क की उपाधि दी गई। पुंजराज ने इसका *उपाधिका टीका* की प्रशस्ति में उल्लेख किया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि गियाथशाह के राज्य के उत्तर भाग में प्रमुख जैनियों ने राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया, और जैनियों में कुछ वैमनस्यता पाई जाने लगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिवदास बक्काल शहजादा नसीर का पक्ष लेता था जबकि मुंज बक्काल (पुंजराज) शहजादा शुजात खान और रानी खुर्शिद के साथियों का साथ देते थे। इस प्रकार इस झगड़े में इनमें से दोनों ने अपनी जानें खो दीं। पहले का वध सुलतान के आदेश से हुआ, और बाद वाले को नासिरशाह के साथियों ने मार डाला। नासिरशाह के राजगद्दी पर बैठने से किसी भी भांति से जैनियों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और वे निरन्तर राजकीय पक्ष पाते रहे। संग्रामसिंह सोनी (नकदुल मुल्क) ने समस्त राज्यकाल में अपनी स्थिति बनाए रखी। महमूद खलज़ी द्वितीय के राजगद्दी पर बैठने पर राजधानी तथा राज्य में राजनैतिक वातावरण बहुत कुछ बदल गया और जैनियों ने भी शनैः-शनैः अपनी स्थिति खो दी। मुस्लिम सामंतों ने इस वर्ग के प्रभाव को पसंद नहीं किया, और जैसाकि फिरिश्ता कहता है कि अमीरों को भय था कि

वे बहुत शक्तिशाली नहीं हो जाएं, बसंतराय का वध कर दिया गया और नये सुलतान से संग्रामसिंह को बाहर निकालने के आदेश ले लिये गये। संग्रामसिंह सोनी के बाहर निकाले जाने पर राजसभा में जैनियों का प्रभाव कम हो गया। जैनियों ने भी अपनी तरफ से मालवा के राज्य में अपनी रुचि खो दी उन्हें राजनैतिक दशा ऐसी प्राप्त नहीं हुई जिससे कि उनके व्यापार की उन्नति हो सके। उनके लिए राज्य में पूंजी लगाने और ठहरने के लिए ठीक स्थान भी नहीं रहा।

व्यापार और वाणिज्य, और धन संचय की रुचि के अतिरिक्त जैन अपने धर्म के प्रति बहुत समर्पित थे। उन्होंने जैन तीर्थों के स्थलों को संरक्षण दिया, और जैन मंदिरों के निर्माण और जैन मठों की स्थापना में बहुत कुछ दान दिया। दान की भावना के कारण लोगों को कठिनाइयों में सहायता देते थे, विशेषकर कमी के समय। इस प्रकार हम जसवीर के पुत्र जसधीर को मालवा के लोगों को 1485 ई० में आवश्यक वस्तुओं को बाँटते हुए पाते हैं। मालवा के सुलतानों का जैनियों को आश्रय और पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता देने की नीति के परिणाम-स्वरूप समृद्ध जैन वणिकों ने अनेक स्थानों पर जिनालयों की स्थापना की जैसे मांडू, धार, उज्जैन, आष्टा (आशानगर), होशंगाबाद और मंदसौर। जैनियों को किस सीमा तक धार्मिक स्वतंत्रता थी, उसका अनुमान खेमराजा द्वारा 1493 ई० में रचित काव्य-रचना *मंडपाचल* चैत्य परिपाटी से किया जा सकता है। इस ग्रंथ में उल्लेख है कि मांडू में बाईस मंदिर हैं जिनमें पाँच सौ बासठ जैन मूर्तियाँ हैं। इसी ग्रंथ में लिखा है कि होशंगाबाद के नेमिनाथ के मंदिर में चौबीस मूर्तियाँ थीं।

गुजरात में मुस्लिम राज्य (चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में)

1297 ई० में अलाउद्दीन ने अपने साम्राज्य में गुजरात को मिला लिया। जफ़र खान ने 1401 ई० में विधिवत् स्वतंत्रता प्राप्त की। अहमद शाह अपने आप सुलतान बन गया, और तीस वर्ष तक राज्य किया। वह स्वतंत्र गुजरात राज्य का संस्थापक माना जा सकता है। उसने गिरनार के राय मांडलिक को 1414 ई० में हराया, और जूनागढ़ के दुर्ग को जीता। उसने शानदार अहमदाबाद नगर को बनवाया। इसके बाद गुजरात का बड़ा राजा महमूद बेगरा था। दो दुर्गों को जीतने के कारण वह बेगरा के नाम से पुकारा जाता था। ये दो दुर्ग थे जूनागढ़ और काठियावाड़ के। यह इस वंश का प्रसिद्ध राजा था। बेगरा का पुर्तगालियों के साथ झगड़ा हो गया और उनके साथ उसे संधि करने के लिए विवश होना पड़ा। 1511 और 1526 ई० में गुजरात में तीन उपेक्ष्य सुलतान हुए। अन्य उच्च सुलतान बहादुर शाह (1526-37 ई०) था। वह मेवाड़ प्रदेश की ओर बढ़ा और 1539 में चित्तौड़ पर आक्रमण किया।

चौदहवीं सदी में जैन धर्म

मुसलमानों के गुजरात आक्रमण से जैनियों को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। किन्तु ऐसे कठिन समय में भी उन्होंने अपने व्यापार को बनाये रखा। उन्होंने नये मंदिर बनवाये और पुराने जिनालयों को मरम्मत करने की अनुमति प्राप्त की। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और गुजराती साहित्य में योगदान देकर सरस्वती की सेवा की।

यह सत्य है कि मुस्लिम राजा नए मंदिरों को बनाने के पक्ष में नहीं थे किन्तु प्राचीन मंदिरों की मरम्मत करने में बाधा नहीं डाली। वि॰ सं॰ 1366 (1309-10 ई॰) में केम्बे के जेशलशाह ने दूसरे जैन तीर्थंकर अजितनाथ का मंदिर बनवाया, और समरसिंह व समरनाथ ने शत्रुंजय की पहाड़ी के आदिनाथ के मंदिर की मरम्मत करवाई जब तीर्थंकर की मूर्ति को वि॰ सं॰ 1369 (1312-13 ई॰) में मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया था।

समरसिंह, जिसने शत्रुंजय की पहाड़ी पर आदिनाथ का मंदिर बनवाया था, उपकेश वंश और वेसत कुल का था। उसके बड़े भाई सहजपाल ने दक्कन में देवगिरि में चौबीस तीर्थंकरों का मंदिर बनवाया। उसके अन्य बड़े भाई सहन ने अपना निवास केम्बे में बनाया और अपने पुण्य कार्यों से नाम, प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया। समरसिंह का अपनी पसन्द का स्थायी स्थान अणहिलवाड़ था। समरसिंह गुजरात की प्राचीन राजधानी का जौहरी था। राजसभा में उसका बहुत प्रभाव था। जब उसको पता चला कि शत्रुंजय की पहाड़ी का आदिनाथ मंदिर मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया है, तो वह गुजरात के सूबेदार अलपरवान के पास गया और मंदिर की मरम्मत व पुनः निर्माण का फरमान प्राप्त किया। सूबेदार ने इस संबंध में अपने अधीन मलेक अहिदर को आवश्यक आदेश दिये।

जब जैनियों को सूबा के फरमान का पता चला तो उन्होंने समरसिंह का शानदार स्वागत किया, और शत्रुंजय की पहाड़ी पर आदिनाथ की नई मूर्ति की प्रतिष्ठा करने की राय दी। समरसिंह ने उपहार के साथ अपने लोगों को अरासन के राजा के पास भेजा। राजा पक्का शाकाहारी था, और जैन धर्म के सिद्धांतों में पक्का विश्वास करने वाला था। उसने बिना किसी कीमत के खान से आवश्यक संगमरमर देने की अनुमति दे दी। संगमरमर गाड़ी से पालिताना ले जाया गया। सोलह कुशल शिल्पी अणहिलवाड़ से पालिताना मूर्ति बनाने भेजे गये। बालचन्द्र मुनि को मूर्ति बनाने का ध्यान रखना पड़ता था।

जब शिल्पियों ने अपना कार्य समाप्त कर दिया, यह शुभ समाचार अणहिलवाड़ समरशाह को भेजा गया। इसके पश्चात् समरशाह ने नए निर्मित मंदिर में आदिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा हेतु जैन संघ के साथ पवित्र पहाड़ी की यात्रा का विचार किया। दूर के स्थानों के जैनियों को भी निमंत्रण पत्र भेजे गये।

समरशाह के साथ पवित्र पहाड़ी पर यात्रा करने वालों के नाम हैं – विनयचन्द्र सूरि, बृहद्गच्छ के रत्नाकर सूरि, देवसूरिगच्छ के पद्मचन्द सूरि, आदि। संघ में सम्मिलित होने वाले प्रमुख जैन थे – संघपति जैत्र और संघपति कृष्ण, हरिपाल, देवपाल, वत्सकुल के स्थिर देव का पुत्र लंधक, पल्हादन सोनी, सोधाक और देवराज जिन्होंने महान दाता के रूप में नाम और प्रसिद्धि प्राप्त की। गुजरात का सूबेदार अलपखान ने, जिसने मंदिर को पुनः निर्मित करने की अनुमति दी थी, संघ की रक्षा हेतु दस रक्षक दिये।

संघ अणहिलपाटन से रवाना हुआ और सेरिसा (कलोल के समीप मेहसाना जिला), सरखेज (अहमदाबाद के समीप) और धोलका होते हुए पालिताना गया। सेरिसा में समरशाह ने पार्श्वनाथ की पूजा की और आठ दिन तक उत्सव मनाया। गाँवों के जैनियों और ठाकुरों के द्वारा मार्ग में उसका हार्दिक स्वागत किया गया। उसने मुक्त होकर धन व्यय किया। जैन संघ में जो शामिल हुए थे, उसका अतिथि सत्कार किया गया।

उन दिनों बड़ी धर्मशालायें नहीं थीं, इसलिए जब संघ पालिताना पहुँचा तो समरशाह ने ललितासर के किनारे शिविर लगाये। वस्तुपाल की पत्नी ललिता देवी ने ललितासर को बनवाया था। इस समय देवगिरि से सहजपाल और केम्बे से साहण अपने संघ के साथ पालिताना आये। जब उसने अपने भाइयों को देखा तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रही। जो साधु संघ के साथ केम्बे से आये थे, उसने उनका सम्मान किया। प्रमुख व्यक्ति जो साहण के साथ गये थे, उनके नाम थे – पाताक मंत्री का भाई सगण, लालासिंह भट, विजल, मदन, मोल्हक और रत्नसिंह। समरशाह ने सब यात्रियों का अच्छा स्वागत किया।

समरशाह ने पवित्र पहाड़ी के मंदिर में आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा वि॰ सं॰ 1381 (1315 ई॰) में की। सचिका देवी समरशाह की कुलदेवी थी। महिपाल देवी जिसने बिना कीमत लिए संगमरमर दिया, अरासन की रानी थी, और आसाधर समरसिंह का चाचा था। उपकेशगच्छ के सिद्ध सूरि और तपागच्छ के रत्नाकर सूरि दोनों को मूर्ति प्रतिष्ठा कराने में यश प्राप्त हुआ।

इस घटना को मनाने के लिए समरशाह के पिता देसल द्वारा पर्व का आयोजन किया गया। जैन संघ को बहुत दिनों तक स्वादिष्ट भोजन दिया गया। जैन साधु और साध्वियों को वस्त्र दिये गये। भिखारियों को खाना मिला। समरशाह बीस दिनों तक पालिताना में रहा और मंदिर की देखभाल के लिए व्यवस्था की। बहुत से सेवकों को उद्यानों की देखरेख हेतु नियुक्त किया गया। उद्यानों से फूल मंदिर को जिन पूजा के लिए दिये जाते थे।

समरशाह संघ के साथ पालिताना से गिरनार गया और नेमिनाथ की पूजा की। यहाँ समरशाह को पुत्र-जन्म के कुशल समाचार प्राप्त हुए और यहाँ वह दस दिन तक रुका।

गिरनार से वह देवपत्तन को गया जहाँ उसका राजा द्वारा उत्साह से स्वागत किया गया। संघ ने विख्यात सोमनाथ के मंदिर की यात्रा की और इसको पाँच रंग के ध्वज से सजाया। इस घटना से ज्ञात होता है कि जैन ब्राह्मणों के विरोधी नहीं थे किन्तु शिव मंदिर को ध्वज से सजाने में बहुत उदार थे।

समरशाह ने देवपत्तन में अष्टाह्निका महोत्सव या पर्व का आयोजन आठ दिन तक किया, और बाद में पार्श्वनाथ की पूजा के लिए अजार गया। संघ अजार से कोदिनार गया, और अम्बिका देवी की पूजा की। समर के पिता देसल ने अम्बिका के मंदिर को ध्वज से सजाया। बाद में संघ दिव को गया जहाँ राजा ने समरशाह और करोड़पति हरिपाल को भोज के लिए बुलाया। तहनिका महोत्सव का आयोजन किया गया, और भिखारियों को आहार दिया गया।

संघ दिव से पाटड़ी, संखेश्वर और हरिज होते हुए अणहिलवाड़ गया। अणहिलवाड़ के संघ ने उत्साह से समरशाह का स्वागत किया जब उसने वि॰ सं॰ 1371 में राजधानी में प्रवेश किया। पाँच हजार लोगों को खाने के लिए आमंत्रित किया गया। देसल ने आदिनाथ के मंदिर को पुनः निर्मित करने में 27.70 लाख सिक्के व्यय किये। वि॰ सं॰ 1375 (1318-19 ई॰) में देसल ने दूसरी बार सात संघपतियों और दो हजार लोगों के साथ पवित्र पहाड़ी की यात्रा की, और ग्यारह लाख व्यय किये। *नाभिनंदनोद्धार प्रबंध* के अनुसार सम्राट् ग्यासुद्दीन समरशाह से बहुत प्रसन्न हुआ, और उसका बड़ा सम्मान किया। समर की प्रार्थना पर सम्राट् ने पाण्डुदेश के स्वामी को छोड़ दिया। जिस सम्राट् ने समरशाह को देहली आमंत्रित किया था, वह ग्यासुद्दीन ही था। इसकी तिथियाँ 1320-25 से ज्ञात होता है कि वह समरशाह का समकालीन था।

प्रबंध लेखक के अनुसार, समरशाह को तेलंगदेश का सूबेदार नियुक्त किया गया, जहाँ उसने बहुत से कैदियों को छोड़ दिया, और अनेक राजाओं को कृतज्ञ किया। उसने उरंगलपुर को जैन मंदिरों से सुशोभित किया, अनेक जैन परिवारों को वहाँ बसाने हेतु आमंत्रित किया और सूबेदार के रूप में नाम, प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया। यद्यपि कक्कसूरि के इस विवरण की पुष्टि नहीं होती, किन्तु इसको अविश्वसनीय भी नहीं माना जा सकता चूंकि वह गुरु था और समरशाह का समकालीन था।

वि॰ सं॰ 1369 (1312-13 ई॰) में विमलशाह और तेजपाल के मंदिर मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिए गए। जब जैनियों को इसका पता चला, उन्होंने मंदिरों की मरम्मत करने का कार्य आरंभ किया। विमलवसही की मरम्मत मंडोर के धनसिंह के पुत्र विजड़ और उसके भाइयों द्वारा की गई। प्रतिष्ठा धनचन्द्र सूरि द्वारा की गई। गूढ़मंडप में विजड़ के क्रमशः दादी गोसल तथा दादी गुण देवी की मूर्तियाँ हैं, तथा ललिगसिंह के माता-पिता

महनसिंह और मिनलदेवी की हैं। इन मूर्तियों की स्थापना वि.सं. 1378 (1322 ई.) में हुई जब मंदिर की प्रतिष्ठा की गई थी।

तेजपाल के मंदिर की मरम्मत चन्दसिंह के पुत्र पेथड़ संघवी द्वारा वि.सं. 1378 (1321-22 ई.) में की गई। जब वह जैन संघ के साथ तीर्थ-यात्रा के लिए आबू आया।

चूंकि गुजरात में वि. सं. 1376-77 में अकाल पड़ा, भीम ने बहुत सा धन दान में दिया। यह भीम संभवतः भीमशाह था जिसने आबू पहाड़ पर भीमसिंह प्रासाद बनवाया था।

मंत्री अभयसिंह के पौत्र और मंत्री जगसिंह के पुत्र मंत्री भाणक ने आबू पहाड़ के विमल वसही में अम्बिका देवी की मूर्ति की स्थापना की।

1400-1450 ई. में जैन धर्म

पन्द्रहवीं सदी का पूर्वार्द्ध जैन इतिहास में सोम सुंदर का युग जाना जाता है क्योंकि सोम सुंदर इस काल का प्रमुख साधु था। इस काल में गुजरात के जैनियों ने नये मंदिर बनाकर, प्राचीन मंदिरों की मरम्मत करवाकर, तीर्थंकरों की नई मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाकर, ग्रंथ भंडार स्थापित कर गरीबों और दीनों को सहायता देकर और अनेक पवित्र और धार्मिक कार्य करके जैन धर्म की उन्नति की।

प्रहलादनपुर (आधुनिक पालनपुर) में सज्जन नाम का बनिया था जिसने अपने पवित्र और धार्मिक कार्यों से जैन धर्म की उत्तम और प्रशंसनीय सेवा की। बड़नगर में देवराज, हेमराज और घटसिंह नाम के तीन भ्राता थे। देवराज ने अपने भाइयों की राय से उत्साह का आयोजन किया। ईडर में वच्छराज नाम का धनी आदमी था जो उकेश कुल का था। उसने राज्य में उच्च चरित्र द्वारा नाम और समृद्धि प्राप्त की। वच्छराज के पुत्र गोविन्द ने तारंगा की पहाड़ी पर कुमारपाल के मंदिर की मरम्मत की। इस अवसर पर एक बड़े उत्सव का आयोजन किया गया।

जब सोमसुन्दर सूरि कर्णवती आया, राजा अहमदशाह के प्रिय गुणराज ने उनका हार्दिक स्वागत किया और उत्सव का आयोजन किया। चाको ने जैनियों के तीर्थों की यात्रा की, और जैन मंदिर बनवाया। अहमदशाह गणराज से प्रसन्न था, इसलिए उसने इस अवसर पर उपहार देकर उन्हें सम्मानित किया। सोमसुन्दर ने अपनी 1420-21 की यात्रा गुणराज के साथ की।

सोमसुन्दर सूरि के धार्मिक कार्यों की जानकारी भी हमको है। उसने मंदिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा 1428 ई. में देव कुल पाटक, 1439-40 ई. में चित्रकूट और गिरनार में की। सूरिजी की राय से जैन आगमों की प्रतिलिपि करवाई।

सोमसुन्दर सूरि ने साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। उसके बहुत से शिष्य थे – गुणरत्न सूरि, मुनिसुन्दर सूरि, जयचन्द्र सूरि, भुवनसुन्दर सूरि, जिनकीर्ति सूरि, रत्नशेखर सूरि और जिनमंडन गणि। मेरुतुंग के शिष्यों के नाम थे – माणिक्यसुन्दर और माणिक्यशेखर सूरि। जैन साधुओं के अतिरिक्त कुछ जैन श्रावकों ने भी साहित्य की सेवा की। इन सबमें मंडन मंत्री बहुत विख्यात है। वह बहुत विद्वान् था, तथा विद्वानों को आश्रय देता था।

साधुओं के अतिरिक्त जैन साध्वियों ने भी लाभदायक सेवा की। इस काल की प्रसिद्ध साध्वी धर्मलक्ष्मी महत्तरा थी। जैनियों ने इस समय स्थापत्य कला में योगदान दिया। आबू पर्वत पर पितलहर व भीमशाह का मंदिर भीमशाह द्वारा बनवाया गया था।

पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जैन धर्म

महाराणा कुंभकर्ण ने 1450 ई० में यात्री-कर हटा दिया जो आबू पहाड़ पर यात्रियों से एकत्रित किया जाता था। 1451 ई० में जूनागढ़ के राजा मांडलिक ने अमारी की घोषणा की। लोंकाशाह जैन आगम में विश्वास करता था किन्तु मूर्ति-पूजा के विरुद्ध था। 1453 ई० में साहराज ने गिरनार पर विमलनाथ का मंदिर बनवाया। उसने शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा की।

लक्ष्मीसागर इस युग का प्रमुख साधु था। उसके समय बहुत से पवित्र और धार्मिक कार्य किये गये। अहमदाबाद के गड़राज मंत्री ने सोजित्र में जैन मंदिर बनवाया, और उसकी प्रतिष्ठा सोमदेव सूरि द्वारा की गई।

देवगिरि के धन्यराज और नगराज गुजरात आये, राजा महमूद को प्रसन्न किया और शत्रुंजय की पहाड़ी की यात्रा की। भीमराज मंत्री ने आबू पर्वत पर भीमविहार व पितलहर में आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

ईश्वर और पट्ट सोनी ने ईडर में अजितनाथ का मंदिर बनवाया, और इसकी प्रतिष्ठा 1476-77 ई० में लक्ष्मीसागर द्वारा की गई। उज्जल और काग ने जीरापल्ली की यात्रा की।

सौभाग्यहर्ष सूरि ने गुजरात में जैन धर्म को बढ़ाया। आंचलगच्छ के तीन साधुओं ने इस समय वीर शासन की उत्तम सेवायें कीं – भवसागर सूरि, सिद्धान्तसागर सूरि और गुणनिधान सूरि। इस काल के विख्यात मंदिरों में हम आबू के खरतरवसही और शत्रुंजय के कर्मशाह मंदिर का उल्लेख कर सकते हैं। 1445-46 ई० में अणहिलवाड़ के पर्वत श्रीमाली ने तपागच्छ के जयचन्द्रसूरि की इच्छा से अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ कीं। इस

काल में अनेक साधु[489] हुए हैं।[490]

विजयनगर का राज्य

विजयनगर में अनेक सक्षम और प्रबुद्ध राजा हुए हैं जिन्होंने इसको दक्षिण में एक शक्तिशाली और समृद्ध राज्य बना दिया। इनमें हरिहर द्वितीय, देवराय, देवराय द्वितीय, और कृष्णदेवराय प्रसिद्ध हैं। कृष्णदेवराय एक सामर्थ्य राजा और कुशल सैनिक था। वह प्रायः स्वयं सेना का नेतृत्व करता था। उसने बिना किसी कठिनाई के 1512 ई० में रायचूर को अपने अधिकार में लिया। उसने उड़ीसा के राजा को हराया। विजयनगर राज्य कृष्णदेवराय के अधीन दक्षिण में सबसे शक्तिशाली सैनिक सत्ता के रूप में उभरकर आया। उसने पुर्तगालियों के साथ मित्रता के संबंध बनाकर रखे। उसने राज्य के कार्यों में बहुत रुचि ली। उसके राज्य में विजयनगर का शहर यश और समृद्धि के उच्च शिखर पर था।

विजयनगर राज्य की स्थापना 1346 ई० में हुई थी। यद्यपि इस राज्य के राजा ब्राह्मण धर्म के रक्षक थे, लेकिन धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। राजा हरिहरराय के राज्य में जैनियों और श्री वैष्णवों (भक्तों) में तड़ताल पार्श्वनाथ सीमा विवाद उठा। राजा बुक्कराय के 1368 ई० राजकीय निर्णय[491] से ज्ञात होता है कि वह किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति समर्पित नहीं था किन्तु अपने न्याय से उसने धर्म को उपद्रवों से बचाया। बुक्कराय ने राजकीय आदेश से श्रवणबेलगोला में देवता के लिए बीस रक्षक नियुक्त किये, और इससे जैन धर्म की रक्षा हुई, और विजयनगर राज्य में इसकी प्रतिष्ठा की जिम्मेदारी ली गई। यह समझौता बिना किसी संदेह के सिद्ध करता है कि 1368 ई० में राजा बुक्कराय द्वारा दिया हुआ निर्णय निष्पक्ष था।

अब यह तय हुआ कि सब प्रश्न विशेषकर समुदायों के अधिकार और प्रश्न दोनों सम्प्रदायों के नेताओं की उपस्थिति और सहमति से निश्चित होने चाहिए, और अंत में राज्य की अनुमति लेनी चाहिए।

---

489. सोमधर्म गणि (1446-47), सोमदेव (1447-48), गुणकर सूरि (1447-48), चरित्रवर्धन (1448-49), उदयधर्म (1450), सर्वसुन्दर सूरि (1453-54), साधुसोम (1455-56), सत्यराज (1457-58), गणसागर सूरि (1460-61), सुशील गणि (1461-62), प्रतिष्ठा सोम (1467-68), सिद्ध सूरि (1474-75), साधु विजय (1488-89), कमल संयम (1492), उदयसागर (1489-90), इन्द्रहंस गणि (1497-98), सिद्धांतसार (1513-14), गणसार (1522-23) और हृदय सौभाग्य (1534-35).

490. सी०बी०, सेठ, *जैनिज्म इन गुजरात,* पृ० 224-59.

491. *मेडिवल जैनिज्म विद स्पैशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर,* पृ० 289-91.

राजा और रानियों, और राजकीय परिवार के सदस्यों ने जैन धर्म को आश्रय दिया।[492] देवराय प्रथम की रानी भीमदेवी स्वयं जैन थी। उसका आध्यात्मिक गुरु पंडिताचार्य था, और 1410 ई॰ में उसने श्रवणबेलगोला में मंगाय बसदी में शांतिनाथ स्वामी की मूर्ति बनवाई। राजा देवराय प्रथम के जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण के लिए रानी भीमदेवी उत्तरदायी हो सकती हैं। बाद के राजा देवराय द्वितीय (1419-46 ई॰) ने पूर्व विजयनगर राजाओं की जैन संस्थाओं को आश्रय देने की परम्परा को चालू रखा। 1424 ई॰ में उसने तुलुव में वरंग ग्राम को इसी स्थान के वरंग नेमिनाथ की बसदि को दान में दिया। कृष्णदेवराय ने अपने राज्य के विभिन्न धर्मों में कोई अन्तर नहीं समझा। जैन मंदिरों को उपहार देने के लिए उसका उदार हृदय मूल-रूप से उत्तरदायी है।

इरुगप्प राजा हरिहरराय द्वितीय का विश्वस्त सेनापति, चतुर अभियंता और सफल मंत्री था। उसने राजधानी में बसदि बनवाई। इस नगर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि हरिहरराय द्वितीय की रानी बुक्कम्बे ने 1397 में सेनापति इरुगप्प द्वारा निर्मित बसदि को उपहार दिया। इरुगप्प देवराय द्वितीय के राज्य में निरन्तर सेवा करता रहा। 1526 ई॰ का अभिलेख राजधानी में देवराय द्वितीय पार्श्वनाथ बसदि के निर्माण का उल्लेख करता है। इस प्रकार विजयनगर राज्य के सम्राट् सकल वर्णाश्रम धर्म के रक्षक थे।

जैन धर्म का अधिकतर वैभव प्रान्तीय वायसरायों की राजधानियों में देखा जाता है न कि विजयनगर जैसे महान् नगर में। सामंतों के ऐसे दो वर्ग थे जिन्होंने जैन धर्म को सक्रियता से सहायता दी।[493] एक वर्ग में बड़े सामंत थे जैसे कोङ्गाल्व, चङ्गाल्व, संगीतपुर के सालुव, गेर सोप्पे और भैरास के राजा और कारकल के ओबेयरस। अन्य छोटे सामन्त थे आवलिनाद, कुप्पटूर के महाप्रभु, मोरसुनाद, बिदिरुर, सागुजिसिमे, नुग्गेहल्लि तथा अन्य। इनके अतिरिक्त सामंत नारियां भी थीं जिन्होंने जैन धर्म के उत्थान हेतु प्रयत्न किया।

सम्राटों और उनके प्रान्त पतियों द्वारा आश्रित जैन धर्म विजयनगर साम्राज्य के शहरों, नगरों और गाँवों में लोकप्रिय हो गया। श्रवणबेलगोला, कोपन, मुड़बिन्द्री, कार्कल, बैलूर, आदि जैन धर्म के केन्द्र हो गये। चौदहवीं सदी और उसके पहले उत्तर भारत के जैन वणिकों का विजयनगर साम्राज्य में प्रवेश देखा जाता है।

विजयनगर राज्य के सम्राटों के राज्य के कुछ अभिलेख हैं जो जैन धर्म के प्रसार में निजी प्रयत्नों पर प्रकाश डालते हैं। 1355 ई॰ का अभिलेख[494] राजा हरिहर के समय

492. वही, पृ॰ 310.

493. वही, पृ॰ 313.

494. *जै॰शि॰सं॰*, 4 सं॰ 393.

जैन मूर्ति को स्थापित करने का उल्लेख करता है। राजा बुक्क के समय के 1357 और 1376 ई० के दो अभिलेख हैं।[495] पहले अभिलेख में सेनापति बैचय का नाम है। दूसरा समाधिमरण का अभिलेख है। राजा हरिहर द्वितीय के सेनापति इसग ने जैन मंदिर बनवाया।[496] गोआ के राजा माधव के सेनापति नेमण्ण,[497] जो इस राजा के अधीन था, ने पार्श्वनाथ के मंदिर को 1395 ई० में कुछ दान दिया था। 1395 ई० के इसी अभिलेख में दण्डनायक बैचय के पुत्र मंत्री इम्मडिबुक्ख द्वारा जैन मंदिर बनवाने का उल्लेख है।[498] बुक्क द्वितीय के समय के दो अभिलेख हैं।[499] एक शांतिनाथ मंदिर के निर्माण का उल्लेख करता है और दूसरा सभा मंडप का। राजा देवराय के राज्य के तीन अभिलेख हैं।[500] 1412 ई० का पहले दो मंदिरों में सीमा के समझौते का वर्णन करते हैं। 1424 ई० का दूसरा लेख राजा द्वारा नेमिनाथ मंदिर को वरांग ग्राम दान का उल्लेख करता है। एक अभिलेख[501] राजा मल्लिकर्जुन का 1450 ई० का मंदिर को दान देने का वर्णन करता है। कृष्णदेव महाराज के समय का 1509 ई० का मंदिरों को कर से मुक्त उल्लेख करता है।[502] 1515 ई० का अभिलेख[503] उल्लेख करता है कि वरांग के मंदिर की भूमि किस प्रकार कृषि योग्य तैयार की गई। राजा अच्युतदेव ने कुछ करों की आय मूर्तियों की पूजा हेतु दी।[504] रामराय ने 1545 ई० में सदाशिव के राज्य में जैन मंदिर को कुछ भूमि दान दी।[505] एक जैन विद्वान् ने राजा रामदेव के राज्य में 1619 ई० में कुछ दान दिया। सदाशिवराय के अधीन राजा अरसप्पोड़ेय ने पंडित चारुकीर्ति को कुछ दान दिया।[506]

मुगल

जैन आचार्यों ने मुगल सम्राटों को अपने उपदेशों से प्रभावित किया। उनका चरित्र उच्च था क्योंकि वे न तो कुछ चाहते थे, और न रखते थे। इसके परिणामस्वरूप मुगल सम्राट्

495. वही, सं० 394-96.
496. वही, सं० 403.
497. वही, सं० 402.
498. वही, सं० 404.
499. वही, सं० 406, 415.
500. वही, सं० 425, 434.
501. वही, सं० 440.
502. *जै०शि०सं०,* 456.
503. वही, सं० 458.
504. वही, सं० 467.
505. वही, सं० 503.
506. वही, सं० 520.

शनैः-शनैः अपने विचारों में उदार हो गए। उन्होंने कुछ दिन पशु वध रुकवा दिया। उन्होंने जज़िया कर और यात्रा-कर का उन्मूलन कर दिया। उन्होंने धीरे-धीरे मंदिरों और मूर्तियों का नष्ट होना बन्द कर दिया, और नए मंदिर भी निर्मित हुए। ग्रंथों की अनेक प्रतियाँ लिखी गईं। जैन व्यापारियों ने मुगल सम्राटों और सूबेदारों को आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता दी। इन राजाओं ने प्रशासन में उत्तरदायी पदों के लिए जैनियों को लगाया। जैन धर्म मुगलों के राज्य में फला-फूला। मुगल साम्राज्य के पतन से जैन धर्म का भी पतन शुरू हुआ।

बाबर (1526-30 ई॰)

भारत में बाबर का आगमन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। काबुल और गांधार साम्राज्य के आंतरिक हिस्से हो गए जिसमें उत्तर भारत भी सम्मिलित था। इन पर अधिकार कर बाबर और उसके उत्तराधिकारी भारत को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा देने में सक्षम हो गए और भारत के विदेशी व्यापार को सुदृढ़ कर दिया। बाबर की इब्राहिम लोदी के विरुद्ध 1526 ई॰ में पानीपत के युद्ध में विजय ने लोदी सत्ता की कमर तोड़ दी, और देहली से आगरा तक का समस्त क्षेत्र बाबर के अधीन हो गया। बाबर को राणा सांगा के विरुद्ध कनवाह के युद्ध में विजय प्राप्त हुई। बाबर ने 1530 ई॰ तक पाँच वर्ष तक राज्य किया।

बाबर ने मुस्लिम राजाओं की प्रचलित धार्मिक नीति को जारी रखा। यह इस बात से स्पष्ट है कि उसने ग्वालियर के समीप उर्वा की जैन मूर्तियों को नष्ट कर दिया।[507] इसके पश्चात् भी जैनियों ने अपने धर्म को साहित्यिक ग्रंथ लिखकर सुरक्षित रखा। *बृहत् सिद्धचक्र पूजा*[508] से यह जाना जाता है कि कवि वीरु ने इसको वि॰सं॰ 1584 में मुगल सम्राट् बाबर के राज्य में रहेतसपुर में लिखा। अग्रवाल साधारण की प्रेरणा से कवि महिन्द्र ने योगिनिपुर में *शांतिनाथ चरित*[509] वि॰ सं॰ 1587 में मुगल सम्राट् बाबर के राज्य में लिखा। रोहितक का पार्श्वनाथ का मंदिर वि॰ सं॰ 1584 और 1586 में बाबर के समय अस्तित्व में था। यह मंदिर काष्ठा संघ के दिगम्बर भट्टारकों की देखभाल में था।[510]

हुमायूं

हुमायूं बाबर के पश्चात् 1530 ई॰ में आगरा का राजा हुआ। उसके साम्राज्य में काबुल और गांधार सम्मिलित थे। उसने लाहौर और मुल्तान पर अधिकार कर लिया। उसने अपने साम्राज्य के प्रदेशों को अपने भाइयों में विभाजित कर दिया। उसको गुजरात के

507. *मेमोयर्स ऑफ बाबर*, 2, 340.

508. *जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰*, I, पृ॰ 64.

509. वही, II, सं॰ 87, *प॰जै॰प्राइ॰*, पृ॰ 525-26.

510. *को॰हि॰जै॰सं॰*, 219, पृ॰ 339.

शेरशाह के विरुद्ध लड़ना पड़ा, और बंगाल और बिहार के शेरखां के विरुद्ध भी। कन्नौज का युद्ध मुगलों के विरुद्ध शेरशाह के पश्चात् में निश्चित हुआ। अंत मे हुमायूं ने ईरानी राजा के दरबार में शरण ली, और उसकी सहायता से कंधार और काबुल को 1445 ई॰ में फिर से जीत लिया। 1555 ई॰ में सूर साम्राज्य के विघटन के पश्चात् उसने देहली को फिर से अपने अधिकार में कर लिया। विजय का फल भोगने के लिए वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाया। वह देहली के दुर्ग की पुस्तकालय भवन की पहली मंजिल से गिरकर मर गया।

सूरवंश

इसमें संदेह नहीं कि सूरी शेरशाह एक प्रतापी राजा था, और वह बंगाल से सिंधु तक विस्तृत साम्राज्य पर राज्य करता था। पश्चिम में उसने मालवा और समस्त राजस्थान को जीत लिया था। उसने पाँच साल के थोड़े से समय में ही व्यवस्थित और अनुकरणीय प्रशासन स्थापित कर लिया था। शेरशाह के पश्चात् उसका दूसरा पुत्र इस्लामशाह उत्तराधिकारी हुआ जिसने 1553 ई॰ तक शासन किया। उसकी अधिकतर शक्ति भाइयों के खड़े किये गए उपद्रवों और अफगानों के मध्य जाति संघर्षों में लग गई। ये और मुगल आक्रमण फिर से होने के भय ने इस्लामशाह ने अपने साम्राज्य का विस्तार करना रोक दिया। युवा अवस्था में उसकी मृत्यु से उसके उत्तराधिकारियों में गृह-युद्ध छिड़ गया। इससे हुमायूं को भारत में अपने साम्राज्य को फिर से प्राप्त करने का अवसर मिल गया जिसके लिए वह तत्पर ही था। 1555 ई॰ के दो भयंकर युद्धों में उसने अफगानों को हराया, और देहली और आगरा को पुनः प्राप्त कर लिया।

1543 ई॰ में राजस्थान पर आक्रमण करते समय शेरशाह ने रणथम्भौर पर विजय कर ली। 1551 ई॰ में रचित *होलिरेणुकाचरित*[511] की प्रशस्ति से विदित होता है कि आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् होने के कारण रेखा का शेरशाह द्वारा स्वागत किया गया। शेरशाह ने रणथम्भौर को अपने पुत्र सलीमशाह को जागीर में दे दिया। उसके समय में कादिरशाह इस स्थान का प्रशासक था। यद्यपि सूरवंश के शासक इस्लाम धर्म के अनुयायी थे, किन्तु धार्मिक मामलों में उदार थे। उनके राज्य में *जिनदत्त चरित्र*[512] और *होलिरेणुकाचरित्र*[513] क्रमशः 1549 और 1551 ई॰ में ललितकीर्ति को प्रस्तुत करने के लिए श्रावकों द्वारा लिखवाए गए, जिसने इस स्थान की यात्रा की थी।

---

511. *जै.ग्रं.प्र.सं.*, I, पृ॰ 65-66.
512. *ए.सी.टा.रा.*, पृ॰ 334.
513. *जै.ग्रं.प्र.सं.*, I, सं॰ 45, पृ॰ 32.

अकबर

अकबर की लड़ाई का प्रथम चरण सरदारों के विरुद्ध था, और 13 वर्ष की अवस्था में 1556 ई॰ में उसका राज्याभिषेक हुआ था। बैरम खां की प्रतिशासन व्यवस्था के समय मुगल साम्राज्य का विस्तार हो गया था। अजमेर के अतिरिक्त इस समय की महत्त्वपूर्ण विजयें मालवा और गढ़कटांग की थीं।

गुजरात की विजय के पश्चात् अकबर को साम्राज्य की प्रशासकीय समस्याओं को देखने का समय मिला। उसने भू-राजस्व प्रशासन में सुधार शुरू किये। स्थानीय सरकार का संगठन पूर्ववत् ही रखा।

उसने विभिन्न महकमों में शक्ति के विभाजन और जाँच और संतुलन के आधार पर प्रशासन के केन्द्रीय तंत्र को फिर से संगठित किया। उसने वैवाहिक रिश्तों के द्वारा राजपूतों के साथ मधुर संबंध रखे। उसने उपद्रवों को दबा दिया और मुगल साम्राज्य को बढ़ाया।

अकबर ने धार्मिक एकीकरण की नीति का पालन किया, और दीन-ए-इलाही की नींव डाली। 1576 ई॰ में अकबर ने अपनी नई राजधानी फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना नाम का सभागृह बनवाया। उसने इबादतखाना में सब धर्मों के लोगों को आमंत्रित किया जैसे ईसाई, पारसी, हिन्दू, जैन और नास्तिक भी।

जैन आचार्यों का अकबर के साथ संबंध करीब बीस वर्ष तक 1578 से 1598 ई॰ तक रहा। वह जैन आचार्यों के उपदेशों के प्रभाव से कुछ सीमा तक जैन धर्मावलम्बी हुआ प्रतीत होता है। जैन धर्म से प्रभावित होकर उसने जैन धर्म के प्रचार हेतु अनेक फरमान निकाले। जैन धर्म की स्तुति में जैन विद्वानों द्वारा साहित्यिक ग्रंथ लिखे गये। उसके समय जैन मंदिर बने, और प्रस्तुत करने हेतु जैन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवायी गईं।

अकबर के मंत्री और मित्र अबुलफज़ल ने *आइने अकबरी* में जैन विद्वानों के नामों का उल्लेख किया है। इनमें सबसे प्रसिद्ध हीरविजय सूरि है। जब अकबर ने 1582 ई॰ में उसके गुणों तथा विद्वता के बारे में सुना तो उसने गुजरात के वाइसराय को अपनी तरफ से सूरिजी से उसके राजगृह में आने की प्रार्थना की। वह फतेहपुर सीकरी पहुँचा जहाँ उसका राजकीय स्वागत हुआ। पहले उसने तत्कालीन युग के मुस्लिम विद्वान् अबुलफज़ल और बाद में अकबर के साथ धर्म और दर्शन की समस्याओं पर विचार कर आगरा की यात्रा की। उसने सम्राट् को जैन सिद्धान्तों के अनुसार आदेश निकालने हेतु प्रेरित किया। वर्षा ऋतु के पश्चात् वह फतेहपुर सीकरी लौट आया। फतेहपुर सीकरी से दाबर कही जाने वाली बड़ी झील से मछली पकड़ना बन्द करवा दिया। "जगद्गुरु"

की उपाधि सूरिजी को दी गई। उसने 1584 ई॰ में राजधानी को छोड़ दिया। शत्रुंजय की पहाड़ी के आदिनाथ के मंदिर के पूर्वी प्रवेश में ड्योढ़ी के हेमविजय के 1593 ई॰ लेख[514] से ऐसा प्रतीत होता है कि हीरविजय ने 1592 ई॰ में छः महीने के लिए पशु वध रोक, मृत पुरुषों की अपहरण संपत्ति का उन्मूलन, जज़िया कर और शुल्क, बंदियों, जाल में फंसे पक्षियों और पशुओं को मुक्त करने और शत्रुंजय को जैनियों को देने के आदेश दिए। इसी प्रकार का 1587 ई॰ का अभिलेख[515] अकबर के अधिकारी इन्द्रराज द्वारा शासित बैराठ से प्राप्त हुआ है।

हीरविजय सूरि ने अपने पीछे राजसभा में शांतिचन्द्र को छोड़ा। 1587 ई॰ में जब शांतिचन्द्र ने गुजरात लौटने की इच्छा की, सम्राट् ने उसे गैर-मुस्लिमों पर जज़िया उन्मूलन और पशुओं का वध रोकने के आदेश दिये। प्रतिबंधित दिनों की सीमा छः महीने तक बढ़ा दी गई।

भानुचन्द्र राजसभा में निरन्तर रहा। उसके शिष्य सिद्धचन्द्र ने बाणभट्ट की बाद की आधी *कादम्बरी* पर टीका लिखी। उसने एक समय में एक सौ आठ वस्तुओं को करने की प्रतिष्ठा प्राप्त की, और उसने अकबर से "खुशफहम्" की उपाधि प्राप्त की। सिद्धचन्द्र द्वारा रचित *कादम्बरी* की टीका के अंतिम पद (कोलोफन) से यह ज्ञात होता है कि उसके आचार्य भानुचन्द्र ने अकबर को सूर्य के एक हजार नाम सिखाये, और अकबर से 1593 में पालिताना के शत्रुंजय की पवित्र पहाड़ी से यात्रा-कर के उन्मूलन और सब तीर्थों को हीरविजय को सुपुर्द करने का फ़रमान प्राप्त किया। बाद में विजयसेन सूरि को दरबार में बुलाया गया। वह साधारणतया लाहौर में 1596 ई॰ तक रहा। उसने अकबर के संतोष के बिन्दु तक 363 विद्वान् ब्राह्मणों को विवाद में हराया, और सवाई की उपाधि धारण की।[516]

जब अकबर का दरबार लाहौर में लगा तो उसने जिनचन्द सूरि की ख्याति सुनी और वह उसे सुनने को लालायित हुआ। उसने मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र बच्छावत को बुलाया और साधु को अपनी राजसभा में आमंत्रित करने की प्रार्थना की। जब जिनचन्द्र सूरि 1591 ई॰ में लाहौर पहुँचा, उसका सम्राट् द्वारा हार्दिक स्वागत किया गया। कर्मचन्द्र की राय से अकबर ने उसे युग प्रधान की उपाधि दी। सूरिजी की प्रेरणा से अकबर ने केम्बे के पड़ोस के सामुद्रिक पशुओं को पूरे वर्ष के लिए सुरक्षा दी। द्वारका के जैन मंदिरों के नष्ट होने के बारे में सुनकर जिनचन्द्र सूरि ने अकबर पर अपना प्रभाव डालकर जैन तीर्थ जैसे शत्रुंजय, पालिताना और गिरनार की रक्षा हेतु राजकीय फरमान निकलवाया। अहमदाबाद

---

514. *एपि॰इण्डि॰*, II, पृ॰ 59, सं॰ 13.
515. *प्रो॰रि॰अ॰स॰वे॰स॰*, 1909-10, पृ॰ 44-45.
516. *भंडारकर कोम्मेमोरेशन वोल्यूम*, पृ॰ 265-76.

के सूबेदार आज़मखान को आवश्यक आदेश भेज दिये गये। तीर्थयात्रा के स्थान कर्मचन्द्र के अधिकार में रखे गये।

गुजरात में कुछ जैन मूर्तियों को तोड़ दिया गया यद्यपि अकबर ने बाद में गवर्नर को फरमान भेजा और उसको जैन मंदिरों को अब अधिक नष्ट नहीं करने को कहा। फिर भी गाड़ी से भरी मूर्तियों को मुगल अधिकारी द्वारा मंदिरों के समीप से हटाया गया, और 1578 ई० के पश्चात् जैनियों द्वारा धन देकर धर्म की रक्षा की गई। इस प्रकार हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों की प्रचलित वैमनस्यता चलती रही।[517]

अभिलेख, फ़रमान, आदि के अतिरिक्त अकबर के समकालीन जैन विद्वानों ने अकबर और उसके राज्य की प्रशंसा की।[518] पाण्डे राजमल्ल (1575 ई०) ने *लाटी संहिता* में लिखा है "सम्राट् ने जज़िया को रोककर पुण्य प्राप्त किया है। वह कभी कठोर शब्द नहीं बोलता था। वह पशु हिंसा से दूर रहता था। उसने जुआ और शराब बन्द कर दिये क्योंकि ये मनुष्य की इन्द्रियों को नष्ट करते हैं, और इसलिए वह गलत मार्ग को जाता है।" पाण्डे जिनदास ने *जम्बू स्वामी चरित्र* (1585 ई०) में उसकी चतुर नीति और प्रतापी राज्य की प्रशंसा की है। कवि परिमल ने *श्रीपाल चरित्र* (1594 ई०) में अकबर की तारीफ़ की है। उसने लिखा है कि अकबर ने गायों की रक्षा हेतु प्रयत्न किये। उसने आगरा की सौन्दर्यता का वर्णन किया है। वह जैन विद्वानों की संगत में रहता था, और उसने विचार-गोष्ठियों का भी आयोजन किया था। विद्याहर्ष सूरि *अंजना सुन्दरी राज रास* (1604 ई०) में उल्लेख करता है कि उसने गायों, भैंसों और बकरियों जैसे पशुओं के वध को रोक दिया। उसने बंदियों को जेलों से छोड़ दिया। वह जैन संतों का आदर करता था। उसने दान और पुण्य के कार्यों की वृद्धि की। महान् कवि बनारसी दास *आत्म चरित* में लिखता है, "जब उसने जौनपुर में अकबर की मृत्यु का समाचार सुना तो वह बेहोश हो गया।" समस्त जनता में शोक फैल गया। पिन्हेरी[519] नाम के पुर्तगाली पादरी ने लिखा है "अकबर जैन धर्म का अनुयायी हो गया। उसने जैन सिद्धान्तों का पालन किया। वह आत्म-चिंतन और आत्मबोध में लगा रहा। उसने शराब, मांस और जुआ बंद करने का निर्देश दिया।" वी० स्मिथ[520] और अन्य विद्वानों का विचार है कि अकबर जैन धर्म और जैन आचार्यों का बड़ा सम्मान करता था।

साह तोड़र, जो आगरा में अकबर की टकसाल का मास्टर था, ने मथुरा के प्राचीन

517. *द रिलीजियस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्पायर्स*, पृ० 15.

518. *ज्यो०उ०प्र०जै०*, पृ० 22.

519. वही, पृ० 23.

520. वही, पृ० 24.

तीर्थ का पुनरुद्धार किया। उसने प्राचीन टूटे हुए स्तूपों के स्थान पर 514 नये स्तूप बनवाये, और बारह दिक्पाल स्थापित किये। उसने 1573 ई॰ में चतुर्विध संघ के साथ उनका प्रतिष्ठा समारोह किया। उसने 1594 ई॰ में मथुरा में सुन्दर जैन मंदिर बनवाया। उसने राजमल पाण्डेय से संस्कृत में *जम्बु स्वामी चरिउ* लिखवाया और जिनदास से हिन्दी में।[521]

साह नानु आम्बेर का कच्छवाह राजा मानसिंह का प्रधानमंत्री था जो अकबर द्वारा बंगलादेश का गवर्नर बना दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि साह नानु को स्वामी के प्रति कर्त्तव्यों के संबंध में अनेक बार बंगाल जाना पड़ता था। उसने बंगलादेश में चंपानगरी के समीप अकच्छपुर (अदबरपुर) के आदिनाथ मंदिर में वि॰ सं॰ 1659 में *यशोधर चरित्र* भट्टारक ज्ञानकीर्ति से लिखवाया।[522] उसने सम्मेद शिखर में बीस तीर्थंकरों के जैन मंदिर बनवाये, और अनेक बार इस तीर्थ की यात्रा की।

जहाँगीर (1605-27 ई॰) और शाहजहाँ (1628-58 ई॰)

भारत में सत्रहवीं सदी का पूर्वार्द्ध उन्नति और समृद्धि का युग था। इस समय मुगल साम्राज्य दो सक्षम राजा जहाँगीर (1605-27 ई॰) और शाहजहाँ (1628-58 ई॰) द्वारा शासित था। दक्षिण भारत में भी बीजापुर और गोलकुंडा के राज्य में आंतरिक शांति थी और वहाँ सांस्कृतिक उत्थान हो रहा था। मुगल सम्राटों ने प्रशासन का एकीकरण कर दिया जिसका विकास अकबर के समय हो चुका था। उन्होंने राजपूतों के साथ संबंध बनाकर रखे और शक्तिशाली वर्ग जैसे अफसान और मराठों से मैत्रीय संधि से साम्राज्य का व्यापक आधार बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी राजधानियों को रमणीय भवनों से सजाया। मुगलों ने भारत की पड़ोसी एशियाई शक्तियों जैसे ईरान, उजबेक और ओटोमन तुर्कों के साथ दृढ़ संबंध स्थापित कर रचनात्मक योगदान दिया। इससे भारत के विदेशी व्यापार के अधिक मार्ग खुल गए।

इसमें संदेह नहीं कि जैन आचार्य मानसिंह और बालचन्द को अकबर के समय अधिक सम्मान प्राप्त था। लेकिन मानसिंह ने भविष्यवाणी की कि जहाँगीर का राज्य दो वर्ष से अधिक नहीं होगा। जहाँगीर मानसिंह से नाराज हो गया, और जैनियों को केन्द्रीय प्रदेशों से निकलने का आदेश दिया। यह राजनैतिक उद्देश्यों के कारण था, और शीघ्र जहाँगीर द्वारा इसको वापस ले लिया गया।[523]

साधारणतः जहाँगीर ने अपने पिता की धार्मिक नीति का अनुसरण किया। उसने

---

521. वही, पृ॰ 24.

522. *जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰,* I, सं॰ 171, पृ॰ 112.

523. *दी रिलीजियस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्पायर्स,* पृ॰ 65-67.

अपने राज्य में कुछ दिनों के लिए मांस खाना और पशुओं का वध रोक दिया। उसने युग प्रधान की उपाधि यति मानसिंह को दी। उसने जैन आचार्यों के साथ दार्शनिक विचार-विमर्श में रुचि ली। उसके राज्य में अनेक नए जैन मंदिर बने। लोगों को इस समय धार्मिक उत्सवों को मनाने की स्वतंत्रता थी। लोग तीर्थों की यात्राएँ करते थे। राजा भारमल, हीरानन्द, मुकीम, आदि जैन सम्राट् के प्रिय थे। बनारसीदास जौनपुर के नवाब चिनकली चरवान का हिन्दी और संस्कृत का शिक्षक था। हीरानन्द एक बड़ा जौहरी था, और राजकीय अनुमति से उसने सम्मेद शिखर का संघ निकाला। उसने जहाँगीर और उसके दरबारियों को अपने रहवास पर बुलाया। उसने लब्धिवर्धन सूरि से आगरा में प्रतिष्ठा समारोह करवाया। सबलसिंह मोठिया जहाँगीर के राज्य में एक अन्य करोड़पति था। आगरा के अन्य व्यापारी थे – साह बन्दीदास, ताराचन्द्र साहु, आदि। आगरा के जैन संघ की तरफ से विजयसेन को सचित्र विज्ञप्ति-पत्र 1610 ई॰ में भेजा गया। जैन श्रावक जैसे बनारसीदास ने 1618 ई॰ में अहिच्छत्रपुर और हस्तिनापुर का एक संघ निकाला।

बनारसीदास शाहजहाँ का मुसाहिब था और उसके साथ शतरंज खेला करता था। इस काल में स्वयं बनारसीदास, पांडे हेमराज, पांडे रूपचन्द्र, पांडे हरिकृष्ण, भट्टारक जगतभूषण, कवि सालिवाहन, यति लूणसागर, पृथ्वीपाल, वीरदास, कवि सघास, मनोहरलाल, खड़गसेन, रायचन्द्र, जगजीवन, आदि ने जैन साहित्य को समृद्ध किया। बनारसीदास के *अर्धकथानक* (1641 ई॰) में जैनियों का जीवन, व्यापार और प्रशासन का वर्णन, चित्र-लेखन मिलता है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रंथ अयोध्या, वाराणसी, मथुरा, हस्तिनापुर और अहिच्छत्र के तीर्थों की लोगों की यात्रा की सूचना देता है। अग्रवाल, ओसवाल और श्रीमाली आगरा में रह रहे थे। आगरा, फिरोज़ाबाद, जौनपुर, खैराबाद, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद, मेरठ, इटावा, कोल (अलीगढ़), सहारनपुर, वाराणसी, आदि जैन धर्म के अच्छे केन्द्र थे।[524]

औरंगजेब (1658-1707 ई॰)

औरंगजेब ने अकबर की सहिष्णुता की नीति को पलट दिया, जिससे हिन्दुओं की साम्राज्य के प्रति राजभक्ति कम हो गई। इसके परिणामस्वरूप उपद्रव उठ खड़े हुए, और साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई। उसके संदेहास्पद स्वभाव ने उसकी समस्याओं को और बढ़ा दिया। अपने पिता को बन्दी बनाकर उसने सिंहासन प्राप्त किया, और अपनी विजयों से साम्राज्य का विस्तार किया।

औरंगजेब हठधर्मी और असहिष्णु था। पहले के समान उसके राज्य में जैनियों को स्वतंत्रता नहीं थी। इसके उपरांत भी उपाध्याय यशोविजय, आनन्दघण, देवब्रह्मचारी, भैया

524. *ज्यो॰ उ॰ प्र॰ जै॰*, पृ॰ 22-23.

भगवतीदास, जगतराय, शिरोमणिदास, जीवराज, लक्ष्मीचन्द्र, भट्टारक विश्वभूषण, कवि विनोदीलाल, आदि ने इस काल में साहित्यकार के रूप में नाम कमाया। इलाहाबाद के निवासी विनोदीलाल ने 1690 ई॰ *श्रीपाल चरित्र* लिखा।

फतेहपुर के अलफ़रखान के दीवान ताराचन्द्र ने संस्कृत के ग्रंथ *ज्ञानार्णव* का 1671 ई॰ में ब्रजभाषा में अनुवाद करवाया। आगरा के रहने वाले चतुर व्यापारी सोनपाल और कुंवरपाल पटना में आकर बस गये। उन्होंने मिर्जापुर में जैन मंदिर बनवाया। जगत सेठ के परिवार का हीरानंद शाह का पूर्वज आगरा का निवासी था किन्तु 1661 ई॰ में वह पटना में बस गया।[525]

1707-1857 ई॰ में जैन धर्म

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य का पतन एकाएक शुरू हो गया। नादिरशाह दुर्रानी और अहमदशाह अब्दाली के भयंकर आक्रमण हुए। मराठों और सिखों ने लूट शुरू कर दी। प्रान्तों के सूबेदार मुगलों से स्वतंत्र हो गए। यह भारतीय इतिहास में अंधकार युग माना जाता है। 1722 ई॰ में सादातखान को अवध का सूबेदार नियुक्त किया गया। उसका कोषाध्यक्ष अग्रवाल जैन केशरी सिंह सूबेदार के साथ देहली से लखनऊ गया। 1724 ई॰ में उसने अयोध्या के पाँच जैन मंदिरों की मरम्मत करवायी और इस तीर्थ की उन्नति का प्रयत्न किया। नवाब असफुद्दौला (1775-97 ई॰) के मुख्य जौहरी बच्छराज नाहटा को राजा की उपाधि दी गई। इस समय जिनअक्षय सूरि ने लखनऊ में अपनी पीठ यतिछत्र में स्थापित की और पार्श्वनाथ का मंदिर भी बनवाया। राजा बच्छराज नाहटा और लखनऊ के श्रावकों ने भट्टारक जिनचन्द्र को शानदार सचित्र विज्ञप्ति-पत्र भेजकर भट्टारक जिनचन्द्र को आमंत्रित किया। देहली के राजकीय कोषाध्यक्ष राजा हरसुखराय और उसके पुत्र राजा सुगतचन्द्र ने 1800 ई॰ में हस्तिनापुर के तीर्थ का पुनरुद्धार किया और विशाल दिगम्बर जैन मंदिर बनाया। उन्होंने अन्य स्थानों पर जैन मंदिर निर्मित करवाये। इलाहाबाद के साहु हीरालाल ने कौशांबी के समीप प्रभास की पहाड़ी पर 1824 ई॰ में जैन मंदिर बनवाया। सेठ मणिराम ने मथुरा में चौरासी टीला पर जम्बूस्वामी का मंदिर बनवाया। भट्टारक विश्वभूषण, पंडित जिनदास, पंडित हेमराज (इटावा), बुलाकीदास (आगरा), दयानतराय (आगरा), आदि इस समय रहते थे।[526]

मुस्लिमों के राज्य में भी जैन धर्म का निरन्तर उत्थान रहा। मंदिरों का निर्माण हुआ, और अनेक मूर्तियां उनमें प्रतिष्ठित हुईं। ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं। जैन श्रावक तीर्थों के लिए संघ निकाले। कुछ मुस्लिम राजा जैन साधुओं के उपदेशों से प्रभावित हुए,

525. वही, पृ॰ 25.
526. वही, पृ॰ 25-27.

और उनका उच्च सम्मान किया। जैन श्रावक मुस्लिम राज्यों के सच्चे और स्वामी-भक्त नागरिक थे। इनमें से कुछ मुस्लिम राज्यों के बड़े पूंजीपति हुए और मंत्री भी। वे सेनापति के रूप में युद्ध में भी लड़े। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि मुस्लिम राजाओं ने जैन मंदिरों को नष्ट करने की अपेक्षा सुरक्षा दी। उन्होंने जैनियों को अपने धर्म का पालन करने के लिए सुविधाएँ दीं।

राजस्थान के विभिन्न पूर्व राज्यों में जैन धर्म

प्राचीन समय में जैन धर्म राजस्थान के विभिन्न हिस्सों में प्रचलित था। रजवाड़ों के बनने के पश्चात् भी इनके राजाओं के आश्रय में जैन धर्म निरन्तर उन्नति करता रहा। मंदिर बनाये गये और बड़े समारोह के साथ मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं। इन राज्यों के राजा और जनता दोनों ने जैन संतों का बड़ा आदर और सत्कार किया। जैन धर्म का इतना महत्त्वपूर्ण प्रभाव था कि कुछ राजाओं और अधिकतर लोगों ने अहिंसा के सिद्धान्त का अनुसरण करना शुरू कर दिया।

मेवाड़

अनेक मेवाड़ के राजाओं का जैन धर्म को संरक्षण प्राप्त था। जैन धर्म का इतना प्रभाव था कि कुछ राजा यद्यपि जैन नहीं थे, फिर भी उन्होंने जैन मंदिर बनवाये और उनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कीं। उन्होंने उनको विभिन्न प्रकार के दान दिये। उन्होंने आचार्यों को आमंत्रित किया और उनको राजकीय सम्मान दिया। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने अहिंसा का पालन करने के लिए आदेश निकाला।

राजा भर्तृभट्ट 943 ई॰ में शासन कर रहा था।[527] उसने अपने नाम पर भर्तृपुर नाम का नगर स्थापित किया। उसने गुहिल विहार बनवाया और चैत्रपुरीयगच्छ के बूड़ागणि द्वारा इसमें आदिनाथ की प्रतिष्ठा की।[528] उसके पुत्र राजा अल्लट के मंत्री ने आघाट में एक जैन मंदिर बनवाया जिसमें संडेरकगच्छ के यशोदेव सूरि द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति दसवीं सदी में प्रतिष्ठित की गई। जिन प्रभसूरि चित्तौड़ के महारावल क्षेत्रसिंह का समकालीन था।[529] जब जिन प्रबोध चित्तौड़ आये, ब्राह्मण, संन्यासी, राजपुत्रों का मुखिया, क्षेत्रसिंह और कर्णसिंह सब आचार्य के सम्मान हेतु 1277 ई॰ में वहाँ एकत्रित हुए।[530]

मेवाड़ का राजा समरसिंह और उसकी माता जयतलादेवी देवेन्द्र सूरि के उपदेशों

527. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1914, सं॰ I.
528. सत्यप्रकाश जैन, 7, *दीपोत्सवांक*, पृ॰ 146-47.
529. *जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास*, पृ॰ 56.
530. *खरतरगच्छ बृहद गुरूवावली*, पृ॰ 56.

से बहुत प्रभावित हुए और उसके भक्त हो गए। चित्तौड़गढ़ के 1278 ई॰ के अभिलेख[531] से हमें ज्ञात होता है कि संभवतः उसकी राय के अनुसार चित्रकूट और मेदपाट के स्वामी तेजसिंह की रानी जयतलादेवी ने पार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया। इसमें उल्लेखित है कि गुहिल वंश के महारावल समरसिंह देव ने प्रद्युम्न सूरि को मठ के लिए मंदिर के पश्चिम की ओर भूमि के साथ कुछ दान दिया। गुहिल राजा सामंतसिंह ने एक अन्य लेख के अनुसार भर्तृरिपुरीयगच्छ के जैन मंदिर को अपनी माता जयतलादेवी की आध्यात्मिक भलाई हेतु भूमि दान दी। जयतलादेवी साध्वी सुमला से धार्मिक शिक्षा प्राप्त करती थी।[532] इसके अतिरिक्त सूरिजी से प्रोत्साहित होकर समरसिंह ने अपने राज्य में पशु वध रोकने के लिए आदेश भी निकाला। इस आदेश में यह भी उल्लेख है कि लोग मदिरा को छोड़ देंगे और कड़ाई से न्याय और धर्म के सिद्धान्तों का पालन करेंगे। प्रतापगढ़ के मंदिर की मूर्ति के 1306 ई॰ के अभिलेख[533] से ज्ञात होता है कि राजा का पुत्र तेजक अपनी पत्नी रत्नदेवी और उसके पुत्र विजयसिंह ने जयतलादेवी के पुण्य के लिए मूर्ति की स्थापना की।

1428 ई॰ में अपने स्वामी के आदेश से राजा मोकल के खजांची गुलराज ने महावीर का मंदिर बनवाया।[534] नागदा के पोरवाड़ जाति के किसी बनिये द्वारा वहाँ 1429 ई॰ में पार्श्वनाथ का मंदिर निर्मित किया गया जैसाकि अभिलेख से ज्ञात होता है।[535]

राजा मोकल के पश्चात् उसका पुत्र कुंभकर्ण राजा हुआ जो जैन धर्म का बड़ा सहायक था। उसके राज्य में न केवल मूर्तियों और मंदिरों का निर्माण हुआ अपितु मंदिरों, मूर्तियों का प्रतिष्ठापन भी हुआ। उसने स्वयं सादड़ी में शानदार मंदिर बनवाया।[536] चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ का निर्माण बघेरवाल जाति के जीजा का पुत्र पुन्नसिंह द्वारा उसकी पुत्री की प्रेरणा से पन्द्रहवीं सदी में करवाया गया।[537] महाराजा कुंभ ने दुर्ग में जैन कीर्तिस्तंभ के निर्माण की अनुमति दी, इससे उसके उदार दृष्टिकोण का पता चलता है। रणपुर और कमलगढ़ के प्रसिद्ध चौमुख मंदिर उसके राज्य में बनाये गये। उदयपुर राज्य में दिलवाड़ा के मठ में 1434 ई॰ का पाषाण का अभिलेख उल्लेख करता है कि उसके राज्य

---

531. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1922-23, सं॰ 8.
532. वही, सं॰ 9.
533. वही, 1921-22, सं॰ 5.
534. *मध्य प्रांत, मध्य भारत और राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक*, पृ॰ 137.
535. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1904-05, पृ॰ 62.
536. *हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्किटेक्चर*, पृ॰ 240.
537. *अकां॰*, 8, सं॰ 3, पृ॰ 139.

में धर्मचिंतामणि मंदिर की पूजा के लिए 14 तनका नियत किये गए।[538] नागदा के अद्‌भुज जी के जैन मंदिर में सारंग नामक एक वणिक द्वारा शांतिनाथ की एक विशाल मूर्ति 1437 ई॰ में उसके राज्य में स्थापित कर दी गई।[539] चित्तौड़ के शिगार चौडी जैन मंदिर के स्तंभ पर 1448 ई॰ के लेख में उल्लेख है कि राणा कुंभकर्ण के कोषाध्यक्ष अधिकारी साह केल्हा के पुत्र भंडारी वेलाक ने जैन तीर्थंकर शांतिनाथ मंदिर की स्थापना की।[540] वसंतगढ़ जैन मंदिर में मूर्ति पर अंकित लेख से ज्ञात होता है कि धनसी के पुत्र भादाक ने वसंतपुर चैत्य में मूर्ति रखी, और इसका अभिषेक मुनि सुन्दर सूरि ने 1453 ई॰ में किया।[541] आबू पहाड़ के अचलगढ़ पर आदिनाथ की विशाल पीतल की मूर्ति की चौकी पर 1461 ई॰ का अभिलेख उल्लेख करता है कि जब महाराजाधिराज कुंभकर्ण कुंभलमेरु पर राज्य कर रहा था, मूर्ति का निर्माण डूंगरपुर में रावल सोमदास के राज्य में हुआ और इसको तपागच्छ के संघ द्वारा आबू लाया गया।[542]

जैन धर्म का प्रसार राजा रायमल के समय में भी होता रहा जो राणा कुंभ का पुत्र था। उदयपुर के 1499 ई॰ के अभिलेख में राणा रायमल के राज्य में महावीर, अम्बिका तथा अन्य के बनाये हुए मंदिरों का उल्लेख है।[543] नाडलाई की आदिनाथ की मूर्ति के अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मूर्ति प्रतिष्ठा समारोह सीहा और समदा द्वारा किया गया जिनके दादा सायर ने मेवाड़ के राजा रायमल के बड़े पुत्र पृथ्वीराज के आदेश से पहले सहायक चँवरियों को पुनः निर्मित करवाया था।[544]

राजपूतों में प्रसिद्ध योद्धा महाराणा प्रताप ने हीरविजय को धर्म प्रचार करने हेतु मेवाड़ आने के लिए प्रार्थना करते हुए पत्र लिखा। यह पत्र प्राचीन मेवाड़ी में 1578 ई॰ का लिखा हुआ जैन धर्म के इतिहास का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।[545] इससे पता चलता है कि मातृभूमि की रक्षा हेतु प्रताप युद्धों में व्यस्त रहा, इसके उपरान्त भी वह अपना और अपनी जनता के आध्यात्मिक उत्थान का भी ध्यान रखता था। वह धार्मिक मामलों के प्रति उदार

---

538. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1923-24, सं॰ 7.
539. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1905, पृ॰ 61.
540. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1920-21, सं॰ 10.
541. वही, 1923-24, सं॰ 8.
542. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1925-26 सं॰ 8.
543. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1905-06, पृ॰ 60.
544. वही, 1908-09, पृ॰ 43.
545. *राजपूताने के जैन वीर*, पृ॰ 341-42.

था, तथा जैन धर्म के प्रति उसका अनुराग था। 1602 ई॰ के अभिलेख में महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह द्वारा अनुदान देने का उल्लेख है।[546]

महाराणा जगत सिंह के राज्य में जैन धर्म को विशेष आश्रय मिला। नाडोल[547] और नाडलाई[548] की मूर्तियों की प्रतिष्ठा जयमल और समस्त संघ द्वारा क्रमशः 1629 ई॰ में हुई। आचार्य महाराज देवसूरि के गुणों को सुनकर महाराणा जगतसिंह ने अपने प्रधानमंत्री झाला कल्याणसिंह के द्वारा उदयपुर में उन्हें चार्तुमास बिताने हेतु आमंत्रित किया। देव सूरि ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उदयपुर आया। यहाँ उसका सैनिक सम्मान के साथ स्वागत हुआ जैसाकि हमें *दिग्विजय महाकाव्य*[549] से ज्ञात होता है। उनके उपदेश से प्रभावित होकर राजा उसका भक्त हो गया। वरकाना में प्रतिवर्ष लोगों का समारोह होता था, जिसका चुंगीकर उसने बन्द कर दिया। उसने आदेश में उदयपुर की पिचोला और उदयसागर की झीलों से मछली या अन्य जीवों को पकड़ने, महाराणा के जन्म मास, भाद्रपद, में हर वर्ष और उनके राज्याभिषेक के दिन पशुवध रुकवा दिये। उसने मचिंद दुर्ग पर राणा कुंभा द्वारा निर्मित जैन मंदिरों की मरम्मत के आदेश दिये। इसके अतिरिक्त वह उदयपुर के मंदिर में ऋषभदेव की प्रतिमा की पूजा करता था।[550]

इसके पश्चात् भी जैन धर्म को निरन्तर राजकीय आश्रय मिलता रहा। महाराणा राजसिंह के मुख्यमंत्री दयालशाह ने राजनगर में एक रमणीय जैन मंदिर का निर्माण करवाया और उसके राज्य में विजय सागर से 1675 ई॰ में अभिषेक समारोह करवाया।

डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्यों में जैन धर्म

डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ मिलकर बागड़ क्षेत्र बनता है। यहाँ के राजाओं के राज्य में जैन धर्म को आश्रय प्राप्त हुआ, और फला-फूला। उनकी सेवा में अनेक जैन मंत्री थे। उन्होंने अनेक जैन मंदिर बनवाये, और मूर्तियों का अभिषेक समारोह शानो-शौकत से मनाया जिसने बहुत लोगों को आकर्षित किया। उनकी संरक्षता में ग्रंथों की अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार करवाई गई। कुछ समय के लिए जैन धर्म इतना लोकप्रिय हो गया कि तेली और इसी प्रकार की जातियों के लोगों ने भी जैन जनता के सम्मान में अहिंसा के सिद्धान्त का अनुसरण किया।

इस क्षेत्र में दसवीं सदी तक जैन धर्म के अस्तित्व की जानकारी जैन मूर्ति पर अंकित

546. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1907-08, पृ॰ 48-49.
547. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1908-09, पृ॰ 46.
548. वही, पृ॰ 43.
549. *सि॰जै॰सि॰*, 14, इंट्रोडक्शन.
550. *राजपूताने के जैन वीर*, पृ॰ 341.

लेख "जयति वागट संघः" से होती है। इस समय इस क्षेत्र की राजधानी वटपद्रक थी जो अभी बड़ौदा जानी जाती है। जैन धर्म की इस क्षेत्र में निरन्तर उन्नति होती रही थी जिसकी जानकारी यहाँ से प्राप्त विभिन्न प्रमाणों से होती है।[551] इस स्थान के प्राचीन पार्श्वनाथ मंदिर की चट्टान पर चौबीस तीर्थंकर मूर्तियां अंकित हैं। इस पर 1307 ई॰ के अभिलेख के अनुसार खरतरगच्छ के जिनचन्द्र सूरि द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई।[552] मेवाड़ में धूलेव के केशरियाजी की मूर्ति इस स्थान से ले जाई गई है।[553]

डूंगरपुर का प्राचीन नाम गिरिवर था। इसकी स्थापना 1358 ई॰ में की गई थी। जयानन्द की 1370 ई॰ में रचित *प्रवास गीतिका त्रय* से ज्ञात होता है कि उसके समय पाँच जैन मंदिर और नौ सौ जैन परिवार वहाँ रह रहे थे।[554]

रावल प्रतापसिंह के मंत्री प्रह्लाद ने 1404 ई॰ में जैन मंदिर बनवाया।[555] इसके पश्चात् जैन धर्म गजपाल के राज्य में भी उन्नति करता रहा। उसके राज्य में चार ग्रंथों की प्रतियाँ *पंच प्रस्थान विषम पद व्याख्या* 1423 ई॰, *द्वयाश्रय महाकाव्य सटीक* 1428 ई॰, द्वितीय खंड, *ग्रंथाग्र त्रैय सकल ग्रंथ* 1429 ई॰ और *कथाकोश* 1430 ई॰ लिखी गईं।[556] आंत्री के जैन मंदिर के दीवार पर 1469 ई॰ में लिखे लेख से यह स्पष्ट हैं कि उसके मुख्यमंत्री साभा ने आंत्री में शांतिनाथ का मंदिर बनवाया, और 1438 ई॰ में आहार-गृह की स्थापना की।[557] इस मंदिर में शांतिनाथ की पीतल की मूर्तियों की स्थापना की गई।[558] गजपाल के पश्चात् उसका पुत्र सोमदास राजा हुआ। आबू के पहाड़ अचलगढ़ पर आदिनाथ की विशाल पीतल की मूर्ति की चौकी का 1461 ई॰ का लेख उल्लेख करता है कि डूंगरपुर में रावल सोमदास के राज्य में बनाई गई और तपागच्छ के संघ द्वारा आबू लाई गई, और अपनी पत्नी करनादे और उनके पुत्र साल्हा और माल्हा ने मूर्ति की स्थापना की। इसका अभिषेक समारोह तपागच्छ के लक्ष्मीसागर सूरि द्वारा किया गया।[559]

साभा के पश्चात् उसका पुत्र साल्हा सोमदास का मुख्यमंत्री हुआ। उसने उदारता

---

551. *केशरियाजी तीर्थ का इतिहास*, पृ॰ 27.
552. *डूंगरपूर राज्य का इतिहास*, पृ॰ 1.
553. वही, 15.
554. *मेवाड़ राज्य का इतिहास*, पृ॰ 42.
555. *श्री महारावल रजत जयंती अभिनन्दन ग्रंथ*, पृ॰ 397.
556. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1915-16.
557. *श्री महारावल रजत जयंती अभिनन्दन ग्रंथ*, पृ॰ 398.
558. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1929-30, सं॰ 3.
559. वही, 1925-26, सं॰ 8.

से दान दिया और 1464 ई॰ में अकाल के समय दो हजार लोगों को प्रतिदिन खाना खिलाया।[560] उसने गिरिवर के पार्श्वनाथ के मंदिर की मरम्मत करवायी। उसने आंत्री में साभा द्वारा निर्मित मंदिर में मंडप और देव कुलिकायें स्थापित कीं। उसने हाथी पर बैठी मरुदेवी की मूर्ति भी स्थापित की। नये बने हुए मंदिर के हिस्से का अभिषेक समारोह सोमविजय सूरि द्वारा 1468 ई॰ में किया गया। उसने डूंगरपुर से 8 कि॰मी॰ दूरी पर अपने निवास-स्थान में विशाल जैन मंदिर बनवाना शुरू किया किन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका।[561] ग्रंथों की प्रशस्तियों से यह ज्ञात होता है कि *सिद्धहेम वृहद वृत्ति श्री सुकुमाल स्वामी चरित्रम* और *काव्यकल्पना कवि शिक्षा वृत्ति* रावल सोमदास के राज्य में लिखी गई थी।[562] उसके समय का जैन साधु का एक स्मारक भी है।[563] जैन मूर्तियों का अभिषेक समारोह 1462 ई॰ और 1476 ई॰ में उसके राज्य में हुआ।[564]

रावल सोमदास का पुत्र गंगदास था जिसका उत्तराधिकारी उदयसिंह था। मोगामा (बांसवाड़ा) राज्य के शान्तिनाथ के मन्दिर की दीवार पर अंकित 1514 ई॰ का लेख है जो उल्लेख करता है कि यह हुंबड जाति के डोसी चम्पा के पुत्रों और पौत्रों के द्वारा राजा उदयसिंह के राज्य में निर्मित किया गया था।[565] डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्य में जैन धर्म का उत्थान बाद में भी चालू रहा जिसकी जानकारी बाद के समय की जैन मूर्तियों से प्राप्त होती है।[566]

प्रतापगढ़ राज्य में जैन धर्म उन्नत अवस्था में रहा। देवली ज्ञानसदी और प्रतापगढ़ के जैन मन्दिरों में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के अभिलेख मूर्तियों पर अंकित पाये जाते हैं।[567] देवली के जैन मन्दिर में एक पीतल की मूर्ति के पीछे 1316 ई॰ का लेख अंकित है। यह लेख उल्लेख करता है कि धनचलेश्वर वाटकू के निवासी ठाकुर खेटाक ने, जो श्रीमाल जाति का था, पार्श्वनाथ के मंदिर की स्थापना अपने पिता ठाकुर फाम्फा और अपनी माता हान्सादेवी के आध्यात्मिक कल्याण के लिए स्थापित की।[568] देवली के जैन मन्दिर के पत्थर पर अंकित 1715 ई॰ का अभिलेख उल्लेख करता है कि इस नगर

560. वही, 1929-30, सं॰ 3.
561. *डूंगरपुर राज्य का इतिहास*, पृ॰ 58.
562. *श्री महारावल रजत जयंती अभिनंदन ग्रंथ*, पृ॰ 399.
563. *ए॰रि॰रा॰म्यु॰अ॰*, I, 1916-17.
564. *डूंगरपुर राज्य का इतिहास*, पृ॰ 70-71.
565. *ए॰रि॰रा॰म्यु॰अ॰*, 1916-17, सं॰ 5.
566. वही, 1914-15.
567. वही, 1921-22.
568. वही, 1921-22, सं॰ 6.

के तेलियों ने महारावल पृथ्वीसिंह के राज्य में महाजन समुदाय के सारैय्या और जीवराज की प्रार्थना पर साल भर के 44 दिन के लिए तेल की घाणियों को बन्द रखने का निश्चय किया।[569] देवली में मल्लिनाथ के मन्दिर का 1707 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि जब महाराजाधिराज महारावल पृथ्वीसिंह देवगढ़ में राज्य कर रहा था और पहाड़सिंह उसका उत्तराधिकारी था, मल्लिनाथ का मन्दिर सिंघवी श्रीहर्ष के पुत्र सिंघवी वर्धमान और उसकी पुत्री रुक्मी द्वारा बनवाया गया।[570] महारावल सामन्तसिंह के राज्य में आदिनाथ का मंदिर 1781 में धनरूप, मनरूप और अभयचन्द्र द्वारा बनाया गया।[571] मूर्तियों का शानदार अभिषेक समारोह प्रतापगढ़ में 1867 ई॰ में आयोजित किया गया।[572]

कोटा राज्य में जैन धर्म

कोटा राज्य के क्षेत्र में प्राचीन समय में जैन धर्म प्रचलित था। पद्मनन्दि ने बारां में *जम्बूद्वीप पण्णत्ति* लिखा। यह नगर परियात्र में था, और शक्ति व शांति से शासित था।[573] इस बारां की पहचान कोटा राज्य के बारां से की जाती है। प्राचीन काल में यह जैन धर्म का केन्द्र था क्योंकि प्राचीन मन्दिरों के अवशेष यहां पाये जाते हैं। यह मूल संघ के भट्टारकों की पीठ रही है।[574] राजा की पहचान मेवाड़ के शक्तिकुमार से की जाती है जो 977 ई॰ में आघाट में राज्य करता था।[575] उसके दादा भर्तृपिट्ट द्वितीय का राज्य दक्षिण-पूर्व में प्रतापगढ़ की सीमा तक फैला हुआ था।[576] उसका पुत्र और उत्तराधिकारी अल्लट शक्तिशाली राजा था। बाद में शक्ति कुमार ने अपने राज्य को संगठित किया, और यश प्राप्त किया।[577] उसके राज्य में कोटा का कुछ हिस्सा भी सम्मिलित था।

शेरगढ़ में तीन विशाल मूर्ति ग्यारहवीं सदी की मिलीं। अभी ये मूर्तियां टूटे-फूटे भवन में रखी हुई हैं। मूर्तियों के अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इस नगर का प्राचीन नाम कोषवर्धन था।[578]

---

569. वही, 1934-35, सं॰ 6.
570. *ए॰रि॰रा॰म्यु॰अ॰*, 1934-35, सं॰ 18.
571. वही, सं॰ 20.
572. संवत 1834. . . जिनबिम्ब।
573. जुगलकिशोर मुख्तार इस ग्रंथ का समय आठवीं सदी निश्चित करता है। *पुरातन जैन वाक्य सूची*, पृ॰ 467.
574. *इंडि॰एंटी॰*, पृ॰ 27.
575. वही, 39, पृ॰ 186.
576. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1916, पृ॰ 2.
577. *इंडि॰एंटी॰*, XXXII, पृ॰ 186.
578. *कोटा राज्य का इतिहास*, पृ॰ 28.

रामगढ़ से आठ कि॰मी॰ दूरी पर आठवीं व नवीं सदी की जैन गुफायें हैं। यह स्थान कोटा से 75 कि॰मी॰ दूरी पर है। प्राचीन समय में इसका नाम श्रीनगर था। संभव है कि जैन संन्यासी इन गुफाओं में तपस्या करते थे। इन गुफाओं के समीप अनेक जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां रखी हुई हैं।

कोटा बीणा रेलवे स्टेशन पर अट्रू नाम का स्थान है। यहां पर ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के जैन मन्दिरों और ब्राह्मण मन्दिरों के अवशेष हैं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ये मन्दिर ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में बने थे। अट्रू से 30 कि॰मी॰ की दूरी पर पार्वती नदी के तट पर ध्वंस कृष्णविलास स्थित है जो विलास के नाम से भी जाना जाता है। यहां पर अनेक नष्ट जैन व ब्राह्मण मन्दिर हैं जो आठवीं से ग्यारहवीं सदी के हैं। विलास से 62 कि॰मी॰ की दूरी पर शाहबाद नाम का प्राचीन नगर है। इन दोनों स्थानों पर जैन और ब्राह्मणों के मन्दिरों के अवशेष हैं। इन स्थानों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण और जैन समुदायों के लोग आपस में मिलकर रहते थे।

खानपुरा के समीप चांदखेड़ी में 1689 ई॰ में औरंगजेब के राज्य में जब उसका सामंत किशोरसिंह चौहान कोटा में राज्य कर रहा था, बघेरवाल जाति के समृद्ध बनिया और मुख्यमंत्री कृष्णदास ने महावीर का मन्दिर बनवाया, और मन्दिर और मूर्तियों का प्रतिष्ठा समारोह अपने पुत्रों और पत्नियों के साथ आयोजित किया।[579] इस समय औरंगज़ेब दक्षिण में था जहां किशोरसिंह स्वामिभक्ति से सेवा कर रहा था। इसके उपरांत बार-बार लिखकर पूछा जा रहा था कि साम्राज्य की स्पष्ट नीति के विरुद्ध मंदिर क्यों बन रहा है? किन्तु स्थानीय अधिकारी टालमटोल के उत्तर देते थे क्योंकि वे जानते थे कि सम्राट् का अंत समीप है।

सिरोही राज्य में जैन धर्म

सिरोही राज्य में भी जैन धर्म ने विशेष उन्नति की। इसके राजाओं ने बिना किसी संदेह के इस धर्म को आश्रय दिया। मन्दिरों का निर्माण हुआ और मूर्तियां विराजमान की गईं। कुछ राजाओं ने जैन आचार्यों को आमंत्रित किया और उनकी शिक्षाओं का वचन और कर्म से पालन किया।

यह क्षेत्र जैन धर्म का केन्द्र था। 1332 ई॰ के कालन्द्री के अभिलेख में[580] संल्लेखना द्वारा संघ के सब सदस्यों की मृत्यु होने का उल्लेख है। इन सदस्यों के नाम भी दिये हुए हैं जो इस प्रकार अमर हो गये। इस अभिलेख से यह प्रकट होता है कि जैनियों की अपने धर्म में अपार भक्ति थी।

579. जयपुर के जैन मंदिर के यंत्र पर लेख।

580. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1916-17, पृ॰ 67.

सिरोही के राजाओं की छत्र-छाया में जैन धर्म बढ़ता गया। पिंडवाड़ा के महावीर के मन्दिर का 1408 ई० का अभिलेख[581] राजकुमार सोहज के राज्य में वर्धमान की प्रतिष्ठा का उल्लेख करता है। आबूरोड स्टेशन से आठ कि०मी० की दूरी पर ऋषभ मन्दिर में अंकित जैन लेख[582] से ज्ञात होता है कि रायमल्ल ने 1542 ई० में रायसिंह के राज्य में मठ बनवाया। दुर्जन-साल के राज्य में 1546 ई० में पिंडवाड़ा के महावीर के मन्दिर के दो चंवरियां लछलदे[583] और तेजपाल[584] के क्रमशः पुण्य के लिए और 1565 ई० में उदयसिंह के राज्य में दो चंवरियां गोरंगदे[585] और लक्ष्मी[586] के पुण्य के लिए बनवायी गईं।

अकबर के नियंत्रण पर फतेहपुर जाते हुए हीरविजय सूरि सिरोही में ठहरे, जहां राजा सुरतानसिंह द्वारा उनका स्वागत किया गया। राजा ने मदिरा, शिकार, मांस और काम से दूर रहने का व्रत लिया। सूरिजी की राय पर उसने कई करों का उन्मूलन किया।[587] सिरोही के मंदिर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि चतुर्मुख का मंदिर सुरतानसिंह के पुत्र महाराज राजसिंह के राज्य में 1577 ई० में सिरोही नगर में बना।[588]

अखैरराज के राज्य में धर्मदास ने चतुर्विध संघ के साथ वीरवाड़ा में 1662 ई० में सिंह विजय की पादुका स्थापित थी।[589] यह ब्राह्मणवाड़ा का प्राचीन नाम है। 1664 ई० में उदयमान[590] और जगमल[591] ने उसके राज्य में क्रमशः आदिनाथ और शीतलनाथ की मूर्तियों का अभिषेक समारोह मनाया। इसी समय समस्त संघ ने पेशुवा नामक स्थान पर कुंथुनाथ की प्रतिमा का प्रतिष्ठा समारोह किया।[592]

1714 ई० में पीठ ने मानसिंह के राज्य में पादुका की स्थापना की।[593] इसी के राज्य में 1730 ई० में भट्टारक चक्रेश्वर सूरि ने अन्य साधुओं के साथ मडार में अन्य की भलाई

581. *ए०रि०रा०म्यू०अ०*, 1909-10, सं० 3.
582. वही, 1924-25, सं० 10.
583. *अ०प्रा०जै०ले०सं०*, सं० 379.
584. वही, सं० 380.
585. वही, सं० 383.
586. वही, सं० 384.
587. *सूरिश्वर और सम्राट अकबर*, पृ० 188.
588. *अ०प्रा०जै०ले०*, सं० 250.
589. वही, सं० 298.
590. वही, सं० 243.
591. वही, सं० 257.
592. वही, सं० 504.
593. वही, सं० 101.

के लिए प्रतिष्ठा समारोह मनाया।[594] 1819 ई॰ में राजा शिवसिंह ने बामणाड़ गांव में पशुओं और भूमि पर लगाया हुआ कर जागीर के रूप में जैन मन्दिर को दान में दिया।[595]

जैसलमेर में जैन धर्म

जैन धर्म जैसलमेर में भट्टी राजपूतों के अधीन मध्यकालीन युग में बहुत फला-फूला। रेगिस्तान के हृदय में इसकी स्थिति होने के कारण यह स्थान मुसलमानों के आक्रमणों से सुरक्षित रहा। यहां बहुत से रमणीय मंदिरों का निर्माण हुआ, और अनेक मूर्तियां उनमें समारोह के साथ विराजमान की गईं। राजाओं ने भी विभिन्न समारोहों में सम्मिलित होकर धार्मिक कार्यक्रमों में बहुत रुचि ली। अनेक जैन आचार्यों की पादुकाओं की प्रतिष्ठा की गई। श्रावक तीर्थस्थलों के लिए संघ ले गये। यहां पर ग्रंथों की सुरक्षा के लिए शास्त्र भंडारों की स्थापना की गई।

जैसलमेर की पूर्व राजधानी लोदोर्व थी। 994 ई॰ में सागर नाम का राजा था जिसके समय खरतरगच्छ के वर्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि इस स्थान पर आये। इनकी शुभकामना से श्रीधर और राजधर नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए जिसने यहां पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया।[596] इस मन्दिर का पुनरोद्धार 1618 ई॰ में सेठ थाहरुशाह ने किया।[597]

जैसलमेर का जैन धर्म का गढ़ विक्रमपुर (अभी बीकमपुर) प्राचीन समय से था। विशेषकर खरतरगच्छ का यहां प्रभुत्व रहा। इस गच्छ के आचार्यों ने समय-समय पर इस तीर्थ की यात्रा की और विभिन्न कार्यक्रम किए। 1111 ई॰ में जिनवल्लभ सूरि ने विक्रमपुर की यात्रा की।[598] जिनपति सूरि का जन्म 1153 ई॰ में इस स्थान पर हुआ। उसके साधु होने की दीक्षा 1160 ई॰ में हुई और 1166 में उसे यहाँ पट्ट पर बैठाया गया।[599] उसने अनेक लोगों को समय-समय पर साधु होने की दीक्षा दी। उसने 1175 ई॰ में भांडागारिक गुणचन्द्र गणि के स्तूप का प्रतिष्ठा समारोह किया।[600] अणहिलपट्टन से 1185 ई॰ में जिनपति सूरि के साथ अभयकुमार द्वारा तीर्थों को ले जाये गये संघ में इस स्थान के श्रावक सम्मिलित हुए। लोदोर्व के नष्ट होने पर जैसलमेर को राजधानी बनाया गया। 1283 ई॰ में जिन प्रभोद सूरि ने जैसलमेर की यात्रा की। उसका कर्णसिंह द्वारा

594. वही, सं॰ 103.
595. वही, सं॰ 304.
596. *ना॰जै॰इं॰*, III, सं॰ 2543.
597. वही, सं॰ 2544.
598. *खरतरगच्छ बृहद गुरुवावली*, पृ॰ 13.
599. वही, पृ॰ 24.
600. वही, पृ॰ 34.

सेना के साथ हार्दिक स्वागत किया गया। उसकी प्रार्थना पर सूरिजी ने अपना चातुर्मास यहां बिताया।[601] आचार्य जिनराज सूरि के उपदेश से चिंतामणि पार्श्वनाथ का मन्दिर 1416 ई० में राजा लक्ष्मणसिंह के राज्य में यहां बनवाया गया।[602] लोदोर्व से लाई हुई पार्श्वनाथ की मूर्ति इस मन्दिर में रखी गई। निर्माण होने के पश्चात् इस मंदिर का नाम लक्ष्मणविलास रखा गया। इससे राजा के प्रति लोगों के अनुराग का पता चलता है जिनके राज्य में जैन धर्म निश्चित उन्नत हुआ होगा।

लक्ष्मण का उत्तराधिकारी वयरसिंह था। 1436 ई० में पासड ने अपने परिवार के सदस्यों के साथ उसके राज्य में चिन्तामणि के मन्दिर में सुपार्श्वनाथ की मूर्ति विराजमान की।[603] साह हेमराज और पूना ने उसके राज्य में 1437 ई० में संभवनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया।[604] अभिषेक से सम्बन्धित उत्सव 1440 ई० में हुआ जब जिनभद्र ने संभवनाथ की तीन सौ मूर्तियां व अन्य विराजमान की, राजा वयरसिंह ने भी इन उत्सवों में भाग लिया। उसके राज्य में साह लोला ने अपने परिवार के सदस्यों के साथ पार्श्वनाथ की मूर्ति कायोत्सर्ग-मुद्रा में 1440 ई० में स्थापित की।[605]

चाचिगदेव वयरसिंह का पुत्र था। वह करीब 1448 ई० में राजा हुआ। उसके राज्य में सजाक,[606] सचोहराज[607] और सज्जा ने[608] क्रमशः नन्दीश्वर पट्टिका, शत्रुंजय गिरनारावतार पट्टिका और नंदीश्वर पट्टिका के अभिषेक समारोह जिनचन्द्र सूरि द्वारा 1461 में करवाया।

जैन धर्म ने देवकरण के राज्य में भी उन्नति की। सांखवालेचा गोत्र का खेटा और चौपड़ा गोत्र के पंचा ने 1479 ई० में उसके राज्य में दो मन्दिर क्रमशः शान्तिनाथ और अष्टापद के बनवाये।[609] इन दो समृद्ध व्यक्तियों में कुछ वैवाहिक सम्बन्ध थे। संघवी खेटा ने अपने परिवार के साथ शत्रुंजय, गिरनार और अन्य तीर्थों की बहुत बार यात्रा की। उसने संभवनाथ के मंदिर की प्रसिद्ध तप पट्टिका का अभिषेक समारोह किया। 1479 ई० में पाट्टन के धनपति ने उसके राज्य में शांतिनाथ बिम्ब की प्रतिष्ठा की और उसको

601. *खरतरगच्छ बृहद गुरूवावली*, पृ० 58.
602. *ना०जै०इं०*, III, सं० 2112.
603. वही, सं० 2114.
604. वही, सं० 2139.
605. वही, सं० 2145.
606. वही, सं० 2116.
607. वही, सं० 2117.
608. वही, सं० 2119.
609. *ना०जै०इं०*, III, सं० 2154.

पार्श्वनाथ के मन्दिर में स्थापित किया।[610] इस मन्दिर में 1479 ई॰ में हेमा[611] और भीमती[612] ने अपने समय में नरेन्द्रपट्टिका बनवायी। मरुदेवी की मूर्ति भी ऋषभ के मन्दिर में इस समय स्थापित की गई।[613]

जैन धर्म बाद में जैसलमेर के राजाओं के समय भी उन्नति करता रहा। भीमसेन के राज्य में 1593 ई॰ में संघवी पासदत्त द्वारा जिनकुशल सूरि की पादुका की स्थापना की गई।[614] पार्श्वनाथ मन्दिर के स्तंभ का अभिषेक समारोह 1606 ई॰ में हुआ।[615] 1615 ई॰ में कल्याणदास के राज्य में जिनसिंह सूरि ने जिनचन्द्र सूरि की पादुका बनवाई।[616] 1616 ई॰ में मंत्री टोडरमल ने उपासरा का द्वार बनवाया।[617] 1621 ई॰ में जिनसिंह सूरि ने जैसलमेर की यात्रा की, और लोदोर्व से लाई हुई चिंतामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति को लक्ष्मणविहार के मंदिर में रखकर उसका अभिषेक समारोह किया।[618] बुद्धसिंह के राज्य में गंगाराम ने अपने परिवार के साथ तत्त्व सुन्दरगणि के उपदेशों से मूर्तियों की प्रतिष्ठा की।[619] अरवैसिंह के राज्य में 1749 ई॰ और 1755 ई॰ में जिन उदैसूरि की पूज्य पादुका उसके शिष्यों द्वारा स्थापित की गई।[620]

मूलराज ने भी जैन धर्म को आश्रय दिया। 1768 ई॰ में जिनयुक्त सूरि के स्तूप का निर्माण किया गया।[621] संघ ने जिनचन्द्र सूरि के उपदेशों से जिनकुशल सूरि के स्तूप की स्थापना 1783 में की।[622] 1786 ई॰ में थंब पादुका की स्थापना की गई, और उसका अभिषेक समारोह पंडित रूपचन्द्र द्वारा मनाया गया।[623] पंडित श्री वर्धमान के अवशेषों पर

---

610. वही, सं॰ 2120.
611. वही, सं॰ 2404.
612. वही, सं॰ 2406.
613. वही, सं॰ 2400.
614. वही, सं॰ 2494.
615. वही, सं॰ 2495.
616. वही, सं॰ 2497.
617. वही, सं॰ 2447.
618. वही, सं॰ 2498.
619. वही, सं॰ 2501.
620. वही, सं॰ 2508 और 2509.
621. वही, सं॰ 2503.
622. वही, सं॰ 2502.
623. वही, सं॰ 2510.

1784 ई॰ में स्तंभ खड़ा किया गया।[624] समस्त संघ ने ऋषभनाथ का मंदिर बनवाया, और इसका प्रतिष्ठा समारोह पंडित रूपचन्द्र द्वारा 1804 ई॰ में किया गया।[625] 1818 ई॰ में जिनचन्द्र सूरि के अवशेषों पर स्तंभ खड़ा किया गया।[626]

मूलराज के पश्चात् गजसिंह राजा हुआ। इसके राज्य में जिन उदैसूरि आचार्य का दीक्षा समारोह संघ द्वारा 1819 ई॰ में हुआ।[627] जिनमहेन्द्र सूरि के उपदेशों से प्रभावित होकर गुमानचन्द, सवाइराम और मगनीराम ने अपनी पत्नियों, पुत्रों और पुत्रियों के साथ आबू, शिखरजी, आदि की 1834 ई॰ में यात्रा की, और उन्होंने वहां भोज, पूजा, दान और रथयात्रा उत्सव का आयोजन किया।[628] जगविशाल मुनि से प्रभावित होकर जिनहर्ष सूरि की टूटी हुई पादुका ओसवालों द्वारा मरम्मत की गई जिन्होंने इसका अभिषेक महारावल गजसिंह से करवाया।[629] 1840 ई॰ में संघवी गुमानमल ने अपने परिवार के सदस्यों के साथ व्यक्तिगत पुण्य हेतु अमर सागर के समीप जैन मन्दिर की मरम्मत करवाई और इसमें आदिनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की।[630] जिनचन्द्र के शिष्य जितरंगगणि की पादुका 1844 ई॰ में जिनमहेन्द्र सूरि द्वारा रखी गई।[631]

रणजीत सिंह का उत्तराधिकारी मूलराज था जिसके राज्य में जैन धर्म का पहले से अधिक उत्थान हुआ। जिनरंगगणि के उपदेशों से प्रेरित होकर संघ ने 1896 ई॰ में आदिनाथ के मन्दिर का निर्माण किया, और इसका प्रतिष्ठा समारोह मुनि डूंगरसी द्वारा कराया गया।[632] अमर सागर में स्थुंघ पादुका जिनमुक्ति सूरि द्वारा 1860 ई॰ में रखी गई, और इसका अभिषेक साहिबचन्द द्वारा किया गया।[633]

जोधपुर और बीकानेर में जैन धर्म

जोधपुर और बीकानेर के राठौड़ राजाओं के आश्रय में जैन धर्म खूब फला-फूला। उनके राज्य में मंदिरों का निर्माण हुआ, और उनमें मूर्तियां प्रतिष्ठित की गईं। राठौड़ राजा जैन

624. वही, सं॰ 2511.
625. वही, सं॰ 2575.
626. वही, सं॰ 2504.
627. वही, सं॰ 2504.
628. वही, सं॰ 2530.
629. वही, सं॰ 2585.
630. वही, सं॰ 2524.
631. वही, सं॰ 2499.
632. वही, सं॰ 2158.
633. वही, सं॰ 2542.

साधुओं के प्रति सम्मान रखते थे, और वे प्रायः उनके पास जाया करते थे। राजधानियों में आने के अवसर पर उनका राजकीय सम्मान होता था।

जसोल से पांच कि॰मी॰ की दूरी पर नगर में जैन धर्म लोकप्रिय था, जिस पर मल्लिनाथ के उत्तराधिकारियों का राज्य था। मल्लिनाथ जोधपुर की प्राचीन राजधानी खेड़ का शासक था। इस स्थान के राठौड़ राजा अपनी विचारधारा में उदार थे, और इसलिए जैन धर्म ने उनके राज्य में बहुत उन्नति की। जैन मंदिर बने, और उनकी मरम्मत की गई। 1459 ई॰ में रडुड़ के राज्य में मोदराज गणि की राय पर गोविन्दराज ने महावीर के मन्दिर को दान दिये।[634] राउल कुषकण के राज्य का ऋषभ के मन्दिर का 1511 ई॰ का लेख वीरमपुर के संघ द्वारा विमलनाथ के मंदिर में रंगमंडप को स्थापित करने का उल्लेख करता है।[635] शान्तिनाथ का मण्डप 1557 ई॰ में पूर्ण हुआ जब राउल मेघविजय राजा था।[636] 1580 ई॰ का लेख मंदिर की मरम्मत का उल्लेख करता है जब राउल मेघविजय राज्य कर रहा था और परम भट्टारक श्री हीरविजय सूरि महान् संत था जो अकबर की राजसभा में गया।[637] राउल तेजसिंह के राज्य में संघ ने शांतिनाथ के मंदिर की मरम्मत की।[638] ऋषभदेव के मंदिर का उल्लेख 1610 ई॰ में कुछ निर्माण का उल्लेख करता है जब राउल तेजसिंह राज्य कर रहा था और भट्टारक विजयदेव सूरि आचार्य था।[639] इस स्थान के जैन समुदाय ने महावीर के मंदिर में 1621 ई॰ में चतुष्किका का निर्माण राउल जगमाल के समय नाकोड़ा पार्श्वनाथ की कृपा से हुआ।[640] 1624 ई॰ में निर्गुण चतुष्किका के साथ तीन खिड़कियों का पार्श्वनाथ के मंदिर में निर्माण जैन समूह द्वारा हुआ जब राउल जगमाल राज्य कर रहा था।[641]

जोधपुर राज्य के राठौड़ राजाओं ने धार्मिक उदारता की नीति का अनुसरण किया जिससे उनके समय में जैन धर्म उन्नत हुआ। 1612 ई॰ में सूर्यसिंह के राज्य में वस्तुपाल ने अपनी पत्नी और पुत्र के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की।[642] भाभा, उसकी पत्नी, पुत्रों और पौत्रों ने कापड़ा में 1621 ई॰ में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की जब

---

634. वही, सं॰ 931.
635. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1911-12, पृ॰ 54.
636. वही.
637. वही.
638. वही.
639. वही.
640. वही.
641. वही.
642. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 773.

गजसिंह राज्य कर रहा था।[643] वह अभिलेख महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे इस तथ्य का पता चलता है कि सिरोही राज्य का यह हिस्सा इस समय जोधपुर के राठौड़ राजा के अधीन था। बहुत संभव है कि यह उनके अधीन हो गया हो। सूर्य सिंह ने सुरतान सिंह को जीत लिया। बिम्बों के अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि आदिनाथ, महावीर और पार्श्वनाथ के मंदिरों में जयमल्ल द्वारा 1626 ई॰ में नई मूर्तियाँ जालौर में गजसिंह के राज्य में विराजमान की गईं।[644] मेड़ता[645] और पाली[646] में 1629 ई॰ में उसके राज्य में प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की गईं। मेड़ता के बिम्ब के अभिलेख के अनुसार बाई पूर्नाम्न्या ने अपने पुत्रों के साथ सुमतिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। पाली की पार्श्वनाथ की मूर्ति से ज्ञात होता है कि जब गजसिंह राज्य कर रहा था और अमरसिंह उत्तराधिकारी था, यह स्थान चौहान राजा जसवंत के पुत्र जगन्नाथ के अधिकार में था। यह मूर्ति पाली के निवासी श्रीमाल जाति के दो भाई दुनिगर और भकर द्वारा बनाई गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पाली का चौहान राजा जगन्नाथ जोधपुर के राठौड़ राजाओं की अधीनता मानता था, और जैन धर्म को आश्रय देता था, व उसका राज्य इसके उत्थान का अवसर देता था।

1737 ई॰ में महाराजा अभयसिंह के राज्य में जब बख़्तसिंह ओर बैरीसाल मारोठ में राज्य कर रहे थे, सावों के मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा के विशाल समारोह का आयोजन रामसिंह द्वारा किया गया।[647] मंदिर का स्तंभ अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ऐसा ज्ञात होता है कि मारोठ स्वतंत्र इकाई नहीं था किन्तु जोधपुर के राठौड़ों के अधीन में आ गया था। अभयसिंह के पुत्र रामसिंह के राज्य में गिरधरदास ने बिलाड़ा में 1746 ई॰ में मंदिर बनवाया।[648] 1767 ई॰ में रथयात्रा का उत्सव उसके सामंत मेड़तिया राजपूत हुक्मसिंह के राज्य में आनन्दपूर्वक आयोजित किया गया जब भट्टारक विजयकीर्ति ने मारोठ की यात्रा की।[649]

बीकाजी ने अपने साथियों के साथ जोधपुर छोड़कर 1488 ई॰ में बीकानेर की स्थापना की। वह और उसके उत्तराधिकारियों ने जैन धर्म और उसके साधुओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। महाराजा रायसिंह जो अकबर का समकालीन था, जिनचन्द्र सूरि का

643. वही, सं॰ 981.

644. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1908-09, पृ॰ 55.

645. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 783.

646. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1907-08, पृ॰ 45.

647. मारोठ के मंदिर के स्तंभ अंकित लेख। मारोठ कुचामण से छः कि॰मी॰ दूरी पर स्थित है – संवत 1794 माहसुदी 13 अदीतवारे – प्रतिष्ठा करापिता.

648. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 937.

649. संवत 1824 की मीति. . . पंचायतकिया।

शिष्य हो गया। अपने मंत्री कर्मचन्द्र की प्रार्थना पर वह 1582 में अकबर से सिरोही की 1050 जैन मूर्तियां लाया जो तुरासन खां से लूटी गई थीं। इस प्रकार उसने उनको नष्ट होने से बचाया।[650] यह वास्तव में बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। तुरासन खां का संभवतः अकबर से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह एक स्थानीय हठधर्मी हो सकता है जो मूर्तियों को नष्ट करने में लग गया। कर्मचन्द्र ने लाहौर में जिनचन्द्र सूरि का युग प्रधान पदोत्सव का आयोजन किया जिसमें महाराज रायसिंह कुंवर दलपतसिंह के साथ सम्मिलित हुए और सूरिजी को अनेक धार्मिक ग्रंथ प्रस्तुत किये।[651] महाराज रायसिंह के जिनसिंह सूरि के साथ अच्छे सम्बन्ध थे जो जिनचन्द्र सूरि का पट्टधर था। उसके राज्य में हम्मीर ने अपने परिवार के सदस्यों के साथ 1605 ई॰ में नेमिनाथ की मूर्ति की स्थापना की।

कर्णसिंह 1631 ई॰ में राजा हुआ। जैन धर्म उसके राज्य में बढ़ता रहा। उसने जैन उपासना के निर्माण के लिए भूमि दान दी। महाराजा अनूपसिंह के जिनचन्द्र सूरि और जैन कविधर्मवर्धन के साथ घनिष्ठ और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध थे। राजा अनूपसिंह के अभिषेक समारोह पर कवि धर्मवर्धन ने राजस्थानी भाषा में स्तुति लिखी। राजा अनूप सिंह कला और साहित्य का बड़ा आश्रयदाता था। जिनचन्द्र और बीकानेर के अनेक राजाओं जैसे महाराजा अनूपसिंह, जोरावरसिंह, सज्जनसिंह और गजसिंह के मध्य पारस्परिक अनुरूपता थी। महाराजा सूरतसिंह 1765 ई॰ में राजा हुआ। वह जैन संतों का भक्त था। वह ज्ञान सागर को नारायण का अवतार माना करता था। उसने अनेक जैन उपासरों के निर्माण हेतु भूमि दान दी। वह दादा साहब के प्रति बड़ा सम्मान रखता था, तथा उसने दादाजी की पूजा के व्यय के लिए 150 बीघा भूमि दी।[652] उसका उत्तराधिकारी महाराजा रत्नसिंह 1828 ई॰ में हुआ। वह जैन साधुओं और जैन धर्म का लगातार सम्मान करता रहा।

जयपुर राज्य में जैन धर्म

जयपुर के कछवाह वंश के राजाओं के राज्य में जैन धर्म की उन्नति हुई। इन्होंने जैन धर्म को आश्रय दिया। करीब पचास जैनी राज्य के दीवान रहे, और उनकी संरक्षता में जैन ग्रंथों की विभिन्न प्रतियां तैयार की गईं, अनेक मन्दिर निर्मित हुए और मूर्तियों का अभिषेक समारोह मनाया गया। इसी समय जैन धर्म का जयपुर राज्य में बहुत से शक्तिशाली ठाकुरों की जागीरदारियों में उत्थान हुआ।

जयपुर राज्य मध्यकालीन युग में जैन धर्म का गढ़ बना रहा। 1536 ई॰ में कर्मचन्द

---

650. *बीकानेर जैन लेख संग्रह*, पृ॰ 27 (भूमिका).

651. वही, पृ॰ 7.

652. वही, 8-11, (भूमिका).

के राज्य में *भविष्यदत्त चरित्र* की प्रतिलिपि लिखवाई।[653] *पांडवपुराण*[654] और *हरिवंश पुराण*[655] की प्रतियां नेमिनाथ के मंदिर में 1559 ई॰ भारमल के राज्य में लिखवाईं। भारमल के पश्चात् भगवानदास राजा हुआ। उसके समय में *वर्धमान चरित्र* की प्रति मालपुरा में लिखवाई।[656]

जैन धर्म का उत्थान मानसिंह के राज्य में भी होता गया। उसके राज्य में *हरिवंश पुराण* की प्रति मालपुरा में आदिनाथ के मन्दिर में 1588 में तैयार की गई।[657] उसके समय खण्डेलवाल जाति के थानसिंह बिहार में पावापुर के लिए संघ ले गए। वहाँ उसने 1591 ई॰ में षोड़शकारणयंत्र की प्रतिष्ठा की।[658] एक विशाल स्तंभ पर 1605 ई॰ के लेख के अनुसार इस स्तंभ की स्थापना चंपावती (चाकसू) के भट्टारक चन्द्रकीर्ति द्वारा की गई।[659] *हरिवंश पुराण* की दो प्रतियां क्रमशः 1604 ई॰ और 1605 ई॰ में राजमहल[660] और संग्रामपुर[661] (आधुनिक सांगानेर) में उसके राज्य में लिखी गईं। 1607 ई॰ के अभिलेख के अनुसार बहुत सी मूर्तियों का अभिषेक समारोह का आयोजन मौजमाबाद में जेता ने अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ किया जब मानसिंह राज्य कर रहा था।[662]

जैन धर्म मिर्जा राजा जयसिंह के राज्य में भी उन्नति करता रहा। सम्राट् शाहजहां और राजा जयसिंह के समय का सांगानेर में दिगम्बर जैन गोदा के मन्दिर में एक पत्थर पर 1654 ई॰ का अंकित लेख है।[663] आम्बेर के जैन मन्दिर के लेख के अनुसार जयसिंह के मुख्यमंत्री खंडेलवाल जाति के मोहनदास ने आम्बेर में विमलनाथ का मंदिर बनवाया, और उसको स्वर्ण-कलश से सजाया। लेख इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख करता है कि

---

653. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 148.
654. वही, पृ॰ 126.
655. वही, पृ॰ 77.
656. वही, पृ॰ 170.
657. वही, पृ॰ 73.
658. संवत् 1648 वैशाख मास पावापुर नगरे श्री राजा मानसिंह श्री मूलसंघे भ. श्री चन्द्रकीर्ति गुरुपदेशात् खंडेलवाल साबड़ा गोत्रे सा॰ धनराज़ेन भा॰ सुहागदेवीनु पुत्र सा पधारथ तत सा हेमराज तत भा॰ हरसमदे पदार थ भा॰ पाटनदे राम तत भा॰ मीत्रा पुत्र सा सहसमल तत थानसिं नित्य प्रणमति.
659. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1927-28, सं॰ 11.
660. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 72.
661. वही, पृ॰ 72.
662. संवत 1664 वर्ष. . . जैसा नित्यंप्रणमति.
663. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1925-26, सं॰ 11.

जब महाराजाधिराज महाराजा जयसिंह सम्राट् के महान् सामंत के रूप में राज्य कर रहा था, महाराजा जयसिंह के मुख्यमंत्री ने इस मन्दिर में अतिरिक्त हिस्सा जोड़ा।[664]

सवाई जयसिंह जयपुर का प्रसिद्ध विद्वान् राजा हुआ है जिसके तीन जैन विद्वान् थे – रामचन्द्र छाबड़ा, राव कृपाराम और विजयराम छाबड़ा। इन राजनीतिज्ञों ने जैन धर्म के प्रसार हेतु बहुत प्रयत्न किये। रामचन्द्र ने जयपुर और रामगढ़ के मध्य शाहबाद में जैन मन्दिर बनवाया। उसका पुत्र किशनसिंह और स्वयं ने भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्ट समारोह में भाग लिया। इसका वर्णन नेमिचन्द द्वारा रचित भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की जकरी में है।[665] राव कृपाराम ने भी धार्मिक कार्यक्रमों में रुचि ली। उसने चाकसू में जैन मन्दिर बनवाया। जयपुर में चाकसू के चौक का विशाल मन्दिर भी उसके द्वारा बनवाया गया था। उसने अपने घर में पूजा के लिए चैत्य बनवाया था। इसके अतिरिक्त वह भट्टारक महेन्द्रकीर्ति पट्ट समारोह के उत्सव में सम्मिलित हुआ था। उसके सिर पर अभिषेक किया गया। यह पंडित अखैराम द्वारा रचित महेन्द्रकीर्ति की जकरी में लिखा है।[666] विजयराम ने *सम्यक्त्व कौमुदी* लिखवाई, और 1740 ई॰ में पंडित गोवर्धन को प्रस्तुत की।[667] *कर्म कांडसटीक* की प्रति उसके राज्य में लिखी गई।[668]

सवाई माधोसिंह के कठिनाई के समय में भी जैन धर्म का उत्थान होता रहा। उसके पिता के समान उसकी भी सेवा जैन राजनीतिज्ञों द्वारा की गई। बालचन्द छाबड़ा सवाई माधोसिंह का 1761 ई॰ में मुख्यमंत्री हुआ। उसके पहले श्यामराम नाम के असहिष्णु ब्राह्मण ने बहुत से जैन मन्दिरों को नष्ट किया। बालचन्द्र ने जैन धर्म में एक नूतन जीवन का संचार किया। उसने प्राचीन जैन मन्दिरों का पुनरुद्धार किया, और अनेक नये प्राचीन मन्दिर बनवाये। जयपुर में 1764 ई॰ में इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव बालचन्द्र के प्रयत्नों से मनाया गया, जिसका राज्य में बहुत प्रभाव था। राज्य ने इस उत्सव के लिए सहायता और सुविधाएँ दीं।[669] दीवान रतनचन्द साह ने जैन मन्दिर बनवाया और इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव में भाग लिया। नंदलाल ने जयपुर और सवाई माधोपुर में जैन मन्दिर निर्मित

664. वही, 1933-34, सं॰ 13.
665. संघ ही अजितदास जी आइया दीवाण रामचन्द्र किशनचन्दजी (जयपुर के पाटोदी के मंदिर, गुटका, सं॰ 189).
666. जयकार सबद उचारकरता कलश मस्तक ढालिया श्री रावकृपाराम जीनिज सुजस जगबिस्तारिया। (जयपुर का पाटौदी का मंदिर गुटका, सं॰ 189).
667. आमेर भंडार में प्रति.
668. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 7.
669. *वीरवाणी*, पृ॰ 29-30, इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव के लिए निमंत्रण विभिन्न स्थानों को भेजा। थाकै पूजाजी के अर्थि जो वस्तु चाहि जे सो ही दरबार सूं ले जाओ.

किये। उसने 1769 ई॰ में सवाई माधोपुर में पृथ्वीसिंह के राज्य में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की राय से बड़े पैमाने पर मूर्तियों का प्रतिष्ठा समारोह किया।[670] दीवान केशरीसिंह कासलीवाल ने जयपुर में रमणीय सिरमोरिया नाम का जैन मन्दिर बनवाया। कन्हैयाराम ने जयपुर में माधोसिंह के राज्य में वैद्यों का चैत्यालय नाम का जैन मन्दिर बनवाया।

बालचन्द्र के पुत्र रामचन्द्र छाबड़ा ने मुख्यमंत्री के रूप में जगतसिंह की सेवा की। उसका धर्म के प्रति झुकाव था। उसने अनेक तीर्थों का संघ निकाला। इसलिए उसको संघपति की उपाधि दी गई। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की राय पर उसने 1801 ई॰ में जूनागढ़ में यंत्र प्रतिष्ठा की।[671] इसी भट्टारक की शिक्षा पर उसने 1804 ई॰ में बड़े पैमाने पर जयपुर में मूर्तियों का अभिषेक समारोह किया।[672] बख्तराम भी जगतसिंह का दीवान रहा। उसकी धार्मिक विषयों में रुचि थी। उसने जयपुर के चौड़ा रास्ते में जैन मन्दिर बनवाया जो यति यशोदानन्दजी के नाम से जाना जाता है। उसने दुर्गापुरा में रोड़ के नाम से जैन मन्दिर बनवाया। यह नाम उसके मित्र के नाम पर दिया गया। चाकसू के समीप अनन्तपुरा में उसके द्वारा जैन मन्दिर बनवाया गया। यह वेतन के स्थान पर उसे जागीर में दिया गया।

जैन धर्म जयपुर राज्य के विभिन्न भागों में प्रसारित हुआ जिन पर छोटे सामंतों का राज्य था। 1694 ई॰ में विजयसिंह के राज्य में जोबनेर के जेसा ने अपने पुत्रों के साथ मूर्तियां विराजमान कीं।[673] 1653 ई॰ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि शाहजहां के राज्य में जब अर्जुन गौड़ मालपुरा में राज्य कर रहा था, संघी नाड़ा, भीखा, संभु और लालचन्द ने विशाल दशलक्षण-यंत्र की प्रतिष्ठा की।[674] यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि मालपुरा जो एक समय जयपुर के कच्छवाड़ा राजाओं के अधीन था, मारोठ के राजा अर्जुन गौड़ के नियंत्रण में आ गया।

रेवासा में भी जैन धर्म का अस्तित्व था। 1604 ई॰ के अभिलेख के अनुसार सम्राट् बादशाह अकबर और उसके अधीन कच्छवाह महाराजाधिराज रायसाल के राज्य में आदिनाथ के मन्दिर का निर्माण रायसाल के मुख्यमंत्री देवीदास के दो पुत्रों साहजितमल और उसके भाई नथमल द्वारा किया गया। देवीदास खंडेलवाल जाति का था। इसके

---

670. संवत 1826. . . प्रतिष्ठा करापिता.
671. संवत 1858. . . यंत्रप्रतिष्ठाकरापिता.
672. संवत 1861. . . नित्यप्रणमति.
673. संवत 1751. . . प्रतिष्ठा करापिता.
674. संवत 1710. . . वर्तमान जिनशासन.

अतिरिक्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह मन्दिर मूलसंघ के यशकीर्ति की आज्ञा से बनाया गया था।[675]

अकबर के समय बैराठ उसके अधिकारी इन्द्रराज द्वारा शासित था। पार्श्वनाथ के मंदिर की दीवार पर 1587 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि श्रीमाल बनिया ने इस मन्दिर को निर्मित किया जो महोदय प्रासाद और इन्द्रविहार दोनों नामों से जाना जाता है, और इसे विमलनाथ को समर्पित कर दिया।[676]

जैन धर्म का अस्तित्व टोडाराय सिंह के राज्य में भी था जिस पर सोलंकियों का राज्य था। टोडाराय सिंह का प्राचीन नाम तक्षकगढ़ था। 1536 ई॰ में संघवी कालु ने सोलंकी राजा सूर्यसेन के राज्य में उणियारा के समीप आवा में मूर्तियों का अभिषेक समारोह मनाया।[677] *यशोधर चरित्र* की दो प्रतियां अलग-अलग 1553[678] ई॰ और 1555 ई॰[679] में लिखी गईं जब राव रामचन्द्र टोडाराय सिंह में राज्य कर रहा था। 1607 ई॰ में नानु ने इस स्थान के आदिनाथ के मन्दिर में *आदिनाथ पुराण* की प्रति लिखवाई[680] जब महाराजा जगन्नाथ शासन कर रहा था। इस नगर के राजा राजसिंह के मंत्री वादिराज ने *वाग्भट्टालंकारावचूरि कविचन्द्रिका* 1672 ई॰ में लिखी।[681]

प्राचीन समय में चाकसू भी जैन धर्म का केन्द्र था। ग्रंथ जैसे *सम्यक्त्व कौमुदी*[682] 525 ई॰ में, *राजवार्तिक*[683] 1525 ई॰ में, *चन्द्रप्रभ चरित्र*[684] 1526 ई॰ में, *षट्पाबुव*[685] 1537 ई॰ में और *उपासकाध्ययन*[686] 1556 ई॰ में यहां लिखी गईं। इन ग्रंथों की प्रशस्तियां ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। *चन्द्रप्रभ चरित्र* की प्रशस्ति से यह जाना जाता है कि चाकसू राणा संग्राम सिंह के अधीन था और टोडा रायसिंह का सामंत राव रामचन्द्र वहाँ शासन कर रहा था। बाद में यह मेड़ता के राठौड़ के राजा वीरमदे के नियंत्रण में आया

675. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1934-35, सं॰ 11.
676. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1909-10, पृ॰ 44-45.
677. *वीरवाणी*, 6, पृ॰ 109-10.
678. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 168.
679. वही, पृ॰ 163.
680. वही, पृ॰ 89.
681. *जै॰ग्रं॰प्र॰सं॰*, सं॰ 141.
682. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 63.
683. वही, पृ॰ 64.
684. वही, पृ॰ 99.
685. वही, पृ॰ 175.
686. वही, पृ॰ 94.

जैसाकि *षट्पाहुड़* की प्रशस्ति से ज्ञात होता है। अंत में उसके राज्य में लिखी *उपकेशकाध्ययन* से जान पड़ता है कि राजा भारमल ने यहां राज्य करना शुरू कर दिया।

1726 ई॰ का अभिलेख उल्लेख करता है कि चूहड़सिंह के राज्य में हृदयराम ने जयपुर के समीप बांसखोह में मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। चूहड़सिंह इस स्थान का साधारण शासक प्रतीत होता है।[687]

अलवर में जैन धर्म

जैन मूर्तियों और जैन स्मारकों की ग्यारहवीं व बारहवीं सदी के लेख अजबगढ़,[688] नौगामा,[689] राजगढ,[690] आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनसे ज्ञात होता है कि जैन धर्म का पूर्व मध्यकाल में इस क्षेत्र में अस्तित्व था जब यह गुर्जर-प्रतीहारों द्वारा शासित था। इसके पश्चात् खानजादों के राज्य में भी जैन धर्म का सम्बन्ध पन्द्रहवीं व सोलहवीं सदी में इस क्षेत्र से रहा। ये खानदाजा मूल में हिन्दू थे किन्तु फिरोज़ तुगलक के राज्य में चौदहवीं सदी में इस्लाम के अनुयायी बना लिये गये। वे स्वभाव से उदार थे और जैन धर्म के प्रति सम्मान रखते थे।

अलवर मध्यकाल में एक तीर्थ-स्थान हो गया, और यहां बहुत से यात्री दर्शन के लिए आते थे। मध्यकालीन रचित *तीर्थमालाओं*[691] में इसका रावण पार्श्वनाथ तीर्थ के रूप में वर्णन किया गया है। इसका अर्थ है कि रावण ने इस स्थान पर पार्श्वनाथ की पूजा की। इसलिए यह रावण पार्श्वनाथ तीर्थ कहा जाने लगा। यह सब पौराणिक है किन्तु इससे अलवर का धार्मिक केन्द्र के रूप में महत्त्व का पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अलवर के समीप पारानगर नाम का जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ से निकला है। चूंकि पारानगर के आसपास बहुत से जैन अवशेष हैं, यह संभव हो सकता है कि इसका सम्बन्ध प्राचीन समय में पार्श्वनाथ तीर्थंकर से हो।

मध्यकाल में अलवर जैन तीर्थ होने के कारण कई जैन विद्वान् और साधु यहां पर रहते थे और साहित्यिक गतिविधियां करते थे।[692] कुछ ग्रंथ जैसे *मौन एकादशी स्तवन* साधुकीर्ति द्वारा 1567 ई॰ में, *विदबध मुखमंडनवृत्ति* शिवचन्द्र द्वारा 1642 ई॰ में, *देवकुमार चौपाई* लालचन्द द्वारा 1625 ई॰ में, और *महीपाल चौपाई* विनयचन्द्र द्वारा 1821 ई॰ में

687. संवत 1786. . . प्रतिष्ठा करापिता.
688. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1918-19, सं॰ 4, 9 और 10.
689. वही, 1919-20, सं॰ 3, 4.
690. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰*, 20, पृ॰ 124.
691. *जैन सत्य प्रकाश*, 10, पृ॰ 99.
692. *अरावली*, I, सं॰ 12.

अलवर में रची गईं। ग्रंथों की कुछ प्रतियां जैसे *हंसदूत, लघु संघत्रयी* 1543 ई॰ में और *लघु-क्षेत्र समासवृत्ति* 1546 ई॰ में अलवर में तैयार की गईं। तिजारा[693] और बहादुरपुर[694] ग्रंथों की अनेक प्रतियां पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में खानजादों के राज्य में लिखी गईं।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में खानजादों के राज्य में मन्दिरों का निर्माण हुआ और मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। 1516 ई॰ के जैन अभिलेख[695] में उल्लेखित है कि श्रीमाल संघ ने बहुद्रव्यपुर में आदिनाथ चैत्य का निर्माण करवाया, और आचार्य पुण्यरत्न सूरि ने प्रतिमा विराजमान की। 1531 ई॰ में अलवर का रहने वाला उपकेश जाति के श्रावक सिद्ध सूरि से सुमतिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई गई।[696]

काष्ठ संघ के भट्टारक भूषण ने इस स्थान पर 1619 ई॰ में मूर्ति प्रतिष्ठा समारोह किया।[697] अलवर के जैन मन्दिर की दीवार पर अंकित 1628 ई॰ का अभिलेख रावण पार्श्वनाथ के मंदिर के निर्माण का उल्लेख करता है। इसकी मूर्ति का अभिषेक ओसवाल जाति के हीरानन्द द्वारा हुआ प्रतीत होता है। हीरानन्द मूल में देहली का था और बाद में आगरा में बस गया था।[698]

---

693. *श्रीप्रशस्ति संग्रह,* पृ॰ 96, 108, 115, 125.
694. वही, पृ॰ 35, 54.
695. *आ॰स॰इं॰रि॰,* 20, पृ॰ 119.
696. *ना॰जै॰इं॰,* सं॰ 1464.
697. *भट्टारक संप्रदाय,* सं॰ 686.
698. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰,* 1919-20 सं॰ 15.

7

जैन साधु, राजनीतिज्ञ और श्रावक

आदर्श जैन साधुओं, विश्वस्त राजनीतिज्ञों और समर्पित श्रावकों के कारण जैन धर्म भारत में फला-फूला, और इसका अस्तित्व भी रहा। जैन साधु केवल विद्वान् ही नहीं थे अपितु उच्च चरित्रवान भी थे। जो कुछ भी प्रचार करते थे, वे उनका जीवन में पालन करते थे। वे नैतिकता का प्रचार करते थे, पाखंडों का नहीं। वे जैन धर्म के प्रचार हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे। वे लोगों की भाषा में प्रचार करते थे। चूंकि ये साधु निरन्तर भ्रमण करते थे और जीवन-सम्बन्धी विवरण के बारे में मौन थे, उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। कुछ जैन राजाओं और सम्राटों के ईमानदार राजमर्मज्ञ रहे। वे सच्चे और स्वामीभक्त थे। वे प्रायः अपने कर्त्तव्यों को करने में सच्चे थे। कुछ श्रावक समृद्ध थे और अपने धर्म के प्रति समर्पित थे। उन्होंने मन्दिर बनवाये और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। वे तीर्थों के लिए संघ ले गये। साधुओं के ज्ञानार्थ ग्रंथ भेंट देने हेतु प्रतियां तैयार करवाईं। वे इतने अधिक प्रबुद्ध थे कि मुनियों पर भी नियंत्रण रखते थे यदि वे जैन धर्म के सिद्धांतों की अवेहलना करते थे।

जैन साधु

कुंदकुंदाचार्य

कुंदकुंदाचार्य का जैन धर्म के इतिहास में अद्‌भुत स्थान है। वह मूल संघ और उसकी आम्नाय (कुंदकुंदान्वय) का संस्थापक माना गया है। तदनन्तर इसकी अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ दूर तक फैल गईं। दिगम्बर संप्रदाय के साधु अपनी आध्यात्मिक आम्नाय को कुंदकुंद से सम्बोधित कर गौरवान्वित होते थे। तीन मुख्य संघ इस अन्वय के नाम से जाने जाते हैं।

वह जैन ग्रंथों की उच्चता स्थापित करने के लिए भी प्रसिद्ध है। समस्त भारत क्षेत्र में वह लोकप्रिय हुआ। बाद के लेखक उसके बड़े ऋणी हैं, और उसके कुछ ग्रंथ बाद

की टीकाओं के लिए उद्धरण हेतु दुधारु गाय सिद्ध हुए हैं। उसका *समयसार* बिना किसी भेदभाव के सब जैनियों द्वारा समर्पित भावना से अध्ययन किया जाता है।[1]

जहां तक कुंदकुंद के स्थायी निवास-स्थान का प्रश्न है, इसमें कोई संदेह नहीं कि वह दक्षिण का रहने वाला था। उसका वास्तव में नाम कोंडकुंद द्रविडियन ज्ञात होता है, जो कन्नड़ नगर व ग्राम के नाम जैसा जान पड़ता है। बाद के लेखक विशेषकर उल्लेख करते हैं कि वह कोंडकुंद नगर का रहने वाला था। अब भी गुंठकल रेलवे स्टेशन से 8 कि॰मी॰ की दूरी पर इस नाम का गांव है जिसका सम्बन्ध कुंदकुंद के जीवन से रहा है। समीप की गुफा में वह तपस्या किया करता था।

कुंदकुंद की तिथि एक बाधक समस्या रही है। विद्वानों का प्रायः कहना है कि कुंदकुंद पहली सदी का रहने वाला है। पर यह बताना भी असंभव है कि वह दूसरी सदी ई॰ में रहता था। कुंदकुंद के साथ छः आचार्य क्रम से 466 ई॰ के ताम्रपत्र अभिलेख में उल्लेखित हैं।[2] यदि हम आचार्यों का समय 150 वर्ष लेते हैं, तो पहले आचार्य गुणचन्द्र का समय करीब 316 ई॰ होगा। गुणचन्द्र कुंदकुंद का वास्तव में शिष्य नहीं था, केवल उसकी परम्परा का था। इसलिए कुंदकुंद कम-से-कम गुणचन्द्र के 100 वर्ष पहले, दूसरी सदी में रहता था।[3] बाद के ग्रंथों और अभिलेखों में कुंदकुंद का उल्लेख बहुत से नामों से हुआ है। अभिलेखों में साधारणतः उसका नाम कोण्ड-कुंद मिलता है। कुंदकुंद उसी का संस्कृत नाम है। देवसेन (933 ई॰) और जयसेन (150 ई॰) उसका पदमनंदि के रूप में उल्लेख करते हैं। चौदहवीं सदी व बाद के बहुत से अभिलेखों में भी उसके उल्लेख मिलते हैं। वह वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ और एलाचार्य के नामों से जाना जाता है।

कुंदकुंद के जीवन के बारे में कुछ निश्चित मुख्य परम्परा के तथ्य हैं।[4] कुंदकुंद मूल जैन संघ के श्वेताम्बर और दिगम्बर विभाजन के पश्चात् हुआ। वह भद्रबाहु का शिष्य था। श्रुतावतार के आधार पर कुंदकुंदपुर के पदमनंदि ने परम्परा से सिद्धांतयुक्त कर्म और कषाय-प्राभृत का ज्ञान प्राप्त किया, और उसने आधे *षट्खंडागम* पर विशाल टीका लिखी। जयसेन और बालचन्द्र के आधार पर वह पल्लव वंश के शिवस्कन्द महाराज का समकालीन कहा जाता है। वह तमिल क्लासिक *कुरूज* का लेखक है।

जहां तक दिगम्बर साहित्य परम्परा का सम्बन्ध है, समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कुंदकुंद के समय लुप्त हो गए। दिगम्बर जैन समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने

1. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 120.
2. *जै॰शि॰*, सं॰ 95.
3. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 69.
4. ए॰ एन॰ उपाध्ये द्वारा संपादित *प्रवचनसार*.

पूर्व आचार्यों के परम्परागत ज्ञान के आधार पर ग्रंथ लिखे। कुंदकुंद के ग्रंथों की परम्परागत शैली इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि उसके ग्रन्थों और श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में कुछ सामान्य पद मिलते हैं। प्राचीन समय में इन्हें दोनों का सामान्य ज्ञान था। इस कारण दोनों को स्वतंत्र रूप से सुरक्षित रखा। कुंदकुंद के उपलब्ध प्रसिद्ध ग्रंथ हैं 1. *समयसार*, 2. *प्रवचनसार*, 3. *पंचास्तिकायसार*, 4. *नियमसार*, 5. *रयणसार* 6. *अष्टपाहुड*, 7. *बारस-अणुवेरवा*, 8. *देशभक्ति और* 9. *मूलाधार*।

उमास्वामी

उमास्वामी *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* का प्रसिद्ध लेखक था। वह जैनियों द्वारा बहुत सम्मानित है। *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* जैन दर्शन का एक मौलिक ग्रंथ है। इसे मोक्ष-शास्त्र भी कहा जाता है। जैन धर्म में इसका उच्च स्थान है। यह संस्कृत में पहला जाना हुआ ग्रंथ है। इसमें 357 सारपूर्ण सूत्र हैं जो दस अध्यायों में विभाजित हैं। तत्त्वार्थ पर उपलब्ध सबसे प्राचीन टीकाएँ प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों की हैं जैसे पूज्यपाद (पाँचवीं सदी), अकलंक (सातवीं सदी) और विद्यानंद।

साहित्य और अभिलेखों में उमास्वामी का उल्लेख हमेशा कुंदकुंद के पश्चात् और समन्तभद्र के पहले हुआ है। दिगम्बर अनुश्रुतियों के अनुसार उसका सम्बन्ध नंदि संघ के कुंदकुंदान्वय से था। संघ की पट्टावली सूचित करती है कि वह 44 ई॰ में कुंदकुंद के बाद हुआ। कभी-कभी उसे कुंदकुंद का शिष्य और कभी कुंदकुंद आम्नाय में जन्मा व कभी इसका साधु बतलाया गया है। कुंदकुंद के ग्रन्थों और आगम ग्रन्थों का प्रभाव तत्त्वार्थ पर देखा जाता है। उसके ग्रंथ में पाया जाने वाला अन्तिम पद और अभिलेख गृद्धपिच्छ का उल्लेख करता है जो उमास्वामी का उपनाम है।[5]

श्वेताम्बर उमास्वामी को उमास्वाति के नाम से जानते थे। श्वेताम्बरों के अनुसार लेखक ने *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र* पर टीका भी लिखी है, किन्तु दिगम्बर इस भाष्य की प्रामाणिकता से इंकार करते हैं। श्वेताम्बरों को इस टीका की जानकारी सातवीं सदी के आरम्भ तक थी यदि इससे पहले नहीं तो। सिद्धसेन गणि (करीब 600 ई॰) और हरिभद्र (आठवीं सदी का मध्य) दोनों इस भाष्य को जानते थे। इस भाष्य के अंत की प्रशस्ति के अनुसार उमास्वाति उच्छ नागरी शाखा का साधु था, जो कोडिय (कोलिदय गण) की शाखा थी, और जैसाकि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह मथुरा क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय था। इसी भाष्य से अतिरिक्त जानकारी यह मिलती है कि वह रचना के समय कुसुमपुर व पाटलिपुत्र का निवासी था। वह कौभीषणि गोत्र का ब्राह्मण था। उसके पिता का नाम स्वाति था और माता वात्सी थी। दीक्षा की दृष्टि से उसके गुरु का नाम घोषनंदि क्षमाश्रमण था

5. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 134-36.

और उसके गुरु का गुरु वाचक मुख्य शिवश्री था। शिक्षा की दृष्टि से उसका आचार्य वाचकाचार्य मूल था और गुरु का गुरु महावाचक मुंडपाद था। यह संदेहास्पद लगता है कि उमास्वाति ने *तत्त्वार्थादिगमसूत्र* पर भाष्य लिखा और अंत में प्रशस्ति।[6]

समन्तभद्र

समन्तभद्र जैन साहित्य के महान् विद्वानों में से एक हैं। वह प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् था, और समस्त भारत में जैन धर्म का बड़ा प्रचारक था। वह स्यादवाद सिद्धांत पर बहुत रोचक तथा प्रामाणिक विश्लेषण करने वाला पहला लेखक था, और भक्ति की प्रार्थनाओं का पहला रचयिता (आद्यस्तुतिकार) था।

अन्य पूर्व लेखकों के समान समन्तभद्र अपने बारे में कुछ सूचना नहीं देता है। जो कुछ उसके बारे में जाना जाता है, वह अप्रत्यक्ष रूप में उसके ग्रंथों, उसके टीकाकारों के विचार और अनेक अभिलेखों (ग्यारहवीं-पन्द्रहवीं सदी) से एकत्रित किया जाता है। बाद के ग्रंथ जैसे *कथाकोष* और *राजावती कथा* भी उसके बारे में कुछ सूचना देते हैं।

उसके अन्य उपलब्ध ग्रंथ, जो कि शुद्ध संस्कृत में रचित हैं, निम्न हैं – *आप्तमीमांसा* या *देवागम स्तोत्र, युक्त्यानुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, जिनस्तुति शतक* व *स्तुति विद्या* और *रत्नकरंड श्रावकाचार*। उसका पहला ज्ञात टीकाकार अकलंक (लगभग 625-75 ई॰) है। उसके पश्चात् विद्यानंदि और अन्य हैं।

समन्तभद्र की तिथि पर बहुत विवाद है। समन्तभद्र की पारम्परिक तिथि संवत् 60 (138 ई॰) है, और बी॰ए॰ सालीटोर का कहना है, "इस परम्परा में विश्वास किया जा सकता है कि समन्तभद्र लगभग 120-185 ई॰ में रहता प्रतीत होता है"।[7]

समन्तभद्र के ग्रंथों में जैन साधुओं का वर्णन शुद्ध रूप से वनवासी संन्यासियों जैसा है जो लगभग 300 ई॰ के पहले जैसा लगता है। पारम्परिक दिगम्बर समन्तभद्र को पूज्यपाद के दो पीढ़ियों पहले रखता है। पूज्यपाद उत्तर पाँचवीं भद्री का माना जाता है। इस प्रकार यह विचार रखना ठीक प्रतीत होता है कि समन्तभद्र चौथी सदी के अंतिम चरण का है।[8]

राजबली कथे (1834 ई॰) से ज्ञात होता है कि समन्तभद्र तमिल था। उसका काँची से घनिष्ठ संबंध था। *कथाकोश* (ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं सदी) उसे काँची के नग्न संन्यासी के रूप में वर्णन करता है। काँची के अतिरिक्त उसका करहाट (आधुनिक करहड़) के

---

6. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 321.
7. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 148.
8. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 325.

प्राचीन राजाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो वनवासी के कदम्बों की प्राचीन और संभवतः पहली राजधानी थी।

अनुश्रुतियों के अनुसार समन्तभद्र का राजकीय शिष्य शिव कोटि था। शिव कोटि संभवतः कदंब का दूसरा राजा शिवस्कन्द श्री को छोड़कर अन्य नहीं था। उसका जैन धर्म के प्रति झुकाव जान पड़ता है। अनुश्रुतियों से पता चलता है कि उसने संभवतः कदम्ब राजा कंठ के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। वह शिवस्कन्द श्री और शिवस्कन्दवर्मन् के मध्य हुआ जान पड़ता है। (चन्द्रबलि के अभिलेख में मयूरवर्मन्-कदम्ब के पूर्वज का समय 258 ई॰ तीसरी सदी के पूर्व में है)।

समन्तभद्र का मूल नाम शांतिवर्मन् था जो संभवतः नागराजा का छोटा पुत्र था। इसकी पहचान उरगपुर (आधुनिक उरैपुर) आधुनिक तिरुचिनापली के राजा किल्लिकवर्मन् चोड़ से की जाती है। यह फणिमंडल व नागराजाओं के दक्षिण भारत संघ में है।[9] इस नाम के कारण संभवतः इसकी पहचान कदंब वंश के किसी शासक से की जा सकती है।

उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियों[10] का वर्णन पहली बार ग्यारहवीं सदी के प्रभाचन्द्र के *कथाकोश* में मिलता है। इस ग्रंथ में समन्तभद्र को काँची का नग्न संन्यासी बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त उसको *आराधना* के लेखक शिव कोटि का गुरु बतलाया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार उसने धर्म प्रचार हेतु अनेक स्थानों की यात्रा की, जैसे पुंड्रवर्धन, दशपुर, वाराणसी, पाटलिपुत्र, काँची, मालव, सिंधु, टक्क और कर्नाटक। ऐसा प्रतीत होता है कि समन्तभद्र भ्रमणशील साधु था और अपने विशाल ज्ञान और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण सबके द्वारा सम्मानित था।

शिवार्थ

शिवार्थ *आराधना* का लेखक है। *आराधना मूल-आराधना* व *भगवती आराधना* के नाम से भी जानी जाती है। यह एक महत्त्वपूर्ण और प्राचीन प्राकृत ग्रंथ है। यह जैन संन्यासियों के मुख्यतः आधार से सम्बन्ध रखती है। ऐसा माना जाता है कि यह जैन *कथाकोष* साहित्य का अंतिम स्तोत्र है। कथा साहित्य की जानकारी हरिषेण (931 ई॰), प्रभाचन्द्र (980 ई॰), श्रीचन्द्र (1066 ई॰), ब्रह्मदत्त, नेमिदत्त, रामचन्द्र, आदि की *कथाकोष* से होती है। इस ग्रंथ पर प्राकृत, संस्कृत और कन्नड़ में अनेक टीकाएँ लिखी गईं। सबसे प्राचीन उपलब्ध टीका *विजयोदयटीका* संस्कृत में अपराजित सूरि की है जो श्रीविजय (700 ई॰) के नाम से भी जाना जाता है।

---

9. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 146-47.
10. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 325.

लेखक पाणितल भोजी शिवार्थ अपने ग्रंथ के अंत में तीन आचार्यों के नाम लिखकर कुछ सूचना देते हैं – आर्य जिननंदि गणि, आर्य सर्वगुप्त और आर्य मित्रनंदि गणि। शब्द पाणितल भोजी स्पष्टतः दिगम्बर उपाधि है जिसका प्रयोग उनके संन्यासियों के लिए होता था। कुछ विद्वानों का सोचना है कि वह थोपनीय हो सकता है। अपने तीन गुरुओं के अतिरिक्त वह भद्रबाहु का उल्लेख करता है, जो बड़ा कष्ट होते हुए भी शांति से मरा। शिवार्थ द्वारा अपने गुरुओं के नामों के साथ उपसर्ग "आर्य" और प्रत्यय "गणि" का जो प्रयोग मिलता है, वह शुंग-शक-कुषाण काल के मथुरा के अभिलेखों के समान है। इससे पता चलता है कि लेखक उत्तर का रहने वाला है।

लेखक विशेष प्रकार की अन्त्येष्टि-क्रिया का वर्णन करता है। इससे पता चलता है कि शव को जंगल में खुले स्थान पर छोड़ दिया जाता था। पशु और पक्षी उसको खा जाते थे। यह प्रथा "ओरेइतल" जनजाति में प्रचलित थी जो हिन्दी-यूनानी काल में दक्षिण-पश्चिम सिंध में रहती थी।

यह संभव है कि *मूलाराधना* के लेखक शिवार्थ की पहचान श्वेताम्बर परम्परा के साधु शिवभूति से की जा सकती है। वह उत्तर का, संभवतः मथुरा का रहने वाला था और शायद कुछ समय के लिए सिंध में रहा थंा। वह उन दिनों के जैन साधुओं के उस संप्रदाय का था जिसने विभाजन को रोकने का प्रयत्न किया।

धरसेन

धरसेन[11] अंगों और पूर्वों के अंतिम ज्ञाताओं में एक था। वह प्रसिद्ध साधु और अष्टांग महानिमित्त का विद्वान् था। वह सुराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहता था। उसे भय था कि कहीं सुरक्षित पारम्परिक आगम साहित्य उसके साथ ही लुप्त न हो जाय। उसने दक्षिण-पंथ के आचार्यों को संदेश भेजा। आंध्र प्रदेश में वेण्या नदी के तट पर[12] स्थित वेणाकततिपुर व महिमानगर में मुनि सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने बाद में पुष्पदंत और भूतबलि नाम के दो साधु उसके पास भेजे। उनके पहुँचने पर धरसेन ने उनकी परीक्षा ली। उनकी योग्यता से संतुष्ट होकर उसने अपना सारा ज्ञान उसको दे दिया, और सबको लिखने को कहा। यह सब विषय महाकर्म प्राभृति कहलाया।

बाद में दोनों ने गुरु से अवकाश लिया, अंकुलेश्वर (आधुनिक भड़ोच) आए और चातुर्मास वहाँ बिताया। चातुर्मास पूरा होने पर जिनपालित, जो पुष्पदंत का भतीजा था, उनके पास आया। बाद में पुष्पदंत वनवासी देश को चला गया तथा भूतबलि द्रमिल देश

11. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 108-09, *पे॰जै॰प्राइ॰*, पृ॰ 70-71.

12. वही (फुटनोट-1), इस स्थान की पहचान सतारा जिले में संभवतः महिमा नगर से की जा सकती है.

की ओर। बाद में पुष्पदंत ने जिनपालित को संघ में दीक्षित किया। पहले बीस मुख्य सूत्रों की रचना की, धरसेन से प्राप्त आंशिक आगमज्ञान का संकलन किया और जिनपालित को ग्रंथ के साथ भूतबलि के पास भेजा। बाद में भूतबलि ने बचे हुए अधिकार ग्रंथ को पूरा किया। इसको छः मुख्य भागों में विभाजित किया गया, और बाद में यह *षट्खंडागम* सिद्धांत के नाम से जाना गया। इस कृति ने मुख्यतः 12वें अंग के पूर्व के विभाग अग्रायणी के पूर्व के पाँचवें वास्तु के चौथे प्राभृत के अन्य अंगों और पूर्वों के अंशों (खण्डों) के साथ निगमित या समाविष्ट किया। यह कृति श्रुतपंचमी को पूर्ण हुई थी। इसका उत्सव धार्मिक ग्रंथों या आगमों और सरस्वती देवी की पूजा कर मनाया गया।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार भूतबलि की पहचान सौराष्ट्र के शक-क्षत्रप नहपान से की जाती है। वह 26 ई॰ में सिंहासन पर बैठा प्रतीत होता है, और 40 वर्ष तक राज्य किया यानी 66 ई॰ तक। गौतमीपुत्र सातकर्णि से हारने के पश्चात् संसार की निःस्सारता जान उसने सिंहासन छोड़ दिया होगा, और जैन साधु हो गया। बाद में वह अपने प्रसिद्ध गुरु धरसेन द्वारा पढ़ाया गया और वयस्क साथी पुष्पदंत द्वारा निर्देशित किया गया। धरसेन के मिलने के कुछ समय पश्चात् भूतबलि का *षट्खंडागम* पूर्ण हुआ।

गुणधर

धरसेन के समान गुणधर नाम का एक अन्य साधु था जिसे आगम का आंशिक और बिखरा हुआ ज्ञान था, और *कषाय प्राभृत* पर विशेष अधिकार था जो द्वादश अंग का पाँचवां पूर्व, दसवां वस्तु और तीसरा पाहुड़ था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर आगम के अंश के विषयों को 180 मूल सूत्रों एवं 53 पूरक सूत्रों में संकलन किया गया और उसे लिपिबद्ध कर दिया गया। कुछ समय पश्चात् यह ग्रंथ आर्य मंकु के हाथों में आया जिससे यह नागहस्ति के पास चला गया। इसके पश्चात् यतिवृषभ को ये सूत्र प्राप्त हुए और इन पर उसने 6000 चूर्णि सूत्र लिखे।[13]

यतिवृषभ

यतिवृषभ ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक है। वह तीन विशिष्ट ग्रंथों का लेखक जान पड़ता है – गुणधर के कषायपाहुड पर *चूर्णि सूत्र*, कर्ण सूत्रों में गणित की विधियाँ और विश्वविद्या विषय पर पूर्व प्राकृत ग्रंथ *तिल्य पण्णिति*। यद्यपि यह मूलतः प्रकृति, सूरत, आकार और विश्व के विभाजन और उपविभाजन से सम्बन्ध रखता है। यह कभी-कभी जैन सिद्धांत, तीर्थंकरों और महापुरुषों के बारे में पौराणिक परम्पराओं और प्राचीन भूगोल और प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास जैसे वंशानुतिथिक्रम, शक राज्य

---

13. *जै.सो.हि.इं.*, पृ॰ 109.

की शुरुआत, सावंत और अन्य बातों की जानकारी भी देता है। इसी के साथ यह ग्रंथ प्राचीन समय में गणित विज्ञान के उत्थान के अध्ययन हेतु उपयोगी है। इस ग्रंथ में बहुत से पाठान्तर हो गये।

प्रश्न है कि यह मूल ग्रंथ से कितना मेल खाता है और लेखक की तिथि क्या है। विद्वान् जैसे प्रेमी, मुख्तार और उपाध्ये इस ग्रंथ और इसके लेखक को पाँचवीं सदी के अंत का समय देते हैं। फूलचन्द्र शास्त्री ने बताया है कि मूल ग्रंथ के आधार पर जिनसेन (837 ई॰) ने संभवतः बाद में संकलन किया।

यतिवृषभ का उच्च सम्मान किया जाता है और सातवीं सदी के बाद के विद्वानों द्वारा बहुत प्राचीन विद्वान् माना जाता है। उसके पूर्वज आर्यमुख और नागहस्ति दोनों सम्प्रदायों की अनुश्रुतियों में सम्मानित हैं। आर्यमुख को पहली सदी का समय दिया गया है। जबकि नागहस्ति को लगभग 100-150 ई॰ का बतलाया गया है। यतिवृषभ को नागहस्ति का अंतेवासी (साथी, अल्पवयस्क तुरंत बाद का शिष्य) के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार यतिवृषभ 150 से 180 ई॰ का प्रतीत होता है।[14]

पूज्यपाद देवनंदि

साहित्यिक तथा अभिलेखीय अनुश्रुतियां पूज्यपाद देवनंदि को समंतभद्र और अकलंक के मध्य रखती हैं (लगभग 625-75 ई॰)। उसका वास्तविक नाम देवनंदि था किन्तु वह सामान्यतः पूज्यपाद की उपाधि से जाना जाता है। वह प्रसिद्ध विद्वान् था और ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का ज्ञाता था। उसने अपने ग्रंथ उच्च संस्कृत में गद्य और पद्य में लिखे। वह कुंदकुंद आम्नाय के मूल संघ नंदि व देशीयगण का अपने समय में मुख्य आचार्य था। वह प्रायः संभवतः पहला जैन गुरु था जिसने धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त अपने आपको बहुमूल्य लौकिक ग्रंथों को लिखने में समर्पित कर दिया। वह एक बड़ा व्याकरण और आयुर्वेद का ज्ञाता था।

दक्षिण कर्नाटक में पश्चिम गंगों की राजधानी तल्कड़ विद्या का बड़ा केन्द्र था जिसका पूज्यपाद अध्यक्ष प्रतीत होता है।

पश्चिम गंग राजा दुर्विनीत पूज्यपाद का शिष्य और भक्त था। अविनीत कोंगिणि ने अपने पुत्र दुर्विनीत को सिंहासन पर बैठाने के पहले विद्वान् साधु पूज्यपाद को अपने पुत्र का गुरु नियुक्त कर दिया था। उसके पचास वर्ष के आचार्यात्वकाल से लंबी आयु का पता चलता है। उसकी तिथि 464-524 ई॰ निश्चित की जा सकती है। इस महान् विद्वान्

---

14. वही, पृ॰ 137-141.

के ज्ञात ग्रंथ हैं – *जिनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थ सिद्धि, दशभक्तत्यादि संग्रह, समाधि मंत्र, ईष्टोपदेश* और *संत्याष्टक*।[15]

सिद्धसेन दिवाकर

कुछ विद्वानों द्वारा सिद्वसेन दिवाकर[16] की पहचान क्षणक से की जाती है। अनुश्रुतियों के अनुसार वह विक्रमादित्य की सभा का नवरत्नों में एक रत्न माना जाता है। वह गुप्त काल में हुआ था जो अप्रत्यक्ष तथ्य से सिद्ध होता है। पूज्यपाद (पूर्व पाँचवीं सदी) ने इसका उल्लेख जिनेन्द्र में किया है। जैनियों में अनुश्रुतियों के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर ने विक्रमादित्य के समय उज्जैन के प्रसिद्ध महाकाल मंदिर में चमत्कार किया। वह दो प्रसिद्ध ज्ञात ग्रंथ *न्यायावतार* और *सन्मति तर्कसूत्र* का लेखक है। दोनों का सम्बन्ध तर्क से है। उसने उमास्वामी/उमास्वाति के प्रसिद्ध ग्रंथ पर टीका भी लिखी है। हमें पहली बार उसके *सन्मति-सूत्र* में ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन और जैन दृष्टि से उनकी समालोचना मिलती है।[17] जिनदास की सातवीं सदी की *आवश्यक चूर्णि* में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख है। हरिभद्र (आठवीं सदी) सिद्धसेन दिवाकर के दर्शन से भली-भांति परिचित था।

देवर्धिगणि क्षमा श्रमण

देवार्धिगणि क्षमा श्रमण एक महान् श्वेताम्बर जैन आचार्य था जिसने श्वेताम्बर विद्वानों की सभा वल्लभीनगर (गुजरात) में 457 ई॰ में बुलाई। इस सभा में समस्त आगम साहित्य का संकलन करके सुरक्षित किया गया। विद्धानों में, ग्रंथों के पाठान्तर में विभिन्न मत हैं। ग्रंथों की भिन्न-भिन्न वचनिकायें हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देवर्धिगणि ने संपादन का कार्य किया। जो ग्रंथ मौखिक थे उनको लिपिबद्ध कर दिया गया। संकलन द्वारा ज्ञान की सुरक्षा के प्रयत्न से देश की सांस्कृतिक उन्नति में एक नया अध्याय खुला। इसने निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्यवृत्ति और टीका के रूप में अपार साहित्य के निर्माण में प्रेरणा दी जो प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं और सांस्कृतिक स्थिति के अध्ययन हेतु लाभप्रद है। ऐसे संदर्भ हैं, जिनसे पता चलता है कि वल्लभी का आगम मूल नहीं है किन्तु इसमें अनेक परिवर्तन, अंतर्वेशन व स्थानापन्न हुए हैं। इसके उपरांत भी देवर्धिगणि द्वारा जैन आगम को सुरक्षित करने का प्रयास उल्लेखनीय है।[18]

---

15. वही, पृ॰ 153-161.
16. *को॰हि॰जै॰*, पृ॰ 327.
17. *जै॰सो॰हि॰इं॰*, पृ॰ 164.
18. वही, पृ॰ 152-53.

मानतुंग

मानतुंग प्रसिद्ध *भक्तामर* व *आदिनाथ स्तोत्र* का लेखक है। अनुश्रुतियों के अनुसार वह राजा हर्ष की सभा में मयूर और बाण (606-47 ई॰) का समकालीन था। हर्षवर्धन की सभा में मातंग को चांडाल कहा गया है, और संभवतः इसकी ठीक पहचान *भक्तामर स्तोत्र* के जैन लेखक मातुंग से की जाती है।[19] बृहदगच्छ की पट्टावली के अनुसार मानतुंग परमार वंश के राजा वैरीसिंह (939 ई॰) के मंत्री थे।[20]

अकलंक

भारतीय न्याय शास्त्र के इतिहास में अकलंक बड़े विद्वानों में से एक हैं। अधिकतर प्राचीन विचारकों जैसे वह भी अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ जानकारी नहीं देता है। प्रभाचन्द्र के *कथाकोश* में अकलंक का मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मंत्री के पुत्र के रूप में उल्लेख हुआ है। वादिराज और प्रभाचन्द्र से आरंभ के अनेक लेखक अकलंक की तर्क शैली और बौद्धों पर उसकी विजय का उल्लेख करते हैं। सबसे प्राचीन साधन स्रोत जो इस घटना का उल्लेख करता है, वह है बूतुग-द्वितीय राज्य का दसवीं सदी का अभिलेख। उत्तरकालीन जैन लेखक और अभिलेखों के लेखकों ने गर्व के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के *कथाकोश* के अनुसार अकलंक का आश्रयदाता शुभतुंग था, किन्तु *अकलंक चरित* साहसतुंग का उल्लेख करता है, जिसके राज्य में अकलंक ने बौद्धों को हराया। प्रभाचन्द्र अतिरिक्त सूचना देता है कि वाद-विवाद, हिमशीतल की सभा में हुआ जो वास्तव में शुभतुंग का समकालीन था। लेकिन *अकलंक चरित्र* का प्रमाण श्रवणबेलगोला अभिलेख सं॰ 67 से पुष्ट होता है। यह अकलंक के आश्रयदाता को साहसतुंग के रूप में उल्लेख करता है, जिसकी पहचान सामान्यतः दंतिदुर्ग (आठवीं सदी के मध्य) से की जाती है। अकलंक वास्तव में दंतिदुर्ग का समकालीन था, और आठवीं सदी के मध्य में रहा था। इसके अतिरिक्त भी सुझाव दिया जाता है कि अकलंक की अनुश्रुति का हिमशीतल की पहचान कलिंग के राजा के साथ की जानी चाहिए। चूंकि अकलंक बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों को जानता है जो सातवीं सदी में रहते थे, हम उसे आठवीं सदी में रख सकते हैं।

उसके *तत्त्वार्थ राजवार्तिक* के अतिरिक्त जो उमास्वाति के प्रसिद्ध ग्रंथ पर टीका है, अकलंक *अष्टशती* का प्रसिद्ध लेखक है। यह न्याय-शास्त्र से संबंधित दर्शन-शास्त्र का बहुमूल्य ग्रंथ है। यह समंतभद्र के *आप्तमीमांसा* की टीका है। उसका न्याय-शास्त्र का अन्य

---

19. *म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 469.

20. डी॰ देवभूति, *हर्ष पोलिटिकल हिस्ट्री*, पृ॰ 156.

ज्ञात-विख्यात ग्रंथ *न्याय विनिश्चय* है। उसके अन्य ग्रंथ हैं – *लघीयस्त्रयी प्रकरण, स्वरूप से बोधन, प्रायश्चित ग्रंथ* और *प्रमाण संग्रह*।[21]

हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि 705 और 775 के मध्य संभवतः रहने वाला प्रसिद्ध जैन विद्वान् राजस्थान में रहता था। उसका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में चित्रकूट अर्थात आधुनिक चित्तौड़ में हुआ था। वह जितारी नाम के राजा का पुरोहित था। इतिहास जितारी नाम के राजा के बारे में कुछ नहीं जानता। जन्म से ब्राह्मण होकर उसे ब्राह्मणों के दार्शनिक ग्रंथों की पूरी जानकारी थी। वह केवल साहित्यिक ही नहीं था अपितु तर्क-शास्त्र पर भी उसका अधिकार था। उसने संस्कृत और प्राकृत दोनों में लिखा। उसे बौद्ध तर्क-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। उसने दिण्णाग के *न्याय प्रवेश* पर प्रसिद्ध टीका लिखी।

कहा जाता है कि हरिभद्र जैन साध्वी से बहुत प्रेरित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उसने जैन धर्म को अपना लिया। उसको अपने गुरु द्वारा 1444 ग्रंथ लिखने को कहा गया। उसने तर्क-शास्त्र योग, धर्म और नैतिकता, आदि पर अनेक ग्रंथ लिखे। इनमें से केवल 50 ग्रंथ अभी उपलब्ध हैं। वह आगम पर संस्कृत का सबसे प्राचीन टीकाकार है और जैन तर्क-शास्त्र पर उसका योगदान महत्त्वपूर्ण है। उसने *अनुयोग द्वारा सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नंदि सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र,* आदि पर टीकायें लिखीं। आगमों पर टीकाओं के अतिरिक्त उसने *अनेकांत जय पताका* और *अनेकांतवाद प्रवेश* लिखे जिनमें उसने जैन दर्शन को प्रतिपादित किया किंतु प्रचलित दर्शनों की आलोचना भी की थी। उसने *योग बिन्दु* और *योग दृष्टि समुच्चय* लिखकर योग साहित्य में एक नये युग की शुरूआत की। *षड़दर्शन समुच्चय* में उसने विभिन्न प्रकार के दर्शनों का रोचक विश्लेषण किया। उसने प्राकृत में *धूतविख्यान, समरैच्चकहा* और *कथाकोश* लिखा। *समरैच्चकहा* में उसने जैन धर्म पर प्रकाश डाला है। उसके समय में जैन धर्म और बौद्ध धर्म में गहरी वैमनस्यता थी।

हरिभद्र सूरि ने चैत्यवासी संप्रदाय की बुराइयों के विरुद्ध बुलन्द आवाज उठाई। उसने जैन साधुओं को चैत्यों और मठों में रहते देखा। वे अपने धन को व्यक्तिगत भलाई हेतु प्रयोग करते थे। वे रंगीले और सुगंधी वस्त्र पहनते थे। वे साधुओं के द्वारा लाया हुआ खाना और मिठाई खाते थे। वे मूर्तियों को बेचते थे और बच्चों को अपने शिष्य बनाने हेतु खरीदते थे।[22]

---

21. *को.हि.जै.*, पृ. 328-29.

22. *पुरातन प्रबन्ध संग्रह,* पृ. 103-05, *प्रभावक चरित्र,* पृ. 183-212.

सिद्धर्षि

हरिभद्र के पश्चात् सिद्धर्षि प्रमुख साधु हुआ है। वह शुभंकर का पुत्र था। उसको दीक्षा दी गई और उसका नाम सिद्धर्षि रखा गया। उसने 106 ई॰ में *उपमितिभव प्रपंचा* कथा लिखी। संघ ने प्रसन्न होकर उसको व्याख्यानकार की उपाधि दी। बाद में उसने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया। बौद्ध उसके गहन अध्ययन और उसके चरित्र से इतने प्रभावित थे कि वे उसका बहुत सम्मान करते थे। समयोपरांत उसके गुरु ने उसको सूरि की उपाधि दी।

जिनेश्वर सूरि

जिनेश्वर सूरि का जैन धर्म में उच्च स्थान है। उनका पूर्व नाम श्रीधर था। वह और उसका भाई श्रीपति जाति के ब्राह्मण थे। वे धारा नगरी आये जहाँ वे समृद्ध व्यक्ति लक्ष्मीपति से मिले। उसने उनका वर्धमान सूरि से परिचय कराया। उनकी अगाध विद्वता से प्रभावित होकर वर्धमान सूरि ने उनको जैन धर्म में दीक्षा दी और इसका प्रचार करने का आदेश दिया।

चैत्यवासी संप्रदाय इस समय एक शक्तिशाली आंदोलन के रूप में खड़ा हो गया था। वास्तव में वर्धमान सूरि ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया और विधि मार्ग की स्थापना की। लेकिन जिनेश्वर सूरि ने अपने प्रयत्नों से इसके अनुयायियों को समुदाय में संगठित कर लिया और समस्त देश में इसका प्रचार हो गया। वह अणहिलपुर गया जहाँ चैत्यवासी बहुत शक्तिशाली थे। वह सोमेश्वर पुरोहित के मकान में ठहरा था। उसने पाटन में राजा दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के नेता सुराचार्य को हराया और खरतर की उपाधि प्राप्त की। उसने अणहिलपुर में विधि मार्ग से अपना संप्रदाय चलाया। बाद में यह खरतरगच्छ के नाम से जाना गया। बाद में इसकी प्रतिष्ठा पड़ोसी प्रदेशों में जैसे मारवाड़, मेवाड़, मालवा, बांगड़, सिंध और देहली में फैल गई और बहुत संख्या में श्रावक उसके समर्पित अनुयायी हो गये।

जिनेश्वर सूरि और उसका अनुज बुद्धिसागर सूरि सामान्यतः साथ-साथ रहते थे और भ्रमण करते थे। 1023 ई॰ में वे जाबालिपुर (जालोर) में थे जहाँ जिनेश्वर सूरि ने हरिभद्र की *अष्टक संग्रह* टीका लिखी और बुद्धिसागर ने *स्वोपज्ञ पंच ग्रंथी* पूर्ण की।

जिनेश्वर सूरि ने जैन धर्म में एक नया युग ला दिया और इसलिए वह "युग प्रधान" कहा जाने लगा। विधि चैत्य के नाम से नये मंदिरों का निर्माण हुआ। पूजाविधि में कुछ परिवर्तन आया। नये गच्छ, नई जातियाँ और नये गोत्र अस्तित्व में आये। मूल ग्रंथों में

पुनः संशोधन किये गये और बहुत सी टीकायें तैयार की गईं। उसके बड़ी संख्या में शिष्य थे जिसमें अभयदेव, जिनचन्द्र और जिनभद्र मुख्य थे।[23]

जिनवल्लभ सूरि

इसके बाद अन्य महान् जैन साधु जिनवल्लभ सूरि हैं जो आरंभ में चैत्यवासी संप्रदाय का अनुयायी था। पाटन में उसे विधि मार्ग के साधु अभयदेव सूरि के पास ग्रंथों का अध्ययन करने का अवसर मिला। इसके परिणामस्वरूप उसने चैत्यवासी संप्रदाय को त्याग दिया और विधि मार्ग अपना लिया। उसके आदेशों से उसके अनुयायियों ने विधि चैत्य के नाम से जैन मंदिरों को बनाया।

इस समय चैत्यवासी संप्रदाय के अनुयायी मेवाड़ में शक्तिशाली थे। उनके प्रभाव को कम करने के लिए जिनवल्लभ सूरि पाटन को छोड़कर चित्तौड़ आ गये, जहाँ उसने अनेक लोगों को जैन धर्मावलंबी बना लिया, और बहुत सी मूर्तियों और मंदिरों का अभिषेक समारोह करवाया। चित्तौड़ से वह धार आया। राजा ने उसको अपने महल पर बुलाया जहाँ उसने उसके उपदेशों को सुना। वह उसकी अद्भुत काव्य प्रतिभा से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसको तीन ग्रामों की जागीर और बहुत सारी मुद्रा दी। उसने किसी को भी स्वीकार नहीं किया किन्तु प्रार्थना की कि राजा दो खरतर मंदिरों की देखभाल के लिए चुंगीघर से दो परुत्थ द्रम्म प्रतिदिन प्रदान करें।

धार से जिनवल्लभ सूरि बागड़ आये जहाँ उसने अनेक लोगों को संबोधित किया। वह नागोर भी आया जहाँ नेमिजिनालय की प्रतिष्ठा उसकी देखभाल में हुई। चूंकि उसने अनेक लोगों को जैन बनाया, उसके लिए बहुत से गोत्र बनाना स्वाभाविक था।[24]

जिनदत्त सूरि

जिनदत्त सूरि भी एक महान् संत था जिसने जैन धर्म का प्रचार किया। उसका जन्म धवलकपुर में 1075 ई॰ में हूंबड जाति में हुआ था। उसके माता-पिता वाधिग और बाहड़देवी थे। उसका पूर्व नाम सोमचन्द्र था। उसका दीक्षा गुरु वाचकदेव भद्रगणि था, और उसको सोमचन्द्र मुनि नाम दिया गया। उसके तप और प्रतिभा से प्रभावित होकर धर्मदेवोपाध्याय ने उसे चित्तौड़ में 1112 ई॰ में आचार्य बना दिया और उसका नाम जिनदत्त सूरि रखा।

जिनदत्त सूरि अपने ज्ञान और धर्मानुराग के कारण राजस्थान और गुजरात के

---

23. *ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह,* पृ॰ 4, युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि पृ॰ 10, *खरतरगच्छ वृहद गुरूवावली.*
24. *खरतरगच्छ बृहद गुरूवावली, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह,* पृ॰ 14.

राजाओं द्वारा सम्मानित था। चालुक्य राजा कर्णराज और उसके पुत्र सिद्धराज उसका आदर करते थे। जिनदत्त सूरि अजमेर के चौहान राजा अर्णोराज के समकालीन था जो उसके स्थान पर जाकर जैन मंदिर के लिए अनुयायियों को ठीक भूमि देकर आचार्य का सम्मान करता था। उसने अनेक लोगों को जैन धर्मावलंबी बनाया, और बहुत से गोत्रों की स्थापना की। इसके अतिरिक्त यह कहा जाता है कि उसने 500 साधुओं और 700 साध्वियों को दीक्षा दी। जिनचन्द्र सूरि को अपने पट पर बैठाकर वह 1154 ई॰ में अजमेर में चल बसे। लोगों में लोकप्रिय होने के कारण वह दादाजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[25]

वादिश्रीदेव सूरि

देवसूरि का जन्म 1143 ई॰ में आबू पहाड़ के समीप मधुवती में प्राग्वाट जाति में हुआ। वह वीरनाग और जिनदेवी का पुत्र था। जब नगर में हैजा फैला, वीरनाग नगर को छोड़कर भड़ौच आ गया। देवसूरि का पूर्व नाम पूर्णचन्द्र था।

बचपन से ही पूर्णचन्द्र तेज बुद्धि का था। उसने जैन साधु को प्रभावित किया जिसने उसके पिता को अपने लड़के को उसको देने को कहा। उसे 1152 ई॰ में दीक्षा दी गई और उसका नाम रामचन्द्र रखा गया। थोड़े से समय में वह तर्क, लक्षण, प्रमाण और साहित्य में पारंगत हो गया और विद्वान् उसकी विद्वता की प्रशंसा करने लगे। उसने धवलकपुर, कश्मीर, साँचोर, चित्तौड़, गोपगिरि, धार और भड़ौच में हुए वाद-विवाद में विरोधियों को हराया। उसकी गहन विद्या से प्रभावित होकर गुरु ने 1174 ई॰ में उसको आचार्य के पट पर बिठाया और उसे देवसूरि का नाम दिया।

बाद में उदय के निमंत्रण पर देवसूरि धवलकपुर आया और सीमंधर स्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठा समारोह किया। वहाँ से वह तीर्थ यात्रा के लिए आबू पहाड़ आया। यात्रा करते हुए देवसूरि नागोर आया। इस स्थान के राजा अहिदान ने हृदय से उसका स्वागत किया। इसी समय गुजरात का राजा सिद्धराज नागोर को घेरना चाहता था, लेकिन जब उसे देवसूरि की उपस्थिति का पता चला, वह लौट गया। इसके पश्चात् उसने श्रीदेवसूरि को पाटन आमंत्रित किया और वहाँ उसको चार मास रखा।

श्रीदेवसूरि ने राजा सिद्धराज जयसिंह की सभा में कर्णाटक के प्रसिद्ध दिगम्बर जैन साधु कुमुदचन्द्र को वाद-विवाद में हराया। उसने 1147 ई॰ में पलवर्धिका (पलोधि) नगर में जैन मन्दिर को बनवाया और मूर्ति का प्रतिष्ठा समारोह किया। अरसन नगर में भी नेमिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।

---

25. *ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह,* पृ॰ 14, 16, 363, *खरतरगच्छ बृहद गुरुवावली.*

हेमचन्द्र

सबसे प्रमुख जैन साधु हेमचन्द्र हुआ है जिसके नेतृत्व में जैन धर्म बहुत फला-फूला। उसका जन्म अहमदाबाद जिले के धधुंक नगर में 1089 ई॰ में हुआ और नाम चाणदेव रखा गया। उसके माता-पिता श्रीमोढ़ जाति के चाचिग और पाहिणी थे, और वे दोनों जैन धर्म के मानने वाले थे। पाहिणी ने अपने पुत्र को देवचन्द्र नाम के साधु को सुपुर्द किया। परिस्थितियों के कारण चाणदेव ने संघ में प्रवेश किया। वे कुछ विचित्र हैं। देवचन्द्र लड़के को अपने साथ केम्बे ले गया जहाँ उसकी पहली बार दीक्षा पार्श्वनाथ के मन्दिर में 1093 ई॰ में हुई। इस अवसर पर प्रसिद्ध उदयन ने सामान्य उत्सव का आयोजन किया, और चाणदेव का नाम सोमचन्द्र हो गया। इस अवसर पर उसने दूसरी बार नाम बदल लिया, और अब हेमचन्द्र कहा जाने लगा।

हेमचन्द्र का आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज था जो उसकी गहन विद्वता से आकर्षित और प्रभावित था, और उसके उपदेशों को सुनता था। हेमचन्द्र ने कुमारपाल को सिंहासन पर बैठने में सहायता दी। उसने भविष्यवाणी की कि वह गुजरात का भावी राजा होने वाला है। इसी कारण से वह जैन धर्म का बहुत सम्मान करता था। कुमारपाल मूल में शैव धर्म का अनुयायी था किन्तु वह हेमचन्द्र द्वारा जैन धर्म में परिवर्तित कर लिया गया। उसके परिवर्तन के पश्चात् (जो 1159 ई॰ में हुआ) उसने गुजरात को एक आदर्श जैन राज्य बनाना चाहा। उसने व्यक्तिगत रूप से पशुओं का शिकार, मांस भक्षण, मदिरा का प्रयोग, जुआ और पशु-वध त्याग दिया। इसके अतिरिक्त उसने जैन मंदिर निर्मित करवाये और जैनियों को साहित्य और विज्ञान हेतु प्रोत्साहन दिया।

हेमचन्द्र कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से जाना जाता था, और इसको धारण करने में वह सक्षम था। वह कवि की अपेक्षा विद्वान् अधिक था। जैन साहित्य ने बारहवीं और तेरहवीं सदी में उसके प्रयत्नों से महत्त्वपूर्ण उन्नति की। संस्कृत साहित्य के लिए भी उसका योगदान उल्लेखनीय था। उसने व्याकरण, कोश रचना, पद्य-शास्त्र, छंद-शास्त्र, दर्शन और इतिहास पर लाभदायक और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे।

हेमचन्द्र की शिक्षा के प्रति सेवाएँ उतनी ही स्मरणीय हैं जितनी साहित्य के लिए। उसने अनेक शिष्यों को शिक्षित किया जिन्होंने संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं पर ग्रंथ लिखे। इन शिष्यों में प्रमुख हैं – रामचन्द्र, गुणचन्द्र, महेन्द्र सूरि, देवचन्द्र, वर्धमान गणि, उदयचन्द्र, यशोचन्द्र और बालचन्द्र।[26]

जिनकुशल सूरि

जिनकुशल सूरि सबसे लोकप्रिय जैन संत हैं और दादाजी के नाम से जाने जाते हैं।

26. *द लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य.*

उसका जन्म मारवाड़ में समियाणा ग्राम में 1280 ई॰ में हुआ था। उसका मूल नाम कर्मण था। 1290 ई॰ में उसने जिनचन्द्र सूरि से दीक्षा ली, और कुशलकीर्ति नाम रखा गया। उसको 1310 ई॰ में नागोर में जिनचन्द्र सूरि द्वारा वाचनाचार्य की उपाधि दी गई। जिनचन्द्र की 1319 ई॰ में मृत्यु हो गई, और सूरि की उपाधि जिनकुशल सूरि को पाटन में बड़ी धूमधाम से दी गई।

देहली के राजपति ने जिनकुशल सूरि की यात्रा की व्यवस्था की। वह कन्यानयन, नरहड़, फलोदी, मस्कोट, नागोर, मेड़ता, जालौर और श्रीमाल होता हुआ अंत में पाटन पहुंचा। संघ के सदस्यों ने जिनकुशल को अपने साथ ले चलने की प्रार्थना की। उसने अनुमति दे दी और पाटन से रवाना हुए। वह शत्रुंजय पहुँचा जहाँ उसने बहुत से धार्मिक कर्म किये। उसने *नूतन सूत्र* रचकर बिम्ब पूजा की। यशोधर और देवेन्द्र को उसके द्वारा दीक्षा दी गई। उसने नेमिनाथ की मूर्ति का प्रतिष्ठा समारोह किया। जिनपति सूरि और जिनेश्वर सूरि की मूर्तियों का अभिषेक समारोह भी उसके द्वारा किया गया। नन्दीश्वर महोत्सव के अवसर पर सुखकीर्ति गणि को वाचनाचार्य की उपाधि दी गई। बाद में वह संघ के साथ पाटन सकुशल लौट आया।

जिनकुशल सूरि के नेतृत्व में 1324 ई॰ में पाटन में वीरमहोत्सव पन्द्रह दिन तक बड़े आनन्द से मनाया गया। तीर्थंकरों और आचार्यों की मूर्तियां विभिन्न स्थान जैसे जालौर, देवराजपुर और शत्रुंजय भेजी गईं। तेजपाल ने पाटन में नंदीश्वर महोत्सव मनाया जिसमें सुमतिसार, उदयसार, जयसार और धर्मसुन्दरी को साधु बनाया गया। भीमपल्लि के प्रसिद्ध श्रावक वीरदेव ने जिनकुशल को पाटन से भीमपल्लि बुलाया और संघ के साथ शत्रुंजय चलने की प्रार्थना की। अनेक नगरों और ग्रामों को चलकर संघ शत्रुंजय पहुंचा। उसने भीमपल्लि के वीरचैत्य, जैसलमेर के चिंतामणि पार्श्वनाथ और जालौर के पार्श्वनाथ मंदिर का अभिषेक समारोह मनाया।

सिंध के श्रावकों ने जिनकुशल सूरि को धर्म प्रचार हेतु बुलाया। वह वहाँ भी पहुंचा और जैन धर्म की प्रेरणा हेतु अनेक समारोह जैसे प्रतिष्ठा, व्रतग्रहण, मूलारोपण और नंदी महोत्सव का आयोजन किया, और अपने धार्मिक उपदेशों से लोगों को प्रभावित किया। इससे लोगों में धार्मिक जागृति उत्पन्न हुई। उसने देवराजपुर में चातुर्मास किया जहाँ उसे तेज बुखार हुआ और 1352 ई॰ में उसकी मृत्यु हो गई।

जिनकुशल सूरि एक बड़ा विद्वान् था, और ज्ञान की विभिन्न शाखाओं जैसे व्याकरण, विधि, साहित्य, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष और मंत्र में पारंगत था। वह साहित्य में अधिक योगदान नहीं कर सका क्योंकि वह अन्य कार्यों में व्यस्त रहा। उसका इतना अधिक प्रभाव

था कि उसके सम्मान में ग्रामों, नगरों और तीर्थ-स्थलों में अनेक स्तुतियों, सूत्रों, पदों और छंदों की रचना की गई। स्वगच्छ, परगच्छ, स्थानकपंथी और तेरापंथी के लोग समर्पित भावना से उसकी पूजा करते हैं।[27]

हीरविजय सूरि

अकबर के समय सबसे महान् साधु हीरविजय सूरि था। वह जैनियों के तपागच्छ संप्रदाय का नेता था। उसका जन्म पालनपुर में हुआ था। वह बीसा ओसवाल जाति के कुमार और नाथी का पुत्र था। उसका मूलनाम हीरजी था। वह विजयदान सूरि द्वारा 1539 ई॰ में दीक्षित किया गया, और उसका नाम हरिहर्ष रखा गया। मुनि हरिहर्ष से शिक्षा प्राप्त कर वह न्यायिक ब्राह्मण से न्याय-शास्त्र सीखने दक्षिण में देवगिरि गया। उसने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का गहन अध्ययन किया।

दक्षिण से लौटकर विजयदेव सूरि ने 1551 ई॰ में उसे पंडित बना दिया। अगले वर्ष नाड़लाई में उसे उपाध्याय बना दिया गया। बाद में इसी वर्ष उसे सिरोही में सूरि बना दिया गया। इस अवसर पर धन्ना पोरवाल राणकपुर मंदिर के निर्माता, उत्तराधिकारी चागा ने महोत्सव को मनाया।

जब अकबर ने 1582 ई॰ में हीरविजय के उच्च्य गुणों और गहन विद्वता के बारे में सुना तो उसने गुजरात के वाइसराय को हीरविजय जी से मिलने का आदेश दिया और उसकी तरफ से सभा में आने की प्रार्थना की। वाइसराय के बुलावा आने पर हीरविजय सूरि अहमदाबाद गये जहाँ उसने राजकीय प्रतिनिधि से विचार-विमर्श किया। उसने सब प्रस्तुत किये हुए बहुमूल्य उपहारों को स्वीकार करने को मना कर दिया, और संघ के नियमों के अनुसार वह फतेहपुर सीकरी की लंबी यात्रा करने पैदल रवाना हो गये। बिलासपुर, महासन, पाटन, बरदी, सिद्धपुर और अन्य स्थान चलते हीरविजय मार्ग में सरतर ठहरे। इस स्थान पर भीलों का मुखिया अर्जुन रहता था। वह अपनी आठ पत्नियों के साथ सूरि जी के धार्मिक उपदेशों को सुनने आया था, और किसी भी निर्दोष जानवर का वध नहीं करने का व्रत ले लिया था। इसके पश्चात् वह आबू गया और सिरोही के राव सुरतान ने उसका स्वागत किया। उसने मदिरा, शिकार और मांस खाने से दूर रहने का व्रत लिया। इसके पश्चात् सागानेर, चाकसू, बयाना और मथुरा चलकर यह फतेहपुर सीकरी पहुँचा जहाँ उसका राजकीय सम्मान हुआ। जब तक सम्राट् को संत के साथ चर्चा करने का अवकाश नहीं मिला, अबुलफज़ल को उसका ध्यान रखने को कहा गया। धर्म और दर्शन की समस्याओं के बारे में पहले अबुलफ़जल से तथा बाद में अकबर से चर्चा

---

27. दादा श्रीजिनकुशल सूरि और *खरतरगच्छ बृहद गुरूवावली.*

की। इसके पश्चात् सूरि जी आगरा आ गये। चातुर्मास के अंत में वह फतेहपुर सीकरी लौट आए।

शत्रुंजय की पहाड़ी के आदिनाथ के मंदिर के पूर्वी प्रवेश में ड्योढ़ी के हेमविजय के 1593 ई॰ लेख में ऐसा प्रतीत होता है कि हीरविजय ने 1592 ई॰ में छः महीने के लिए पशुवध रोकने, मृत पुरुषों की अपहरण सम्पत्ति का उन्मूलन करने, जज़िया कर और शुल्क हटाने, बंदियों, जाल में फंसे पक्षियों और पशुओं को मुक्त करने और शत्रुंजय को जैनियों को देने के आदेश दिए। फतेहपुर सीकरी में मछली पकड़ने की मनाही कर दी गई। 1596 ई॰ में हीरविजय नागोर आये जहाँ उसने वर्षा ऋतु बिताई। राजा जगमल के वित्तमंत्री महजल ने बड़े सम्मान के साथ व्यवहार किया। बैराठ के राजकीय अधिकारी इन्द्रराज ने उसे आमंत्रित किया किंतु वह नहीं जा सका और अपने शिष्य कल्याणविजय को अभिषेक समारोह करने को भेजा। बाद में वह आबू गया, और इसके पश्चात् सिरोही, जहाँ राजा की प्रेरणा से उसने चातुर्मास बिताया। राव सुरतान के कहने पर उसने कुछ करों का उन्मूलन कर दिया। एक बार राव ने गलत समझ के कारण एक सौ निर्दोष श्रावकों को बंदी बना लिया। संघ के नेताओं ने उनको छुड़ाने का बहुत प्रयत्न किया किंतु राव ने उनकी कुछ नहीं सुनी। अंत में उसने सूरि जी के कहने पर उनको छोड़ा।

सिरोही से हीरविजय पाटन आये जहाँ उसने अगला चौमासा किया। उसके सम्मान में उत्सव का आयोजन किया गया जिसमें बहुत से श्रावक उपस्थित हुए। उसने उणा में चातुर्मास किया। गुजरात का गवर्नर आजमखान सम्मान व्यक्त करने हेतु वहाँ आया। यह सब उसके विलक्षण व्यक्तित्व और अकबर द्वारा सम्मानित किये जाने के कारण था। इस समय जामनगर के जान साहिब अपने मंत्री आबजी भणसाली के साथ आचार्य को नमस्कार करने हेतु उणा पहुँचे। हीरविजय ने राजकीय अधिकारी खानमुहम्मद को हिंसा त्यागने के लिए उकसाया। उसने 1545 ई॰ में मंदिर का अभिषेक समारोह मनाया और इसी वर्ष वह समाधिमरण के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ।[28]

जिनचन्द्र

जिनचन्द्र खरतरगच्छ का प्रसिद्ध आचार्य था। उसका जन्म 1508 ई॰ में जोधपुर जिले के खेतसर में हुआ था। उसके माता-पिता श्रीवंतशाह और सिरीयदेवी बीसा ओसवाल जाति के थे। उसका मूल नाम सुल्तान था। उसने 1547 ई॰ जिनमाणिक्य सूरि से दीक्षा ली और उसका दीक्षित नाम सुमतिधीर था। 1555 ई॰ में उसने गुणभद्र सूरि से सूरि की उपाधि प्राप्त की।

---

28. स्मिथ, *अकबर द ग्रेट*, पृ॰ 116-68 और सूरिश्वर और सम्राट् अकबर.

जब अकबर लाहौर में अपना दरबार लगा रहा था, उसने सूरि की ख्याति सुनी और उससे मिलना चाहा। उसने मंत्री कर्मचन्द्र बच्छावत को बुलाया और उसे अपनी सभा में आमंत्रित करने को कहा। अपनी अधिक आयु और गर्मी का विचार कर कर्मचन्द्र ने बताया कि केम्बे से उसके लिए आना कठिन होगा। बाद में सम्राट् ने उसको पत्र लिखने को कहा कि वह अपने शिष्य मानसिंह को भेजे। सूरि जी ने उसको छः अन्य धार्मिक अनुयायियों के साथ भेजा। कर्मचन्द्र का आवश्यक पत्र प्राप्त होने पर सूरि जी ने अपनी यात्रा पैदल शुरू की। पहले वह सिरोही पहुँचा और फिर जालौर में चातुर्मास किया। इसके पश्चात् वह रवाना हुआ, और अनेक ग्रामों और नगरों में चलकर 31 जैन पंडितों के साथ बड़े जुलूस के साथ 1591 में लाहौर पहुँचा जहाँ सम्राट् द्वारा उसका हार्दिक स्वागत किया गया। आत्मन्-अहिंसा आदि पर धार्मिक उपदेश देने के पश्चात् उनको निवास पर ले जाया गया। वह प्रतिदिन धर्म पर भाषण देने महल आया करता था। अकबर उसको बृहद् गुरु के रूप में संबोधित करता था।

द्वारका के जैन मंदिरों के नष्ट होने के बारे मे सुनकर जिनचन्द्र ने अकबर पर प्रभाव डाला और जैन तीर्थों जैसे शत्रुंजय, पालिताना और गिरनार की रक्षा हेतु राजकीय फरमान निकलवाया। आवश्यक आदेश अहमदाबाद के सूबेदार आजमखान को भेजा गया। तीर्थ-स्थल कर्मचन्द्र के अधिकार में रखे गये। कश्मीर को रवाना होने के पहले अकबर सूरिजी से मिला और उसके कहने पर साल में आषाढ़ के महीने में सात दिनों के लिए (नवमी से पूर्णिमा) पशुओं का वध रोकने के लिए फरमान निकाला। अकबर जिनचन्द्र, मानसिंह, हर्षविशाल तथा कुछ अन्य के साथ कश्मीर पहुँचा और सात दिन के लिए अहिंसा का व्रत रखा। वह 1592 ई॰ में लाहौर लौटा। इसी समय जिनचन्द्र ने मानसिंह को आचार्य की उपाधि दी और वह जिनसिंह सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कर्मचन्द्र की राय पर अकबर ने जिनचन्द्र को युगप्रधान की उपाधि दी। अकबर ने केम्बे (स्तम्भ-तीर्थ) के समीप समुद्र के पशुओं की वर्ष भर के लिए सुरक्षा दी।

जहाँगीर भी जैन धर्म का बड़ा सम्मान करता था। 1611 ई॰ में दक्षिण के खराब आचरण के कारण जहाँगीर ने न केवल उसको निकाल दिया वरन् अन्य संप्रदायों के सदस्यों को भी अपने राज्य से बाहर कर दिया। इससे जैनियों के सम्प्रदायों में वैमनस्यता फैल गई। यह समाचार जिनचन्द्र के पास पहुँचा जिसने पाटन से आगरा की यात्रा की और सम्राट् से मिला। धर्म पर लंबे विचार के पश्चात् सूरिजी ने जहाँगीर को आदेश वापिस लेने को प्रेरित किया। उसकी मृत्यु 1613 ई॰ में मारवाड़ के बिलाड़ा में हुई।[29]

---

29. *खतरगच्छ बृहद गुरूवावली, ऐतिहासिक काव्य जैन संग्रह,* 58, 81 और 82 युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि.

जिनसिंह सूरि

जिनचन्द्र सूरि के पश्चात् उसका पट्टधर जिनसिंह सूरि खरतरगच्छ का नेता हुआ। वह राजस्थान में अधिकतर बीकानेर, सिरोही, आदि स्थानों में रहा था। रायसमुद्र रचित *श्री जिनसिंह सूरि गीत* में बतलाया गया है कि उसका जहाँगीर पर बहुत प्रभाव था। उसकी प्रार्थना पर सम्राट् ने सब जीवों की रक्षा करने का वादा किया। उसने युगप्रधान की उपाधि प्रदान की। 1616 ई॰ में जिनसिंह सूरि ने बीकानेर में चातुर्मास बिताया। श्रीसार द्वारा 1624 ई॰ में रचित *जिनराज सूरिरास* में लिखा हुआ है कि जहाँगीर उसे मिलने को बहुत आतुर था और उसको आमंत्रित करने हेतु बीकानेर अधिकारी भेजा। लेकिन अभाग्यवश आगरा के मार्ग में ही उसकी 1617 ई॰ में मृत्यु हो गई।

जैन रास में उल्लेखित घटना बहुत कुछ कथात्मक है जिसका उद्देश्य जैन धर्म का गुणगान करना था। जहाँगीर का जिनसिंह (उपनाम मानसिंह) तथा जैनियों के प्रति दृष्टिकोण जैसाकि उनमें पाया जाता है, वह ठीक प्रतीत नहीं होता है। खुसरो के उपद्रव के समय मानसिंह ने भविष्यवाणी की थी कि जहाँगीर का राज्य केवल दो वर्ष तक रहेगा। इसने बीकानेर के राजा रायसिंह को उपद्रव के लिए उकसाया। वह जहाँगीर द्वारा क्षमा कर दिया गया जो मानसिंह को दंड देने का अवसर खोज रहा था। जब जहाँगीर 1616 ई॰ में गुजरात गया, उसने जैनियों को मरवाया क्योंकि उनके मंदिर उपद्रव के केन्द्र थे और उनके धार्मिक नेता अनैतिक कार्यों के दोषी थे। उसने मानसिंह को अपने दरबार में बुलाया किंतु बीकानेर से रवाना होने पर मार्ग में उसने जहर ले लिया और मर गया। वास्तव में उपर्युक्त मनगढ़ंत कहानी की अपेक्षा तथ्यों में अधिक सत्यता है।

जैन राजनीतिज्ञ

प्राचीन समय में जीवन-वृत्ति प्रतिभावान व्यक्तियों के लिए सुलभ थी। खासकर जैनियों के लिए। अधिकतर जैन बुद्धिमान थे और उन्होंने महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त कर लिए थे। उन दिनों राज्यों और प्रांतों के विभागों के अध्यक्ष गवर्नर, प्रधानमंत्री और दंडनायक कहलाते थे। इनको मंत्री और सेनापति भी कहते थे। इस प्रकार से पद विभिन्न नामों से जाने जाते थे।

श्रुतकीर्ति

श्रुतकीर्ति कदम्बों का सेनापति था। वह और उसके उत्तराधिकारी जैन धर्म के बड़े आश्रयदाता थे। ये यापनीय संघ के आचार्य के प्रति समर्पित थे। उसके अभिलेख[30] से विदित होता है कि श्रुत सेनापति ने उपने कल्याण के लिए बदोवर क्षेत्र अर्हतों के लिए

30. *जै॰शि॰सं॰*, सं॰ 96.

दे दिया जो कि उसने अपने स्वामी कदम्ब काकुस्थवर्मा से खेटक ग्राम में प्राप्त किया था। अन्य लेख में[31] श्रुतकीर्ति की प्रशंसा की गई है, और उसका उल्लेख भोजक के रूप में हुआ है। वह भोज वंश का था। वह काकुस्थयवर्मा का विशेष कृपापात्र था। काकुस्थयवर्मा के बेटे शांति वर्मा के पुत्र मृगेश ने श्रुतकीर्ति की पत्नी एवं दामकीर्ति की माँ को खेट ग्राम धर्मार्थ दे दिया था। दामकीर्ति के बड़े पुत्र जयकीर्ति ने माता-पिता के पुण्य के लिए यापनीय संघ के आचार्य कुमारदन्त के लिए खेटक ग्राम दिया।

चामुंडराय

चामुंडराय बड़ा शूरवीर, स्वामीभक्त और जैन धर्म के प्रति समर्पित था। हमें उसके जीवन के बारे में जानकारी उसके समय के बहुत से अभिलेख तथा कन्नड़ भाषा में लिखित *चामुंडराय पुराण* से होती है। उसके अभिलेख[32] से पता चलता है कि वह ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ था। यह गंग नरेश राचमल्ल चतुर्थ का सेनापति था, पर मालूम होता है कि वह उसके पिता मारसिंह तृतीय के समय भी सेनापति था। राचमल्ल चतुर्थ और मारसिंह तृतीय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय और इन्द्र चतुर्थ के सामन्त थे और उन्होंने युद्धों में विजय प्राप्त की। यदि हम अभिलेखों[33] को चामुंडराय के साथ पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गंग राजा मारसिंह और राचमल्ल ने अपने स्वामी राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय और इन्द्र चतुर्थ के लिए विजय सेनापति चामुंडराय की सहायता से ही प्राप्त की। उसने अभिलेखों में उसकी शूरवीरता प्रकट करते हुए बहुत सी उपाधियाँ दी हैं।

चामुंडराय ने श्रवणबेलगोला में प्रसिद्ध विशाल मूर्ति प्रतिष्ठित की।[34] उसके दो गुरु थे – अजितसेन और नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती। श्रवणबेलगोला के एक लेख[35] से ज्ञात होता है कि इस सेनापति ने चिक्कबट्टे पर एक बसदि बनवाई थी। इसके अन्य लेख[36] से स्पष्ट है कि उसका पुत्र जिनदेवण ने, जो अजित मुनि का शिष्य था, बसदि बनवाई। जिन शासन के स्थिर उद्दार करने में वह प्रथम ज्ञात होता है।

शांतिनाथ

अभिलेख[37] से हम शांतिनाथ के बारे में जानते हैं। वह सहज व चतुर कवि था। उसकी

---

31. वही, सं॰ 100.
32. *जै॰शि॰सं॰*, III, सं॰ 165.
33. वही, 152, 165 और 155.
34. वही, सं॰ 395.
35. I, सं॰ 122.
36. III, सं॰ 157.
37. III, सं॰ 204.

उपाधि सरस्वती मुख-मुखर थी। उसने अपने राजा लक्ष्मनृप से प्रार्थना कर बलिनगर में लकड़ी के जैन मंदिर को पाषाण का बनवाया। इस मंदिर का नाम मल्लिकामोद शांतिनाथ था। बारहवीं शताब्दी में होयसल वंश से संबंधित हम अनेक जैन सेनापतियों को देखते हैं। इस वंश का प्रतापी नरेश विष्णुवर्धन था। उसकी अनेक विस्तृत विजयों का श्रेय उसके आठ जैन सेनापतियों को था। उनके नाम थे – गंगाराज बोप्प, पुणिस, बलदेवण्ण, मरियाने, भरत, ऐच और विष्णु। इन सेनापतियों के कारण होयसल वंश दक्षिण में प्रसिद्ध हो गया।

गंगराज

इन सेनापतियों में प्रधान था गंगराज[38] जिसके जीवनवृत्त को जानने के लिए दो दर्जन से अधिक लेख हैं। इनमें उनकी अनेक सामरिक विजयों तथा जैन मुनियों और मंदिरों को अनेक प्रकार के दानों का उल्लेख है। उसके मेघचन्द्र सिद्धांतदेव एवं शुभचन्द्र सिद्धांतदेव नाम के दो गुरु थे। गंगराज ने अगणित ध्वस्त जैन मंदिरों का पुनर्निर्माण कराया था। एक जिनालय का नाम गंगराज की एक विशिष्ट उपाधि पर द्रोहधरट्ट जिनालय पड़ा था। होयसल विष्णुवर्धन ने इस मंदिर को पुण्य के लिए ग्रामादि दान दिये थे।

बोप्प

गंगराज का पुत्र दण्डेश बोप्पदेव भी बड़ा ही शूरवीर एवं धर्मनिष्ठ था। उसने शांतिश्वर बसदि तथा त्रैलोक्यरंजन बसदि के दो मंदिर (बोप्पण चैत्यालय) बनवाये। शूरवीरता के कारण उसकी प्रशंसा की गई है। सन् 1134 में उसने शत्रु पर आक्रमण किया और उनकी प्रबल सेना को खदेड़कर अपने भुजबल से कोङ्गों को परास्त कर दिया।[39]

पुणिस

गंगराज के बहादुर साथियों में पुणिस भी था। वह होयसल नरेश विष्णुवर्धन का संधि विग्रहिक था। अभिलेख[40] में उसकी सामरिक शूरवीरता के कार्यों का वर्णन है। उसने अनेक देशों को जीतकर होयसल विष्णुवर्धन को दिये। पुणिस गंगराज के समान ही विशाल हृदय का था। उसने धर्म और मानवता की समान दृष्टि से सेवा की। अभिलेख[41] में लिखा है कि युद्ध के कारण जो व्यापारी नष्ट हो गये थे, जिन किसानों के पास बीज

38. *जै०शि०सं०*, III,पृ० 125-26.
39. वही, पृ० 126.
40. वही, 3, सं० 264.
41. वही, सं० 264.

बोने को नहीं था, जो किरात हार जाने से अधिकार वंचित हो नौकर हो गये थे, उन्हें तथा उन सबको जिनका जो नष्ट हो गया था, वह सब पुणिस ने दिया और उनके-पालन पोषण में मदद की। उसने एण्णेनाड़के अरकेहार स्थान में अपने द्वारा बनवाई गई त्रिकूट बसदि से संलग्न बसदियों के लिए भूदान दिया तथा निर्भय होकर गंगों की तरह गंगवाड़ी की बसदियों को शोभा से सज्जित किया।

बलदेवण्ण

विष्णुवर्धन का चौथा सेनापति बलदेवण्ण था। वह राजा अरसादित्य और आचाम्बि का तृतीय पुत्र था। उसके दो बड़े भाई पम्पराय और हरिदेव थे। अभिलेख[42] में उसको मंत्रियूथाग्रणि, गुणी, सकल सचिवनाथ, जिनपादोधरि सेवक, आदि उपाधियाँ दी हैं।

मरियाने और भरत

होयसल विष्णुवर्धन के सेनानायकों में दो भाई – दण्डनायक मरियाने और भरत या भरतेश्वर भी थे। इनके वंश का परिचय कुछ अभिलेखों[43] में दिया गया है। इनके वंशज होयसल राजवंश से संबंध रखते हैं। विष्णुवर्धन ने मरियाने दण्डनायक को अपना पट्टदाने (राज्य गजेन्द्र) समझकर ही उसे सेनापति बनाया था। ये दोनों भाई जैसे शूरवीर थे वैसे ही धर्मिष्ठ भी थे। अभिलेख[44] में भरत के अनेक गुणों की प्रशंसा की गई है। लिखा है कि उसका धन जिन-मंदिरों के लिए था, दया सभी प्राणियों के लिए थी। उसका अच्छा मन जिनराज की पूजा में था, औदार्य सज्जन वर्ग के लिए तथा दान सब मुनीन्द्रों के लिए था। श्रवणबेलगोला के दो अभिलेखों[45] से ज्ञात होता है कि उसने श्रवणबेलगोला में 80 नई बसदियाँ बनवायीं और गंगवाड़ी की 200 पुरानी बसदियों का जीर्णोद्धार कराया था। इन दोनों भाइयों के गुरु थे – देशीगण पुस्तकगच्छ के आचार्य माघनन्दि के शिष्य गण्ड विमुक्तव्रती। लेख से ज्ञात होता है कि ये दोनों भाई विष्णुवर्धन के बेटे नारसिंह के समय में भी विद्यमान थे।[46] इन दोनों ने 500 होन्नु देकर उक्त नरेश से सिन्दगेरि आदि तीन गाँवों का प्रभुत्व प्राप्त किया था।

ऐच

गंगराज का भतीजा एवं उसके बड़े भाई का पुत्र ऐच भी विष्णुवर्धन के सेनापतियों में था।

---

42. वही, सं॰ 296.
43. वही, सं॰ 307, 308 और 41.
44. वही, सं॰ 307.
45. वही, सं॰ 154 और 355.
46. वही, सं॰ 411.

अभिलेख[47] में लिखा है कि उसने कोपण, बेल्गुल, आदि स्थानों में अधिक जिन मंदिर बनवाये और सन् 1135 ई॰ में संन्यास विधि से प्राणोत्सर्ग किया। गंगराज के पुत्र बोप्प ने अपने भतीजे की स्मृति में निषद्या बनवाई।

विष्णुदण्डाधिप

अभिलेख[48] में ज्ञात होता है कि विष्णुवर्धन होयसल का एक और सेनापति था जिसका नाम विष्णुदण्डाधिप या इम्मड़ि दण्डनायक बिटियण्ण था। इसने आधे महीने में ही दक्षिण प्रांत पर विजय कर ली थी। विष्णुवर्धन होयसल का यह दाहिना हाथ था। यह बचपन से ही उक्त नरेश का प्यारा था। सात-आठ वर्ष की आयु के बाद वह समस्त शास्त्र-विज्ञान में पारंगत हुआ। तब उसने अपने प्रधानमंत्री की सर्वलक्षण सम्पन्न पुत्री ब्याह दी। यह सेनापति बड़ा ही धर्मनिष्ठ एवं दानी था। इसने कई सार्वजनिक कार्य कराये थे तथा राजधानी द्वारसमुद्र में एक जिनालय बनवाया था। इसके गुरु का नाम श्रीपाल त्रैविधदेव था जिन्हें उक्त जिनालय के प्रबन्ध और ऋषियों के आहार-दान के हेतु उसने एक ग्राम और भूमि दान में दी थी।

मादिराज

विष्णुवर्धन का एक और जैन मंत्री महाप्रधान मादिराज था। अभिलेख[49] में उसके धार्मिक गुणों की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसके भी गुरु श्रीपाल त्रैविधदेव थे। विष्णुवर्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह के भी चार सेनापति जैन धर्मावलम्बी थे। वे थे देवराज, हुल्ल, शांतियण्ण और ईश्वर चमूप।

देवराज

अभिलेख[50] में देवराज का उल्लेख है। राजा नरसिंह ने उसकी धर्मबुद्धि और स्वामीभक्ति से प्रसन्न होकर उसको सूरनहल्लि गाँव दिया जहाँ उसने जिन चैत्यालय बनवाया जिसको होयसल देव ने अष्टविद्यार्चन और आहार-दान के निमित्त 10 होन्नु दान में दिये और गाँव का नाम पार्श्वपुर रख दिया। उक्त लेख में उसके गुरु मुनिचन्द्र का नाम दिया गया है।

हुल्ल

नरसिंह होयसल का द्वितीय सेनापति हुल्ल व हुल्लप था। उस युग में जैन धर्म के

47. वही, सं॰ 304.
48. वही, सं॰ 305.
49. वही, 3, सं॰ 319.
50. वही, 3, सं॰ 324.

उद्धारकों में चामुंडराय और गंगराज के बाद हुल्लप का ही नाम आता है। बहुत से अभिलेख[51] इस सेनापति से संबंधित हैं। इस सेनापति ने होयसल विष्णुवर्धन, नरसिंह और बल्लाल द्वितीय के राज्य में होयसल वंश की सेवा की थी।

शांतियण्ण

शांतियण्ण नरसिंह नरेश का सेनापति था।[52] वह परिसण्ण और बम्मलदेवी का पुत्र था। वह परिसण्णे मरियाणे का दामाद था। अभिलेख में उसको महाप्रधान और पट्टिस भंडारी कहा गया है। परिसण्ण मरियाने ने युद्ध में शत्रुओं को हराया और अपना जीवन बलिदान कर दिया। नरसिंह ने उसके पुत्र शांतियण्ण को करुगुण्ड का स्वामी तथा सेना का दण्डनायक बना दिया। उक्त स्थान में शांतियण्ण ने अपने पिता की स्मृति में एक बसदि बनवाई और उसकी सुरक्षा के लिए दान दिया। उसके गुरु मलिषेण पंडित थे।

ईश्वर चमूप

ईश्वर चमूप का अभिलेख[53] में होयसल राजा नरसिंह के सेनापति के रूप में उल्लेख है। वह महाप्रधान, सर्वाधिकारी और दण्डनायक चमूप का दामाद था। ईश्वर चमूप ने जिनालयों की मरम्मत करवायी और उसकी पत्नी माचियक्क ने मय्देबोलल नामक पवित्र तीर्थ में एक जिन-मंदिर एवं एक तालाब बनवाया। उसके गुरु का नाम गण्डविमुक्त मुनिप था।

रेचरस

नरसिंह के उत्तराधिकारी बल्लाल द्वितीय के समय भी होयसल राज्य के भाग्य का निर्माण करने वाले कुछ जैन सेनापति थे। उनमें से एक था रेचरस। वह जैन धर्म के प्रति समर्पित था। उसने अरसियकेरे में सहस्त्रकूट जिन की प्रतिमा स्थापित की और मंदिर की व्यवस्था के लिए राजा बल्लाल से इन्दरहालु ग्राम प्राप्त कर अपने वंश के गुरु सागरनंदि सिद्धांतदेव को सौंप दिया। उक्त जिनालय का नाम एल्कोटि जिनालय था।[54] रेचरस 1182 ई॰ में कलचुरि वंश के नरेश बिज्जल का दण्डाधिनाथ था। वेचण को कलचुरि नरेशों से बहुत से देश मिले थे। उनमें एक नगरखेड़ था। वहाँ मागुडि नामक स्थान में शांतिनाथ

---

51. वही, 3, सं॰ 348, 362, 363, 381, और 396.
52. वही, 3, सं॰ 347.
53. वही, सं॰ 352.
54. वही, 3, सं॰ 465.

जिनालय के लिए उसने दानादि दिये थे।[55] श्रवणबेलगोला से प्राप्त एक लेख[56] से ज्ञात होता है कि उसने सन् 1200 के लगभग शांतिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा कराई और बसदि को कोल्हापुर के सागरनंदि को सौंप दिया। इस लेख में उसे "वसुधैवबांधव" कहा गया है।

बूचिराज

होयसल बल्लाल द्वितीय का दूसरा सेनापति बूचिराज था। लेख में उसे मंत्रीश्वर एवं संधि विग्रहिक कहा गया है।[57] उसमें चतुर्विध पांडित्य था। वह संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में कविता कर सकता था। उसने सन् 1173 ई॰ में राजा बल्लाल के पट्टबंधोत्सव के समय सीगेनाड़ के मारिकलि स्थान में त्रिकूट जिनालय बनवाया और मंदिर की पूजा, जीर्णोद्धार एवं आहार-दान, आदि के लिए अपने गुरु वासुपूज्य सिद्धांतदेव को मारिकलि ग्राम भेंट में दिया।

चन्द्रमौलि

चन्द्रमौलि होयसल राजा बल्लाल का मंत्री था। वह भारत-शास्त्र, आगम, तर्क, व्याकरण, उपनिषद् नाटक, काव्य, आदि में विद्वन्मान्य था। वह बल्लाल नृप के दाहिने हाथ का दण्डस्वरूप था।[58] यद्यपि वह स्वयं कट्टर शैव था पर उसकी पत्नी आंचलदेवी परम जैन धर्मावलम्बिनी थी। उस देवी ने श्रवणबेलगोला तीर्थ पर बड़ी भक्ति के साथ पार्श्वनाथ का मंदिर निर्माण कराया और मंत्री चन्द्रमौलि ने राजा बल्लाल से स्वयं प्रार्थना कर उक्त जिनालय की पूजादि के लिए बम्मेयन हल्लि नामक गाँव दान में दिलाया।

नागदेव

बल्लाल द्वितीय के मंत्रियों में एक जैन मंत्री नागदेव भी था। वह बोम्मदेव सचिव का पुत्र था। अभिलेख[59] में लिखा है कि वह जैन मंदिरों का प्रतिपालक था तथा राजा ने उसे पट्टन स्वामी बनाया था। उसके गुरु का नाम नयकीर्ति सिद्धांतदेव था। उसने सन् 1195 में श्रवणबेलगोला तीर्थ पर पार्श्वदेव के आगे नृत्यरंगशाला एवं शिलाकुट्टिम· बनाकर अपने दिवंगत गुरु की स्मृति में एक निषिधि बनवायी थी। जिन-धर्म के लिए नागदेव की स्थायी कृति श्री श्रवणबेलगोला में श्री निलयनगर जिनालय का निर्माण तथा उसके लिए

55. वही, सं॰ 408.
56. वही, सं॰ 429.
57. वही, सं॰ 379.
58. वही, सं॰ 409.
59. वही, 3, सं॰ 428.

भूमिदान था। उसके प्रतिपालन के लिए उसने खण्डिल और मूलभद्र के वंशज श्रवणबेलगोला वासी वणिजों को नियुक्त किया था।

महादेव दण्डनाथ

जैन मंत्रियों में महादेव दण्डनाथ का नाम भी उल्लेखनीय है। वह बल्लाल द्वितीय के महामंडलेश्वर एक्कलरस का महाप्रधान था। उसके गुरु का नाम सफलचन्द्र भट्टारक था। अभिलेख में लिखा है कि उसने सन् 1198 में उद्वेद नामक स्थान में एक अनुपम जिनालय बनवाया और उसका नाम रंग-जिनालय रखा। उस जिनालय की पूजा, जीर्णोद्धार हेतु उसने बहुत प्रकार के दान दिये तथा एक्कलरस आदि से भी विविध दान दिलाये।[60]

कम्मट माचय्य

सन् 1200 ई॰ के लगभग केकुम्बेयन हल्लि ग्राम से प्राप्त एक लेख[61] में अन्य जैन मंत्री का उल्लेख है। वह है महाप्रधान, सर्वाधिकारी, तंत्राधिष्ठायक कम्मट माचय्य। उसने अपने श्वसुर के साथ कुम्बेयन हल्लि नामक ग्राम में परिणदिमल्ल जिनालय के लिए दान दिया था। उक्त लेख में यह भी लिखा है कि महाप्रधान सर्वाधिकारी हरियण्ण ने कुम्बेयन हल्लि के देव की प्रतिष्ठा की थी।

अमृत

अभिलेख[62] से विदित होता है कि बल्लाल द्वितीय के अमृत नाम का एक और दण्डनायक था जो कि महाप्रधान सर्वाधिकारी था। लेख में उसे कवि कुलंज और चतुर्थ वर्ण (शूद्र) का कहा गया है। उसने आवकुलगेरे में सन् 1203 ई॰ में एक्कोटि नामक जिनालय बनवाया और सभी नायकों, नागरिकों और किसानों के समक्ष शांतिनाथ भगवान की अष्टविध पूजन और मुनियों को आहार दान के लिए भूमि प्रदान की। उसने अपने जन्म-स्थान लोक्कुण्डी में अपने भाइयों के साथ एक मंदिर, एक बड़ा तालाब, तथा एक छत्र स्थापित किया। एक अग्रहार और एक प्याऊ बैठाई। वह अजैनों के प्रति भी बड़ा उदार था। उसने अपने जन्म-स्थान में अमृतेश्वर का एक मंदिर बनवाया।

ईचण

सन् 1205 ई॰ में एक लेख[63] में हम ईचण का नाम पाते हैं। उसने होयसल बल्लाल

60. वही, सं॰ 431.
61. वही, सं॰ 437.
62. वही, 3, सं॰ 452.
63. वही, सं॰ 451.

द्वितीय के राज्यकाल में बेलगवस्तिनाड़ में एक ऐसा जिनालय बनवाया जैसाकि उस प्रदेश में न था और इस तरह उस स्थान को कोपण बना दिया।

माधव

माधव दण्डनायक का उल्लेख भी अभिलेख[64] में मिलता है। इसे वीरमदेवण्ण के कुल का बतलाया गया है। उसके गुरु माधवचन्द्र भट्टारक थे। उसने समस्त कौटुम्बिक बंधनों को छोड़कर, जिन मंदिर बनवाकर समाधिमरण पूर्वक स्वर्ग को प्रयाण किया। उक्त लेख में दूसरे दण्डनायक माचिगौड़ का भी उल्लेख है। उसके गुरु भी माधवचन्द्र भट्टारक थे। उसने भी समाधि विधि से स्वर्ग प्राप्त किया।

कूचिराज

देवगिरि के यादव नरेश महादेव के एक जैन मंत्री कूचिराज का उल्लेख अभिलेख[65] में है। वह महसेन मुनि के शिष्य पद्मसेन का शिष्य था। उसने अपनी पत्नी लक्ष्मीदेवी के स्वर्गस्थ होने पर उसके नाम पर एक जिनालय बनाकर सेनागण के पोगलेगच्छ को दे दिया तथा अपने नरेश से उक्त जिनालय के प्रबन्ध आदि के लिए एक ग्राम दिलाया और स्थानीय गौड़ लोगों से मिलकर स्वयं दान दिया और दिलाया।

इरुगप्प

विजयनगर साम्राज्य के उन्नायकों को भी जैन मंत्रियों और सेनापतियों ने अपनी सेवा से उपकृत किया था। उनमें इरुगप्प का उल्लेख है। तीन लेखों[66] से विदित होता है कि वह महामंत्री और सेनापति दोनों था। उसका पिता चैच दण्डेश था और गुरु सिंहनंदि था। एक लेख में उसके द्वारा कुंथुनाथ जिनालय की स्थापना का उल्लेख है। इस मंदिर ने *नानार्थ नाममाला* की रचना की थी। काञ्जीवरम् के समीप तिरुप्पसतिवकुणस से प्राप्त दो लेखों[67] में उसके दान एवं मण्डप निर्माण का उल्लेख है।

गोप

देवराय प्रथम का एक जैन सेनापति गोप था। एक लेख[68] में उसे नागर खण्ड का शासक कहा गया है। इसके दो जैन गुरु थे पंडिताचार्य और श्रुत मुनिप। इनमें से एक उसको

---

64. वही, सं॰ 540.
65. वही, 3, सं॰ 511.
66. वही, सं॰ 581, 585 और 587.
67. वही, सं॰ 581 और 587.
68. वही, सं॰ 609 और 610.

अनीति के मार्ग से हटाता था तो दूसरा अच्छे मार्ग पर लगाता था। लेख में लिखा है कि गोप ने समाधि विधि से शरीर त्याग किया और मुक्ति प्राप्त की।

गुजरात के जैन राजनीतिज्ञ

मुंजल

मुंजल राजा कर्ण का मंत्री था और सिद्धराज के समय तक वह इस पद पर रहा। उसने राजा कर्ण को पतन से बचाया, और मयणल्ल देवी से गुप्त आशीर्वाद प्राप्त किये। अन्य अवसर पर उसने कर्ण के पुत्र जयसिंह देव को सहायता दी। जब धार के घेरे का अनिश्चित काल तक विस्तार हो गया, तो सिद्धराज ने अन्न त्यागने का व्रत लिया जब तक धार के दुर्ग की विजय न करे। इस समय मुंजल ने हस्तक्षेप किया और सिद्धराज को समझाया कि गीले आटे की धार को तोड़कर अपने व्रत को पूरा करें। धार की विजय में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। धार को अधिकार में कर सिद्धराज ने व्रत लिया कि वह हाथी पर बैठकर अणहिलवाड़ में प्रवेश करेगा। यशोवर्मन हाथ में खुली तलवार पकड़कर हौदा के पीछे की जगह पर बैठेगा। मुंजल ने राजा को इस प्रकार का व्रत लेने का संकट बताया। राजा इस व्रत को तोड़ने को सहमत नहीं हुआ लेकिन मुंजल ने उसको समझाया कि इस व्रत को पूरा करने के लिए यशोवर्मन् के हाथ में काष्ठ की तलवार दे दी जाए।[69]

शांतु या संपत्कर

शांतु या संपत्कर सिद्धराज का अन्य जैन मंत्री था। वह कर्ण का प्रधानमंत्री भी था। जीवन के आरंभ में वह भड़ौच में लाट का गवर्नर था। अपनी योग्यता के कारण वह कर्ण के मुख्यमंत्री के पद तक बढ़ गया। बिल्हण ने विशेषकर राजकार्य में कुशलता तथा राजनैतिक कार्यों में सफलता का उल्लेख किया है। उसने गजनी के सुल्तान से लड़ने सच्छिक के नेतृत्व में सेना भेजी जिसको इसने सिंधु के तट पर हराया। कहा जाता है कि शांतु ने कर्ण के मामा मदनपाल के अन्याय का अंत कर दिया। राजधानी में राजा की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर मालवा के राजा ने गुजरात पर आक्रमण किया। योग्य राजनीतिज्ञ के रूप में शत्रु का सामना करने से दूर रहा। शांतु ने दूसरे के दोषों को प्रकट नहीं किया किंतु गलत करने वाले को सुधार करने का अवसर दिया।[70]

आसुक

सिद्धराज का अन्य जैन मंत्री आसुक था। वह 1122-23 ई॰ और 1124-25 के मध्य

69. *जैनिज्म इन गुजरात.*
70. वही, पृष्ठ 5-7.

महामात्य रहा। उसकी स्वीकृति और राय से जयसिंह ने शत्रुंजय पहाड़ी की तीर्थयात्रा की और आदिनाथ के मंदिर को बारह ग्राम दान दिया। देवसूरि और कुमुदचन्द्र के मध्य प्रसिद्ध वाद-विवाद में उपस्थित हुआ।[71]

सज्जन

सिद्धराज का अन्य जैन अधिकारी सज्जन था। सोरठ की विजय के पश्चात् वह प्रांत का गवर्नर नियुक्त किया गया। इसकी पुष्टि उसके द्वारा गिरनार के नेमिनाथ के मंदिर के अभिलेख से होती है। सज्जन का गिरनार मंदिर पहाड़ी पर सबसे विशाल मंदिर है।[72]

वाग्भट

वाग्भटालंकार के टीकाकार के अनुसार वाग्भट जयसिंह का प्रधानमंत्री था।[73] वह संभवतः उदयन का पुत्र था। जैसाकि *द्रव्याश्रय* से ज्ञात होता है कि वह कुमारपाल का भी प्रधानमंत्री था। इसकी पुष्टि नाडोल के ताम्रपत्र वि॰ सं॰ 1213 से होती है। उसने शत्रुंजय की पहाड़ी पर 1154-55 ई॰ में आदिनाथ का मंदिर बनवाया और पहाड़ी के दुर्ग में वाग्भटपुर की स्थापना की। वाग्भट ने इस नगर में पार्श्वनाथ का मंदिर बनाया और राजा के पिता के नाम पर यह त्रिभुवन विहार कहा जाने लगा।[74]

चन्द्रसूरि

जैन संघ में प्रवेश होने के पहले मुनिसुव्रत चरित्र के लेखक चन्द्रसूरि लाट का गवर्नर था।[75]

अम्बड़ व आम्रभट

अंबड़ व आम्रभट कुमारपाल का अन्य मंत्री था। वह उदयन का दूसरा पुत्र था। उसने भड़ौच में वि॰ सं॰ 1211 व वि॰ सं॰ 1222 में शकुनिकविहार बनवाया। भड़ौच के जैनियों का विश्वास है कि मंदिर के अवशेष मस्जिद में पाये जाते हैं।[76]

चाहड़

उदयपुर के वि॰ सं॰ 1222 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाहड़ कुमारपाल का मालवा

71. वही, पृ॰ 10.
72. वही, पृ॰ 10.
73. वही, पृ॰ 11.
74. वही, पृ॰ 88.
75. वही, पृ॰ 88.
76. वही, पृ॰ 88-89.

में दण्डनायक था। वह उदयन का संभवतः तीसरा पुत्र था। गिरनार के अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उसके सात पुत्र थे। सबसे बड़ा कुमारपाल का कोषाध्यक्ष था। योग्यता से वह (सबसे बड़ा पुत्र) प्रधानमंत्री के पद तक बढ़ गया। शांतिसूरी के *पृथ्वीचन्द्र चरित्र* की प्रशस्ति से यह पता चलता है कि चाहड़ का सबसे बड़ा पुत्र कुमारसिंह वि० सं० 1225 में प्रधानमंत्री था।[77]

महादेव

किराडु का वि० सं० 1209 का अभिलेख और बालि का वि० सं० 1219 का अभिलेख महादेव को प्रधानमंत्री के रूप में उल्लेख करते हैं। इस महादेव के बारे में हम अधिक नहीं जानते। वह संभवतः सिद्धराज के प्रधानमंत्री दादाक का पुत्र था और वि० सं० 1195 में उज्जैन का गवर्नर था।[78]

पृथ्वीपाल

मल्लिनाथ चरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पृथ्वीपाल कुमारपाल का प्रधानमंत्री था। इस पृथ्वीपाल ने आबू के विमलशाह के मंदिर का जीर्णेद्धार किया।[79]

दण्डनायक

सहजिग वि० सं० 1202 में सौराष्ट्र का दण्डनायक था। वि० सं० 1207 में सज्जन चित्तौड़ का दण्डनायक था। हमें पता नहीं कि यह सज्जन कौन था? वह संभवतः सिद्धराज के समय सौराष्ट्र का दण्डनायक था और उसने गिरनार पर मंदिर बनवाया था। वि० सं० 1210, 1213 और वि० सं० 1216 में वैजलदेव नाडोल का दण्डनायक था। वि० सं० 1222 में राणिग का पुत्र अम्बक सौराष्ट्र का दण्डनायक था।[80]

यशःपाल

यशःपाल राजा अजयपाल का जैन मंत्री था। उसने इसके राज्य में कुमारपाल का जैन धर्मावलंबी होने के उपलक्ष्य में मोहपराजय का लाक्षणिक नाटक पूर्ण किया। उसके पिता का नाम धनदेव था, और माता का नाम रुक्मिणी था। धनदेव सिद्धराज व कुमारपाल का मंत्री था।[81]

---

77. वही, पृ० 87.
78. वही, पृ० 89-90.
79. वही, पृ० 90.
80. वही, पृ० 90-91.
81. वही, पृ० 108.

अन्य अधिकारी

वि॰ सं॰ 1247 में सोमनदेव लाट देश का गवर्नर था और रामसिंह मुद्राधिकारी था। भीम द्वितीय के अन्य जैन अधिकारी भी थे जैसे अम्बड़ मंत्री और आल्हादन दंडनायक।[82]

मध्यप्रदेश के जैन राजनीतिज्ञ

पाहिल

बुंदेलखंड पर शासन करने वाला चंदेल राजा धंग का पाहिल जैन मंत्री था। पार्श्वनाथ के मंदिर में ख़जुराहो के 953-54 के अभिलेख में उल्लेखित है कि पाहिल ने अनेक उपहार उद्यानों को अनुदान में दिये तथा वह राजा धंग द्वारा बहुत सम्मानित था। कीर्तिवर्मन् के राज्य में वि॰ सं॰ 1132 के शांतिनाथ के लेख से ज्ञात होता है कि गृहपति कुल जैन धर्म के प्रति समर्पित था। शांतिनाथ की मूर्ति उसके पैतृक मंत्रियों के समूह पाहिल और जीजू द्वारा विराजमान की गई। वे वासवचन्द्र के शिष्य थे। अन्य मूर्ति मदनवर्मन् के समृद्ध राज्य में 1157-58 ई॰ में पाहिल के पुत्र साल्हे द्वारा स्थापित की गई। साल्हे के पुत्र महेगण, महिचन्द्र, चीचन्द्र, जिनचन्द्र और उदयचन्द्र थे।[83]

साहुकुशराज

साहुकुशराज जैसवाल ग्वालियर के तोमर राजा वीरमदेव (1402-23 ई॰) का मंत्री था। वह जैन धर्म का भक्त था। मंत्री साहुकुशराज जैसवाल की प्रेरणा से पद्मनाभ कायस्थ ने बीरमदेव के राज्य में *यशोधर चरित* लिखा।[84]

कुशराज ने ग्वालियर में चन्द्रप्रभु का जैन मंदिर भी बनवाया।

कमलसिंह

कमलसिंह ग्वालियर के राजा डूंगरसिंह (1425-59 ई॰) का मुख्यमंत्री था। उसने वि॰ सं॰ 1497 में आदिनाथ की विशाल मूर्ति की स्थापना की और इसका अभिषेक समारोह रइधू द्वारा किया गया। कमलसिंह ने अन्य को भी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा दी। वह महान् कवि रइधू का आश्रयदाता था और उनको प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में बहुत से ग्रंथों को लिखने के लिये प्रोत्साहन दिया। असपति भी डूंगरसिंह का मंत्री था।

---

82. वही, पृ॰ 113.
83. *म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 453.
84. *जै॰ग्रं॰प्र॰*, सं॰ 1, पृ॰ 5.

मांडु के सुल्तानों के जैन राजनीतिज्ञ

नरदेव सोनी

होशांगशाह ने अपने शासन में जैनियों को स्थान देकर उनका सम्मान किया। लेन-देन में ईमानदारी के कारण नरदेव की प्रतिष्ठा थी। होशांगशाह ने नरदेव सोनी को अपना भंडागारिक (खजांची) नियुक्त किया, और उसको अपनी परिषद् में रखा। नरदेव अपने दान के लिए बहुत प्रसिद्ध था। उसका पुत्र संग्रामसिंह सोनी उल्लेख करता है कि उसके दान की कोई सीमा नहीं थी। नरदेव सब प्रकार से सोच-समझकर दान देता था।[85]

संग्रामसिंह सोनी

महमूद खलज़ी के राज्य में नरदेव सोनी के पुत्र संग्रामसिंह का वही स्थान था जो उसके पिता का होशांगशाह के राज्य में था। बुद्धिसागर की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि संग्रामसिंह सुल्तान महमूद का विश्वासपात्र था। संग्रामसिंह महमूद खलज़ी के साथ दक्षिण में आक्रमण करते समय गया। उसने गोदावरी पर प्रतिष्ठानपुर (पैठान) में *बुद्धिसागर* पूर्ण किया जहाँ वह 1463 ई॰ में पवित्र स्नान के लिए गया था। सुल्तान को अपने पक्ष में रखने के लिए वह अपने ग्रंथ में स्वामी की प्रशंसा करना नहीं भूला। संग्रामसिंह सोनी ने नसीरशाह के समस्त राज्य में अपनी स्थिति बनाए रखी।[86]

मंडन

श्रीमाल जाति का अन्य जैन मंडन होशांगशाह के राज्य में प्रसिद्ध हो गया। मंडन एक कुशल व्यापारी था और उसने व्यापार से बहुत धन कमाया। उसने धर्मार्थ कार्यों का विस्तार किया और जैन मठों की स्थापना के लिए अपार दान दिया। उसने न तो अपने व्यापार की उपेक्षा की और न होशांगशाह को आर्थिक सहायता देने में कमी की। सुल्तान होशांगशाह ने बदले में उसका आदर किया।[87]

जसवीर

मांडु में महमूद खलज़ी प्रथम के राज्य में एक अन्य समृद्ध कुल था। जसवीर इस कुल में बड़ा प्रमुख हो गया था। उसने अनेक जैन तीर्थों की यात्राएँ कीं और सब जगह दान दिया। उसने बावन संघपतियों की स्थापना की, और संघेश्वर की उपाधि से उसको सम्मानित किया गया। जसवीर को राज्य में भी स्थान दिया गया। शाहजादा घियाथशाह की जागीर में उसके अधिकार में महत्त्वपूर्ण पद था।

85. उपेन्द्रनाथ डे, *मेडिवल मालवा,* पृ॰ 422-28.

86. वही.

87. वही.

जैन व्यापारी व्यापार हेतु या तीर्थ-यात्रा हेतु जाया करते थे, और यह असंभव नहीं कि वे जिन राज्यों को जाते, वहाँ पर प्रचलित आंतरिक दशा की सूचना अपने साथ लाते और अपने राजाओं को सूचित कर देते। 1454 ई॰ में जसवीर ने मेवाड़ की यात्रा की, और राणा कुंभ की राजसभा में भी गया जहाँ राणा द्वारा उसका आदर किया गया। यह संभव है कि वह सूचना एकत्रित करने के लिए मेवाड़ गया हो।[88]

पुंजराज

कल्पसूत्र की 1198 ई॰ की प्रतिलिपि की प्रशस्ति में मांडु की स्तुति की गई है, तथा सुल्तान के राज्य में जैनी सुखी और समृद्ध थे। यह भी पता चलता है कि जैनियों का प्रशासन से संबंध अधिक हो गया, और सुल्तान घियाथशाह से उन्हें विभिन्न उपाधियां प्राप्त हुईं। पुंजराज खालसा भूमि का वजीर बना दिया गया, और उसे "मफर उलमुल्क" की उपाधि दी गई।[89]

रामपुरा का पदार्थ

रामपुरा के दो अभिलेखों से यह जाना जाता है कि पदार्थ बघेरवाल जाति का था। रामपुरा के चन्द्रावत राजा दुर्गभानु ने पदार्थ को वित्तमंत्री नियुक्त किया। दुर्गभानु के पुत्र चन्द्र ने पदार्थ को प्रधानमंत्री के पद तक ऊँचा उठा दिया, ऐसा कहा जाता है। प्रधानमंत्री के रूप में उसे सत्ता प्राप्त हुई तथा उसके प्रभाव में वृद्धि हो गई। वह तीर्थंकरों के प्रति बड़ा समर्पित था। जैन मंदिर में पर्व देखने को रवाना होते, उसने संघ को आहार और वस्त्र के उपहार दिये। स्तंभ अभिलेख पदार्थ द्वारा कूप के उत्खनन और अभिषेक करने का उल्लेख करता है।[90]

उत्तर प्रदेश के जैन राजनीतिज्ञ

रामसिंह चौहान

रामसिंह चौहान राजा चन्द्रपाल का दीवान था। उसने 996-99 ई॰ में जैन मंदिर बनवाया और उसमें चन्द्रप्रभु की मूर्ति-प्रतिष्ठा की। अभयपाल के मंत्री अमृतपाल ने चन्द्रवाड़ में जैन प्रतिमा बनवाई। जहेड़ के मंत्री सोडुसहु ने 1173 ई॰ में *भविष्य चन्द्रकथा* अपभ्रंश में लिखवाई।[91]

---

88. वही.
89. वही.
90. *EI*, XXXVI, pp. 121-23.
91. *JVPJ*.

राजस्थान के जैन राजनीतिज्ञ

राजस्थान में अनेक जैन वीर और कुशल प्रशासक हुए हैं। उन्होंने राजाओं के प्रति सच्ची स्वामीभक्ति दिखलाई और जनता की सेवा की। लोगों के सम्मुख उच्च नैतिक आदर्श रखे। लड़ाइयों और युद्धों में अपनी शूरवीरता का अद्भुत परिचय दिया। राज्यों में व्यवस्थित शासन-प्रबंध की स्थापना की। कला और संस्कृति को समृद्ध किया। कलापूर्ण भव्य मंदिरों का निर्माण किया और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। विद्वानों को प्रोत्साहन दिया एवं साहित्य और शिक्षा की उन्नति के लिए ग्रंथालयों और विद्यालयों की स्थापना की। उनकी संख्या बहुत अधिक है। संक्षिप्त निबंध में उन सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता, अतएव यहाँ उन्हीं की चर्चा की जाएगी जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

विमल

विमल ग्यारहवीं सदी का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। वह अपनी सैनिक योग्यता के कारण गुजरात के राजा भीम का मंत्री बन गया। संभवतः अपने स्वामी के साथ वह महमूद गजनी से भी लड़ा। प्रबंधों के अनुसार उसने बारह सामंतों को भी हराया। यह उल्लेख पौराणिक नहीं है किन्तु इसमें सत्य अवश्य है। ये महमूद गजनी के सामंत व सेनापति हो सकते हैं। उसने सौराष्ट्र व कच्छ को फिर से अपने स्वामी को दिलाया, जो मुस्लिम आक्रमण का लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गये थे। उसने अपने स्वामी भीम को आबू के समीप चन्द्रावती के राजा धंधुक को हराने में सहायता दी। विमल की इस सेवा के बदले में भीम ने उसे आबू का गवर्नर बना दिया। कुछ समय पश्चात् विमल ने धंधुक और भीम को समझा-बुझाकर दोनों में सुलह करा दी। भीम ने धंधुक को उसका राज्य लौटा दिया किन्तु विमल को पहले की भांति अपने प्रतिनिधि के रूप में चन्द्रावती में रखा। विमल धार्मिक प्रकृति का भी था और उसने आबू में बहुत शानदार जैन-मंदिर बनवाया।[92]

उदयन

उदयन का जन्म मारवाड़ में जालौर में हुआ था। वह श्रीमाल जाति का था। बड़े होने पर वह जालौर छोड़कर कर्णावती में जाकर बस गया। धीरे-धीरे भाग्योदय होने लगा और वह समृद्ध हो गया। उसकी यश और कीर्ति बढ़ने लगी और जयसिंह सिद्धराज ने उसको स्तंभतीर्थ का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। वह पक्का जैन भक्त था। उसने हेमचन्द्र सूरि के पिता चाचिग को अपने पुत्र को दीक्षा देने को प्रेरित किया। जब कुमारपाल अपने चाचा के कोप से अपनी प्राणरक्षा के लिए भ्रमण कर रहा था, उदयन ने ही उसको शरण दी और अंत में राजगद्दी दिलाने में भी सहायता दी। कुमारपाल ने उसे सोरठ के राजा

---

92. विमलचरित्र, *पुरातन प्रबंध संग्रह,* पृ॰ 81-82.

से लड़ने को भेजा जिसमें वह वीरगति को प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहले उसने विमलाचल और भृगुकच्छ में जैन मंदिर बनाने का दृढ़ संकल्प किया था जिसको उनके पुत्रों ने पूरा किया।[93]

वस्तुपाल

वस्तुपाल[94] तेरहवीं शताब्दी में धवलक और धोल्का के बाघेल राजा वीरधवल का प्रधानमंत्री था। वह एक कुशल शासक ही नहीं वरन् कला व साहित्य का भी प्रेमी था। पहले वह गुजरात के राजा भीमदेव का अधिकारी था किन्तु 1220 ई० मे उसने आबू के राजा वीरधवल की सेवा को स्वीकार कर लिया।[95] उसको स्तंभतीर्थ या केम्बे का गवर्नर नियुक्त किया गया जहाँ उसने बड़ी कुशलता से शासन किया। उसने भ्रष्टाचार को दूर कर लोगों का नैतिक स्तर ऊँचा किया।[96] वह एक योग्य सैनिक भी था। जब लाट प्रदेश के राजा संख ने स्तंभतीर्थ पर आक्रमण किया तो उसने उसे पराजित किया। दक्षिण के देवगिरि के राजा सिंहण और मारवाड़ के चार राजाओं ने मिलकर वीरधवल के राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसने अपने स्वामी और आक्रमणकारियों में समझौता करवा दिया। उसने वनस्थली (वन्थली, जूनागढ़) को विजय किया। वीरधवल की रानी के भ्राता सांगन और चामुंड ने कर देने से इन्कार किया तो उसने उन पर भी आक्रमण किया। वीरधवल ने उसको कच्छ में भद्रेश्वर के प्रतीहार राजा भीमसिंह पर भी आक्रमण करने को भेजा किन्तु अंत में दोनों में संधि हो गई। उसके पश्चात् वीरधवल ने गोधरा के राजा धूधुल को जीतने का भी संकल्प किया और उसके लिए वस्तुपाल ने अपने भाई तेजपाल को भेजा। उसने धूधुल को जीता और उसे बंदी बनाया।[97]

जब देहली के सुल्तान मोजदीन ने वीरधवल पर आक्रमण किया तो वस्तुपाल ने बड़े चातुर्य से उसको पीछे हटने को बाध्य किया। मोजदीन वास्तव में देहली का सुल्तान अल्तमश था। सुल्तान की माता को तीर्थ-यात्रा मक्का जाते हुए समुद्री डाकुओं ने लूट लिया किन्तु वस्तुपाल ने लूटी हुई वस्तुएँ डाकुओं से छीनकर वापिस उसकी माता को लौटाई और उसके साथ बड़ी भद्रता से व्यवहार किया। मक्का से वापिस लौटने पर वह वस्तुपाल को अपने साथ देहली ले गई और सुल्तान से मिलवाया।[98] सुल्तान ने वस्तुपाल

---

93. *प्रबंध चिंतामणि,* पृ० 67-68, पृ० 104-05.
94. *वस्तुपाल* चरित्र, 1.
95. नरनारायणनन्द, 14, 35.
96. *कीर्ति कौमुदी,* 4, 16.
97. *प्रबंधकोश,* पृ० 103, 104, 107.
98. *प्रबंधकोश,* पृ० 119, *प्रबंध चिंतामणि,* पृ० 103.

को वीरधवल के साथ मित्रता रखने का वादा किया और इस प्रकार राज्य को भली-भांति सुरक्षित किया।

वस्तुपाल धार्मिक स्वभाव का भी था। उसने शत्रुंजय व गिरनार की तेरह बार तीर्थ-यात्रा की। उसने स्थान-स्थान पर मंदिर, मठ, धर्मशालाएँ और औषधालय बनवाये।[99] उसके द्वारा आबू में बनवाया हुआ लूणवसही मंदिर प्रसिद्ध है। वह धार्मिक मामलों में उदार था और सब धर्मों का आदर करता था। उसके कार्य केवल जैनियों तक ही सीमित नहीं थे किन्तु सबके लिए थे। उसने शैव मंदिर और यहाँ तक कि मस्जिद भी बनवाई।[100]

वस्तुपाल साहित्य प्रेमी भी था। उसने अतुल धन राशि खर्च करके अणहिलवाड़ स्तंभतीर्थ और भृगुकच्छ में शास्त्रभण्डार स्थापित किये।[101] उसका स्वयं का ग्रंथभंडार बड़ा समृद्ध था। उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की प्रतियाँ थीं।[102] वह विद्वानों के प्रति बड़ा उदार था और जैन व जैनेतर विद्वानों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता था। वह स्वयं भी कवि था। उसने *आदिनाथ स्तोत्र, नेमिनाथ स्तोत्र, अंबिकास्तोत्र, नर-नारायणनंद* सूक्तियाँ, आदि लिखी हैं। दरबार में विद्वान् लोग राजा की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे क्योंकि वही उनकी योग्यता का वास्तविक पारखी था।

तेजागदहिया

मध्यकाल में राजस्थान में जैनों ने भिन्न-भिन्न राज्यों में मंत्री, सैनिक व शासक के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। जोधपुर राज्य में तेजागदहिया का नाम प्रसिद्ध है। वह मालदेव का एक स्वामीभक्त योद्धा था। 1541 ई॰ में शेरशाह ने विशाल सेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया और धोखे से मालदेव को हराया। उसने जोधपुर पर अधिकार कर हमजा को वहाँ का शासक नियुक्त किया। *ओसवाल वंशावली*[103] से पता चलता है कि तेजागदहिया ने हमजा को मृत्यु के घाट उतारकर जोधपुर को फिर से मालदेव को लौटाया। इससे उसकी बहादुरी और स्वामीभक्ति प्रकट होती है।

मुहणीत जयमल और उसका पुत्र नैणसी

मुहणीत जयमल एक योद्धा और दयालु व्यक्ति था। मुगल सम्राट् ने जालौर और सांचोर गजसिंह को दिए जिन्होंने मुहणीत जयमल को वहाँ का गवर्नर बनाया। उसने सुचारु

99. *विविध तीर्थ कल्प*, पृ॰ 78, *प्रबंध कोश*, पृ॰ 130.
100. *प्रबंधकोश*, पृ॰ 129.
101. वही.
102. *वस्तुपाल चरित्र*, पृ॰ 80.
103. *अनेकांत*, 2, पृ॰ 249.

रूप से शासन संभाला। जब मराठों ने सांचोर पर आक्रमण किया तो उसने उनको बुरी तरह से हराया। 1630 ई॰ के अकाल के अवसर पर उसने लोगों में मुफ्त अनाज बाँटकर उनके प्राणों की रक्षा की। उसका पुत्र मुहणोत नैणसी भी एक कुशल शासक और इतिहासकार था। उसने लाग व बेगार को हटाकर शासन-प्रबंध में महत्त्वपूर्ण सुधार किये। वह जसवंतसिंह का दीवान था। उसने प्रसिद्ध *मुहणोत नैणसी री ख्यात* लिखी है जो इतिहास के लिए उपयोगी ग्रंथ है।

रत्नसिंह भंडारी

रत्नसिंह भंडारी ने अपने स्वामी राठौड़ राजा अभयसिंह की सच्चाई से सेवा की। 1730 ई॰ में मुगल सम्राट् ने अभयसिंह को अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अभयसिंह ने इन दोनों प्रान्तों के शासन की देखभाल का कार्य रत्नसिंह भंडारी को सौंपा। इस समय मुगल सत्ता पतन अवस्था में थी। एक तरफ मराठा मुगल साम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर प्रान्तों में गवर्नरों के उपद्रव हो रहे थे। रत्नसिंह भंडारी को मराठों के साथ युद्ध करने पड़े और साथ में गवर्नरों के उपद्रव को भी दबाना पड़ा। रत्नसिंह भंडारी के समय जदुजी दामदे के नेतृत्व में मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसने बड़ी चतुराई से प्रान्त की रक्षा की। उसको दामजी मराठे के साथ भी लड़ना पड़ा। वीरमगाम भी उसके समय एक समस्या के रूप में बना रहा। 1737 ई॰ में मुहम्मदशाह ने अभयसिंह को हटाकर मेमिन खां को गुजरात का वाइसराय नियुक्त करने का आदेश दिया। उसने मेमिन खां का बड़ा विरोध किया तथा बड़े कौशल से उसमें और मराठों में मेल नहीं होने दिया। अन्त में मेमिन खां से उसने समझौता किया। उसे अतुल धनराशि दी और उसने अहमदाबाद से अपना अधिकार त्याग दिया। बीकानेर में जोरावरसिंह की मृत्यु के बाद 1745 ई॰ में गजसिंह और अमरसिंह में युद्ध हुआ। रतनसिंह भंडारी को अमर सिंह का पक्ष लेने के लिए भेजा गया और युद्ध में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[104]

धनराज

जब जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने 1787 ई॰ में मराठों से अजमेर जीत लिया तो उसने धनराज को अजमेर का गवर्नर बनाया। चार साल पश्चात् मराठों ने फिर से मारवाड़ पर आक्रमण किया। मेड़ता और पाटन में भयानक युद्ध हुआ जिसमें राठौड़ों की हार हुई। इस समय मराठों के सेनापति डीबोइघे ने अजमेर पर आक्रमण कर घेर लिया। धनराज ने बहादुरी से उसका सामना किया। विजयसिंह ने अजमेर को शत्रुओं को सुपुर्द

104. *सम डिस्टिंग्विश्ड जैन्स*, पृ॰ 60-63 और *जोधपुर राज्य का इतिहास*, पृ॰ 638-41.

करने का आदेश दिया। आदेश पाकर वह असमंजस में पड़ गया। अजमेर को शत्रुओं को समर्पित करना वह अपनी मानहानि मानता था तथा साथ में स्वामी के आदेश का उल्लंघन करना भी ठीक नहीं समझता था। उसने अपने जीवन का अंत करना उचित समझा। उसके पास हीरे की अंगूठी थी। उसको पीसकर वह निगल गया। उसने कहा, "महाराजा को कहना कि मेरी लाश पर ही मराठा अजमेर में प्रविष्ट हो सकते हैं" और इस प्रकार उसने अपनी वीरता तथा स्वामीभक्ति का परिचय दिया।

शमशेर सिंह बहादुर

शमशेर सिंह बहादुर भी महाराजा विजयसिंह के सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। इस पर प्रसन्न होकर विजयसिंह ने 1792 ई॰ में उसे रावराजा की उपाधि दी और 29000 की जागीर दी।[105]

इन्द्रराज सिंघी

जयपुर के राजा जगतसिंह ने धोंकलसिंह का पक्ष लेकर विशाल सेना के साथ मारवाड़ पर आक्रमण कर दिया। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह, पिंडारी अमीर खां और अन्य सरदारों ने भी आक्रमणकारी का साथ दिया। उन्होंने मारोठ, मेड़ता, परबतसर, नागौर, पाली, सोजत, आदि पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि जोधपुर नगर पर भी इनका अधिकार हो गया। केवल दुर्ग पर महाराजा का अधिकार रहा। ऐसी परिस्थिति में सिंघी इन्द्रराज दुर्ग के गुप्त मार्ग से अपने साथियों सहित बाहर निकला। मेड़ता में आकर उसने नई सेना एकत्रित की। उसने पिंडारियों के नेता अमीर खां को एक लाख रुपये की रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया। वह सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण करने को रवाना हुआ। जब जगतसिंह को पता चला तो उसने राय शिवलाल के नेतृत्व में जयपुर की रक्षा के लिए सेना भेजी। अमीर खां और सिंघी इन्द्रराज ने इस सेना को टोंक के पास फागी नामक स्थान पर बुरी तरह से हराया। जब जगतसिंह को इसका समाचार मिला तो उसने घेरा हटा लिया और जयपुर को रवाना हो गया।

सिंघी इन्द्रराज के जोधपुर लौटने पर मानसिंह ने उसका बड़ा सम्मान किया और उसको मुख्यमंत्री बना दिया। इसके पश्चात् सिंघी इन्द्रराज को बीकानेर पर आक्रमण करंने को भेजा गया और बीकानेर महाराजा को चार लाख रुपये संधि करके देने पड़े। उसने अपने स्वामी को अमीर खां के षड्यंत्रों से भी बचाया किन्तु अमीर खां के पठानों ने सिंघी का वध कर दिया। मृत्यु उपरान्त उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर महाराजा ने उसके पुत्र फतेहराज को दीवानगी तथा 25 हजार की जागीर दी।[106]

105. *ओसवाल जाति का इतिहास*, पृ॰ 55.
106. वही, पृ॰ 59-63.

बीकानेर के वीर शासक

नागराज

बीकानेर के जैन शासकों में नागराज का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह जैत्रसिंह का स्वामीभक्त अधिकारी था। जब जोधपुर के राठौर राजा मालदेव ने बीकानेर को विजय करने की सोची तो जैत्रसिंह ने नागराज को शेरशाह के पास सहायता के लिए भेजा। जैत्रसिंह मालदेव के साथ लड़ता हुआ मारा गया और बीकानेर पर मालदेव का अधिकार हो गया। नागराज ने शेरशाह को मालदेव पर आक्रमण के लिए उकसाया। युद्ध होने पर मालदेव बुरी तरह से हारा और जैत्रसिंह के पुत्र कल्याणसिंह ने परिस्थिति का लाभ उठाकर फिर से बीकानेर पर अपना अधिकार कर लिया।

कर्मचन्द्र बच्छावत

कर्मचन्द्र बच्छावत उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ, सेनापति और धार्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। वह रायसिंह का मुख्यमंत्री था। जब जोधपुर के राठौड़ अभयसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने अपने स्वामी को संधि की राय दी क्योंकि उस समय राज्य युद्ध के लिए तैयार न था। जब नागोर के मिर्जा इब्राहिम ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने उसको भगा दिया। उसके प्रयत्नों से बीकानेर राज्य की सीमा बढ़ी।

कर्मचन्द्र बच्छावत ने जैन धर्म के उत्थान में योगदान दिया। उसने तीर्थयात्रा-संघ निकाले। 1555 ई॰ में बड़ी धूमधाम से उसने जिनचन्द्र सूरि का नगर प्रवेश मनाया। 1578 ई॰ में अकाल के अवसर पर लोगों में मुफ्त अनाज वितरण कर उनके प्राणों की रक्षा की। उसने बहुत-सी मूर्तियाँ मुसलमानों द्वारा नष्ट होने से बचाईं और उन्हें बीकानेर के चिंतामणि के मंदिर में सुरक्षित रखा। उसके प्रभाव के कारण ही अकबर के मन में जैन धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और 1592 ई॰ में उसने जिनचन्द्र सूरि को स्तंभतीर्थ से लाहौर में आमंत्रित किया।

कर्मचन्द्र दूरदर्शी भी था। जब उसने रायसिंह की फिजूलखर्ची के कारण राज्य का खजाना खाली होते देखा तो राजा को समझाने का भी प्रयत्न किया। इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। उसके शत्रुओं ने भी राजा के कान भर दिए। रायसिंह ने कर्मचन्द्र को बन्दी बनाकर वध करने का षड्यंत्र किया। किसी भांति पता चलने पर वह बीकानेर छोड़कर देहली चला गया जहाँ सम्राट् अकबर ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया।[107]

अमरचन्द्र सुराणा

अमरचन्द्र सुराणा सूरतसिंह के समय दीवान रहा। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था

107. वही, पृ॰ 100-04 *कर्मचन्द्रवंश-प्रबंध* और *कर्मचन्द्र वंशोतकीर्तनकाव्यम्.*

सामंतों के विद्रोह को कुचलना। उसने भट्टियों के सुल्तान जब्त खां को हराकर किले पर अधिकार किया। उसने ठाकुर नाहरसिंह और पूर्णसिंह पर आक्रमण कर उनको बंदी बनाया। 1815 में वह चुरु के राजा शिवसिंह से लड़ने भेजा गया। शिवसिंह ने आत्महत्या कर ली और अमरसिंह ने चुरु पर अपने स्वामी का आधिपत्य स्थापित कर दिया। महाराजा सूरतसिंह ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे विशेष सम्मान दिया। उसके शत्रु इसको सहन न कर सके और उसके विरुद्ध षडयंत्र किया। महाराजा को बहकाया गया कि वह आपके खिलाफ पिंडारियों के नेता अमीर खां से मिल गया है।[108]

उदयपुर के वीर शासक

आशाशाह और मेहता चीलजी

उदयपुर राज्य में भी अनेक जैन सैनिक, सेनापति व शासक हुए हैं। उनमें आशाशाह भी था जो कुंभलमेर का किलेदार था। जब पन्ना धाय उदयसिंह को बनवीर के पंजों से छुड़ाकर आशाशाह के पास रक्षा के लिए आई तो उसने उसको शरण दी। इस बात को गुप्त रखने के लिए वह उदयसिंह को अपना भतीजा पुकारने लगा। जब उदयसिंह बड़ा हुआ तो उसने कुछ सरदारों की सहायता से उसे राजगद्दी पर बिठाया और राजवंश को नष्ट होने से बचाया।[109] इस समय एक अन्य राज्य के अधिकारी मेहता चीलजी ने भी स्वामीभक्ति का परिचय दिया। यद्यपि यह बनवीर के अधीन चित्तौड़ का किलेदार था। उसने दुर्ग की सब गुप्त बातें जयसिंह को बतला दीं जब उसने आक्रमण किया।[110]

भामाशाह

भामाशाह ने भी स्वामीभक्ति का एक उच्च उदाहरण रखा। जब महाराणा को सम्राट् अकबर से लड़ने के लिए धन की अवश्यकता पड़ी तो उसने अपनी समस्त संपत्ति महाराणा को समर्पित कर दी। इसके द्वारा महाराणा बिखरी हुई सेना एकत्रित कर सके और अकबर के साथ फिर से युद्ध शुरू कर सके। इस सहायता के परिणामस्वरूप महाराणा ने चित्तौड़, अजमेर व मांडलगढ़ को छोड़कर समस्त मेवाड़ को पुनः हस्तगत कर लिया।[111]

संघवी दयालदास

संघवी दयालदास महाराणा राजसिंह का दीवान था। जब 1679 में औरंगजेब ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो उसने अद्भुत शूरवीरता का परिचय दिया। वह धार्मिक प्रकृति का

108. *सम डिस्टिंग्विश्ड जैन्स*, पृ॰ 71-74.
109. *ओसवाल जाति का इतिहास*, पृ॰ 70-71.
110. वही, पृ॰ 71-72.
111. *उदयपुर राज्य का इतिहास*, 1304-05 और *वीर विनोद*, पृ॰ 251.

भी था। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से महाराणा से आदेश निकलवाकर उसने जैन मंदिरों व उपाश्रयों के आसपास पशु हिंसा को बन्द करवा दिया। उसने राजसमंद के समीप पहाड़ी पर दुर्ग के आकार के जैन मंदिर का निर्माण करवाया।[112]

मेहता अगरचन्द

अठारहवीं सदी में मेहता अगरचन्द मेवाड़ के एक सफल राजनीतिज्ञ हुए हैं। इस समय मेवाड़ पर मराठों के लगातार आक्रमण हो रहे थे। महाराणा और सरदारों के बीच मनमुटाव था। ऐसी परिस्थिति में मेहता अगरचन्द को दीवान बनाया गया। सर्वप्रथम मेहताजी ने महाराणा और सरदारों के बीच समझौता कराकर राज्य में शांति व एकता स्थापित की। जब रत्नसिंह ने सिंधिया और सामंतों से मिलकर महाराणा के विरुद्ध षडयंत्र किया, तब मेहता अगरचन्द ने ही उनको बचाया। रामपुरा के चूड़ावतों के शरण देने पर जब ग्वालियर के सिंधिया ने महाराणा पर आक्रमण किया तो मेहताजी के प्रयत्नों से ही महाराणा को पूर्ण सफलता मिली। गवर्नर के रूप में इन्होंने मांडलगढ़ का शासन-प्रबंध भी बड़े सुचारु रूप से किया। इन्होंने तालाब बनवाये और दुर्ग की मरम्मत की।[113]

मेहता देवीचन्द

महाराणा भीमसिंह के समय मेहता देवीचन्द भी कुशल प्रशासक हुए हैं। कुछ दबाव के कारण महाराणा भीमसिंह मांडलगढ़ का दुर्ग झाला जालिमसिंह को देने को तैयार हो गये थे। देवीसिंह ने महाराणा के आदेश पर ध्यान न देकर अपना अधिकार बनाए रखा क्योंकि उसे भय था कि माडंलगढ़ सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है और जालिमसिंह युद्ध की तैयारी कर रहा है। देवीचन्द ने झाला पर आक्रमण कर सीमा पर से उसकी सेना को हटाया। महाराणा इस पर उससे प्रसन्न हुए।[114]

जयपुर के वीर शासक

जयपुर राज्य के इतिहास में भी जैनियों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। करीब पचास जैनियों ने राज्य का कार्य मंत्री के रूप में किया है और राज्य की महान् सेवा की है। इनमें कुछ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

शाह नानू

शाह नानू आमेर के राजा मानसिंह का प्रधानमंत्री था। अकबर ने मानसिंह को बंग देश का गवर्नर नियुक्त किया। ऐसा ज्ञात होता है कि नानू को अपने स्वामी के कर्त्तव्यों के

112. वही.

113. वही, पृ० 1331 और *ओसवाल जाति का इतिहास*, पृ० 77-82.

114. *ओसवाल जाति का इतिहास*, पृ० 87-88 और *उदयपुर राज्य का इतिहास*, पृ० 1313-16.

संबंध में अनेक बार बंगाल जाना पड़ा। उसने बंगदेश में चम्पानगर के समीप अकूच्छपुर (अकबरपुरा) में वि॰ सं॰ 1659 में *यशोधर चरित्र* आदिनाथ के मंदिर में ज्ञान कीर्ति से लिखवाया। उसने सम्मेद शिखर में तीर्थंकरों के बीस जैन मंदिर बनवाए और इस पवित्र स्थान की अनेक बार यात्रा की।

विमलदास

विमलदास महाराजा रामसिंह प्रथम (1668-90 ई॰) और बिशनसिंह का दीवान था। वह एक योद्धा भी था और लालसोट की लड़ाई में मारा गया था। उसकी यादगार में एक छत्री भी बनी हुई है।

रामचन्द्र

विमलदास के पश्चात् उसका पुत्र रामचन्द्र प्रधानमंत्री हुआ और उसने बिशनसिंह और उसके उत्तराधिकारी सवाई जयसिंह के अधीन कार्य किया। 1707 ई॰ में मुगल सम्राट् बहादुरशाह ने आंबेर पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने सैयद हुसैन को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। जयसिंह ने अपने मंत्री रामचन्द्र को साथ लेकर मेवाड़ के महाराणा के यहाँ शरण ली। तत्पश्चात् रामचन्द्र ने सेना को भली-भांति संगठित करके आंबेर पर आक्रमण किया और हुसैन खां को आंबेर छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार से आंबेर को शत्रु के पंजों से मुक्त किया और सवाई जयसिंह का आधिपत्य फिर से स्थापित किया। इस पर महाराजा सवाई जयसिंह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इस सेवा के बदले में उन्हें भूमि दान दी और उनका नाम सिक्कों पर "बन्दे दीवान रामचन्द्र" लिखा जाने लगा। रामचन्द्र न्याय के लिए भी प्रसिद्ध थे, जब जोधपुर और जयपुर के महाराजाओं में सांभर के विभाजन के बारे में झगड़े होने की संभावना थी तो दोनों ने रामचन्द्र को मध्यस्थ नियुक्त किया और उसका निर्णय दोनों को मान्य हुआ।[115]

कृपाराम और विजयराम छाबड़ा

सवाई जयसिंह के समय अन्य जो स्वामीभक्त सेवक था, वह कृपाराम था। वह देहली में राजदूत था। सवाई जयसिंह के प्रतिद्वन्द्वी विजयसिंह ने जयसिंह के विरुद्ध मुगल सम्राट् और उसके वजीर कमरुद्दीन को अपने पक्ष में किया और पाँच करोड़ रुपये और पाँच हजार घोड़े देने का वादा किया। राव कृपाराम को इस षडयंत्र का पता दाऊद खां के द्वारा हुआ और उसने अपने स्वामी को सचेत कर दिया। इस पर वह कृपाराम से बहुत प्रसन्न हुआ और उसको मनोहरपुर का ग्राम दिया।[116] विजयराम छाबड़ा भी सवाई

115. *वीरवाणी*, प्रथम जिल्द, पृ॰ 68-83 और *राजपूताने का इतिहास*, पृ॰ 915-16.

116. *एनल्स एण्ड एंटिक्विटी ऑफ राजस्थान*, पृ॰ 592.

जयसिंह का मंत्री रहा है। सवाई जयसिंह की बहन मुगल सम्राट् बहादुरशाह से ब्याही जा रही थी। विजयसिंह छाबड़ा के प्रयत्नों से उसका विवाह बूंदी के राजा बुधसिंह हाड़ा से हुआ। बाद में उसने मुगल सम्राट् बहादुरशाह और सवाई जयसिंह में समझौता भी करवा दिया।

हरिसिंह

हरिसिंह एक कुशल प्रशासक था। सवाई जयसिंह को मुगलों से शेखावटी इजार के रूप में मिली थी। इस कारण 1726 व 1727 में उसने कर एकत्रित करने को हरिसिंह को नियुक्त किया। इस क्षेत्र पर क्यामखानी नवाबों का अधिकार चला आ रहा था। उन्होंने कर देने से मना कर दिया और चारों ओर उपद्रव होने लगे। हरिसिंह ने सेना की सहायता से उपद्रव को दबा दिया और शेखवाटी में जयसिंह की सत्ता की स्थापना की।

रामचन्द्र

रामचन्द्र एक चतुर राजनीतिज्ञ था। कृष्णकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर व जोधपुर के राजाओं में झगड़ा होने की संभावना थी किन्तु रामचन्द्र के प्रयत्नों से वह टला। जब जोधपुर के राठौड़ों और अमीर खां ने जयपुर पर आक्रमण करने का संकल्प किया, तो रामचन्द्र की समझदारी से ही स्वामी और नगर की रक्षा हो सकी।

शिवाजीलाल

शिवाजीलाल एक योग्य राज्य अधिकारी था। महाराजा प्रताप सिंह के समय में कर-व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं थी और उसमें अनेक अनियमितताएँ थीं। शिवाजीलाल ने व्यवस्थित शासन-प्रबंध स्थापित कर उनको दूर किया और आय के बहुत से साधन जुटाये। उसने नमक का प्रबंध भी ठीक ढंग से किया। महाराजा ने उसको राठौड़ों और पिंडारियों से युद्धों में लड़ने को भी भेजा और उसने अपनी शूरवीरता दिखलाई। इसके बदले में महाराजा ने उसे खिताब दिए।

झूंताराम संघी

उन्नीसवीं सदी में संघी झूंताराम[117] भी एक प्रसिद्ध मंत्री हो गया। जयपुर दरबार में उसका इतना प्रभाव था कि कर्नल टाड ने उसको झूंता दरबार और बनियाराज कहा है। कर्नल टाड के विचार पक्षपातपूर्ण हैं। झूंताराम के प्रभाव के कारण जयपुर ने ब्रिटिश समझौते को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह भविष्य के परिणाम को जानता था। अंत में ब्रिटिश शासन ने सामोद के ठाकुर बैरीसाल को अपने पक्ष में फोड़ लिया। बैरीसाल और झूंताराम

117. *रिपोर्ट ऑन पंचापन सिंधाना,* पृ० 9-10 *ए रिपोर्ट ऑन दी लैड रीन्योर्ज एण्ड स्पेशल पावर्स ऑफ सर्टेन् ठिकानेदार्स ऑफ दी जयपुर स्टेट,* पृ० 45-46.

में आपसी शत्रुता चली आ रही थी। बाद में अंग्रेज़ों और बैरीसाल ने षडयंत्र से इस का पतन किया।[118]

कृष्णदास

बघेर जाति का समृद्ध बनिया कृष्णदास कोटा के चौहान राजा किशोरसिंह का प्रधानमंत्री था। किशोरसिंह मुगल सम्राट् औरंगज़ेब का प्रधानमंत्री था। वह जैन धर्म के प्रति बहुत समर्पित था। उसने औरंगज़ेब के राज्य में महावीर का जैन मंदिर बनवाया, और चांदखेड़ी में 1689 ई० में अपनी पत्नी और बच्चों के साथ मंदिर और मूर्तियों का प्रतिष्ठा समारोह मनाया। वह जैन मंदिर बना सका क्योंकि औरंगज़ेब दक्षिण में था जहाँ किशोरसिंह स्वामीभक्ति से उसकी सेवा कर रहा था। कृष्णदास अपने स्वामी किशोरसिंह के प्रति स्वामीभक्त था। इसके उपरांत भी बार-बार पूछा जा रहा था कि साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध मंदिर क्यों बनता जा रहा है? स्थानीय अधिकारी लगातार टालने के उत्तर भेजते गए चूंकि वे जानते थे कि सम्राट् का अंत समीप था।

श्रावक

कुछ श्रावक जैन धर्म के बड़े आश्रयदाता थे। वे समृद्ध थे, और अपना धन धर्म प्रचार हेतु खर्च करते थे। वे उच्च चरित्रवान थे। महत्त्वपूर्ण श्रावक निम्न हैं।

राहड़

राहड़ बुद्धिमान, लोकप्रिय, धार्मिक और सज्जन व्यक्ति था। धर्म के नियमों के अनुसार वह बिम्ब पूजा करता था। वह साधुओं की स्तुति करता था, उनके उपदेशों का सुनता था, गरीबों को दान में धन देता था, अधिक-से-अधिक योग्यता के अनुसार तपश्चर्या करता था और श्रावक के व्रतों का पालन करता था।[119]

आहड़

प्रबंध चिंतामणि से ज्ञात होता है कि आहड़ कुमारपाल के समय एक धनी जैन था। उसने एक निर्धन के रूप में जीवन शुरू किया था। एक बार उसका भाग्य खुल गया और वह बहुत धनी हो गया। वह हेमसूरि का अनुयायी था, और जैनियों के धार्मिक समारोहों को बड़ी श्रद्धा से करता था। वह बड़ा दानी भी था।[120]

---

118. *जयपुर स्टेट ट्राइल्स.*
119. *जैनिज्म इन गुजरात,* पृ० 102.
120. वही, पृ० 103.

छड़क सेठ और कुबेर

कुमारपाल के समय जैन करोड़पति थे।[121] यशपाल के अनुसार कुबेर के पास छः करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ, 8000 मन चांदी, 80 मन जवाहरात, 50,000 घोड़े, 1000 हाथी, 80,000 गायें, 500 हल, 500 दुकानें, 500 गाड़ियाँ, आदि थीं। यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह बहुत धनी था।

जगदु

जगदु सोल का पुत्र था। जगदु के बारे में अनेक कहानियां कही जाती हैं। सर्वनन्द सूरि से ज्ञात होता है कि जगदु का भाग्य खुल गया और वह बिना परिश्रम के बहुत धनी हो गया। वि॰ सं॰ 1313 से 1315 व वि॰ सं॰ 1315 से 1317 तक तीन बड़े अकाल पड़े। जगदु ने लोगों में बहुत अनाज बाँटा। इसमें अतिशयोक्ति हो सकती है लेकिन यह निश्चित है कि उसने देश के विभिन्न भागों में अनेक आहारगृह स्थापित किए, उदारता से गरीबों को आहार दिया और अणहिलवाड़ के बीसलदेव और भारत के अन्य राजाओं को अकाल के दिनों में सहायता दी।

जगदु के अनेक पवित्र और धार्मिक कार्यों की जानकारी मिलती है। उसने भद्रेश्वर, धंक, वढ़वाना, देवकुल, आदि स्थानों पर मंदिर बनवाए और उनमें मूर्तियाँ विराजमान कीं। उसने तीन बार गिरनार और शत्रुंजय की यात्रा की। उसने अनेक गाँवों और नगरों में कूप खुदवाए।

जगदु की मृत्यु की तिथि का पता नहीं है। *जगदु चरित्र* से यह प्रतीत होता है कि वह भीषण अकाल के पश्चात भी जीवित रहा। वह वि॰ सं॰ 1331 के पहले मृत्यु को प्राप्त हो गया।[122]

मध्य प्रदेश के जैन राजनीतिज्ञ

पेथड़

पेथड़ इस काल का अन्य प्रमुख जैन था। उसके पिता का नाम देद था। उसके गुरु ने आगे बढ़ने के लिए मंडपदुर्ग जाने के लिए राय दी। पेथड़ ने अपने आध्यात्मिक गुरु की आज्ञानुसार कार्य किया और बहुत समृद्ध हो गया। मालवा के परमार राजा जयसिंह ने उसका अधिक सम्मान किया और उसे राजकीय पताका (चिह्न) दी।

धर्मघोष सूरि, जिसने पेथड़ को भाग्य फलने के लिए मालवा जाने को समझाया था, स्वयं मंडपदुर्ग आया, और उसको जैन मंदिर बनवाने की सलाह दी। पेथड़ ने सूरिजी

121. वही, पृ॰ 103.

122. वही, पृ॰ 152-58.

के कहने पर भारत के भिन्न-भिन्न हिस्सों में चौरासी जैन मंदिर बनवाए। उसका मांडवगढ़ का महल रमणीय है। यह अनेक वस्तुओं से सुसज्जित है जिसमें अठारह लाख व्यय हुए। पेथड़ ने शत्रुंजय की पहाड़ी पर शांतिनाथ का मंदिर बनवाया। उसने देवगिरि में भी जैन मंदिर निर्मित करवाया। उसे इस मंदिर के निर्माण में बहुत धन व्यय करना पड़ा। इसे अमूल्य प्रासाद के नाम से पुकारा गया।

पेथड़ ने शत्रुंजय, गिरनार और आबू की यात्रा की। उसने परिग्रह प्रमाण व्रत व जैन श्रावक का पंचम व्रत लिया, जब वह विद्यापुर व वीजापुर में था।

झांझण

पेथड़ का पुत्र झांझण था। उसने देहली के भीमसेठ की पुत्री सौभाग्यदेवी से विवाह किया। 1284 ई० में वह धर्मघोष सूरि और जैन संघ के साथ मंडपदुर्ग से रवाना हुआ और शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा की। मार्ग में वह बलपुर, चित्रकूट (चित्तौड़), अर्बुदगिरि, चन्द्रावती, प्रह्लादनपुर (पालनपुर), अणहिलपुर, तारणगिरि (तारंगा), कर्णावती और बहुत से अन्य स्थानों पर भी गया। झांझण ने बलपुर में चौबीस मूर्तियों की स्थापना की और अपने गुरु धर्मघोष सूरि की राय पर कराहेटक में पार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया। कर्णावती में उसने भाट को अच्छी कविता रचने के लिए इनाम दिया, 96 बंदियों को छुड़वा दिया और गुजरात के सारंगदेव के साथ भोज लिया।[123]

उपदेश तरंगिणी के अनुसार झांझणशाह ने जब यह सुना कि थरपद्र व थरद के आभु श्रीमाली, जिसने पश्चिम मंडलिक का विरुप धारण कर रखा था इस स्थान पर आया है। जैनियों को बिना भोजन खिलाए वह स्वयं नहीं खाता था। वह 32000 श्रावकों के संघ के साथ थरपद्र गया और आभु के निवास पर रहा। उस दिन आभुशाह धार्मिक समारोह में व्यस्त रहा किंतु उसके भाई जिनदास ने संघ को खिलाया और जैनियों को उपहार दिए। अगले दिन झांझण आभु के चरणों में गिर गया और कपट के लिये क्षमा मांगी।

झांझण अपने पिता के अनुसार जिन का उच्च अनुयायी, जैन समुदाय का प्रभावशाली सदस्य और महान दानी था।[124]

समरसिंह

समरसिंह, जिसने शत्रुंजय की पहाड़ी के आदिनाथ के जैन मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया, उपकेश वंश का था। अणहिलवाड़ समरसिंह की इच्छा का निवास-स्थान था। समरसिंह गुजरात की प्राचीन राजधानी का जौहरी था। राजसभा में इसका बड़ा प्रभाव था। जब

---

123. वही, पृ० 161-62.

124. वही, पृ० 172-80.

शत्रुंजय की पहाड़ी का आदिनाथ का जैन मंदिर मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया, उसने मंदिर के जीर्णोद्धार कराने का फरमान प्राप्त किया। जब जैनियों को फरमान का पता चला तो उन्होंने समरशाह का शानदार स्वागत किया। बाद में समरशाह ने जैन संघ के साथ शत्रुंजय की पवित्र पहाड़ी की यात्रा के लिए अपना विचार बनाया, तथा नवनिर्मित मंदिर में आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना की। जैन साधु तथा प्रमुख जैन श्रावक संघ में सम्मिलित हुए। गुजरात का सूबेदार अल्पखान, जिसने मंदिर को पुनः निर्माण की अनुमति दी थी, ने संघ की रक्षा के लिए दशरक्षक नियुक्त किए।

जब संघ पालिताना पहुँचा, समरसिंह शाह ने शिविर लगाया। इस समय उसका भाई सहजपाल देवगिरि से और साहणकेम्बे स्तंभतीर्थ से संघ के साथ पालिताना आये। समरसिंह ने पवित्र पहाड़ी पर बने हुए मंदिर में आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। मूर्ति प्रतिष्ठा करने के समारोह के सम्मान में उपकेशगच्छ के सिद्धसूरि और तपागच्छ के रत्नाकर सूरि सहकारी हुए। इस घटना को मनाने के लिये समरसिंह के पिता देशल द्वारा पर्व का आयोजन किया गया। समरसिंह संघ के साथ पालिताना से गिरनार गया और नेमिनाथ की पूजा की। वह गिरनार से देवपट्टन गया जहाँ राजा द्वारा उसका हार्दिक स्वागत किया गया। इसके पश्चात् संघ दिव गया। दिव से संघ अणहिलवाड़ गया। जैन संघ ने उसका धूमधाम से स्वागत किया। *नाभिनंदनोद्धार प्रबन्ध* के अनुसार सम्राट् ग्यायुद्दीन समरशाह से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसका उच्च सम्मान किया। वह तैलंग देश का सूबेदार नियुक्त किया गया जहाँ उसने अनेक बंदियों को मुक्त किया, और अनेक राजाओं को उपकृत किया।[125]

कर्मशाह

कर्मशाह ओसवाल जाति के चित्तौड़ के तोलाशाह का पुत्र था। उसकी माँ का नाम लिण्ड था। वह चित्तौड़ का प्रसिद्ध वस्त्र व्यापारी था। एक बार जब गुजरात के राजकुमार बहादुरशाह ने चित्तौड़ की यात्रा की, उसकी कर्मशाह से जान-पहचान हो गई, जिससे उसने वस्त्र खरीदा। युवक राजकुमार ने कर्मशाह को पसंद किया, और फिर शीघ्र उसका मित्र हो गया। जब गुजरात जाते धन की आवश्यकता हुई, कर्मशाह ने बिना किसी शर्त के उसे एक लाख रुपये दे दिये। 1526 ई॰ में बहादुरशाह गुजरात का राजा हो गया। जब कर्मशाह को इसका पता चला, वह अहमदाबाद गया जहाँ राजा द्वारा उसका भली-भाँति स्वागत किया गया। बहादुरशाह ने उधार लिया हुआ धन लौटा दिया, और बनिया से पूछा कि उसके लिये वह क्या कर सकता है? इस पर कर्मशाह ने बहादुर को शत्रुंजय

125. वही, पृ॰ 172-80.

की पहाड़ी पर मंदिर की मरम्मत करने का फरमान देने की प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और उसे फरमान दिया।

1531 ई॰ में कर्मशाह ने शत्रुंजय की पहाड़ी के समरसिंह के मंदिर का जीर्णोद्धार किया। उसके द्वारा 1531 ई॰ में पुंडरीक स्वामी मंदिर का निर्माण किया गया। अद्रेश्वरतुंग में रायपादुका मंदिर 1531 ई॰ में उसके द्वारा बनवाया गया। अद्रेश्वरतुंग में चक्रेश्वरी देवी का मंदिर 1531 ई॰ में उसके द्वारा खड़ा किया गया।[126]

पाड़ाशाह

पाड़ाशाह भैंसाशाह के नाम से भी जाना जाता था। इस नाम की उत्पत्ति पाड़ा व भैंसा से हुई। अनुश्रुतियों के अनुसार वह बुन्देलखंड के थुबोजा का रहने वाला था। वह गहोइ जाति का था। वह रांगा का व्यापार करता था और काफी समृद्ध हो गया था।

पाड़ाशाह जैन धर्म के प्रति समर्पित था। उसने अनेक मंदिर तथा शान्तिनाथ की मूर्तियाँ बनवाईं। बजरंगगढ़ में शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अर्हनाथ की कायोत्सर्ग-मुद्रा में मनोहर मूर्तियाँ हैं। इनकी प्रतिष्ठा वि॰ सं॰ 1236 में हुई थी। उसने शांतिनाथ की मूर्ति गुदिलगिरी, मुंगावली तहसील, गुना जिले में विराजमान की। आहारजी, खानपुरा, झालरापाटन, थुबोण, भियादंत, बर्गी, भाभोना, सतना, सुझेका, पहाड़, पचराई सेरनजी, सोनगिरी, आदि में पाड़ाशाह द्वारा जैन मंदिर बनवाये गए।

---

126. *गुजरात में जैन धर्म*, पृ॰ 236-40.

8

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

जैन धर्म के ऐतिहासिक सर्वेक्षण का किया हुआ प्रयास भारतवर्ष के विभिन्न भागों में इसके क्रमिक प्रसार के बारे में जानकारी देता है। नौवीं सदी से बारहवीं शताब्दी का काल जैन धर्म के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है क्योंकि इस समय जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई। इसने भारतीय संस्कृति को विभिन्न क्षेत्रों में समृद्ध किया। जैन साधुओं का उच्च आदर्शों का जीवन प्रेरणादायक था और जैन श्रावक भी अपने धर्म के प्रति समर्पित थे। जैन धर्म अन्य धर्मों जैसे बौद्ध धर्म, वैष्णव धर्म और अन्य धर्मों के साथ फला-फूला। जैन धर्म की कुछ विशिष्ट विशेषताएं हैं। भारतीय संस्कृति को विभिन्न क्षेत्रों में इसकी देन इस प्रकार है।

नैतिक क्षेत्र

जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को विभिन्न क्षेत्रों में देन दी है किन्तु नैतिक क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस धर्म में लोगों के उत्थान के लिए एक नैतिक विधान रहा क्योंकि जैनियों ने नैतिकता का प्रचार किया। पार्श्वनाथ ने चार व्रतों का प्रचार किया – अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह।

इन चार व्रतों में महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी जोड़ दिया। महावीर के पश्चात् तदनुसार जैन आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंक, जिनेश्वर सूरि, हेमचन्द्र और हीरविजय सूरि ने बिना जाति-पाँति का ध्यान दिए लोगों में नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार किया।

अहिंसा

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को यथार्थ देन अहिंसा की है। यद्यपि यह सिद्धान्त अधिकतर भारतीय धर्मों के द्वारा समय-समय पर विभिन्न मात्राओं में अपनाया गया, किन्तु जैन धर्म द्वारा इसका प्रचार सूक्ष्म रूप में भी प्रयोग हुआ। *छान्दोग्य उपनिषद्*[1] में अहिंसा का

---

1. III. 17.6.

उल्लेख है। यद्यपि बौद्ध धर्म भी अहिंसा के सिद्धान्त का उल्लेख करता है, किन्तु वह जैन धर्म से भिन्न है। बुद्ध का कहना है कि मांस खाने से मनुष्य पतित नहीं होता, किन्तु बुरे कर्मों से होता है। अशोक के अभिलेखों से यह जाना जाता है कि उसने पशुओं के वध को रोक दिया। जैन धर्म में इस सिद्धान्त को मन, वचन और कर्म से अपनाया गया। स्वयं जीओ और दूसरों को भी जीने दो। सब जीव जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। जीवों पर दया करके मनुष्य स्वयं अपने पर दया करता है। महावीर के पहले पशुओं का बहुत वध होता था जिससे जीवों को कष्ट होता था। हिंसा की क्रिया ने समाज के वातावरण को गन्दा कर दिया था। धार्मिक यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी जो देवताओं को प्रसन्न करने के लिए की जाती थी। जैनियों के अहिंसा के सिद्धान्त के कारण वैदिक यज्ञों और कर्मकाण्डों में हिंसा के तत्त्व कम हो गये थे। इसी अहिंसा के सिद्धान्त के कारण भारत के अधिकतर लोग धीरे-धीरे शाकाहारी हो गए। भारत के कुछ राजाओं ने अपने राज्य में कुछ दिनों के लिए अहिंसा का सख्ती से पालन करवाया था। नाडोल के राजा महाराज आल्हणदेव चौहान ने 1152 ई० में अपने राज्य में कुछ निश्चित दिनों के लिए पशुओं के वध को बन्द करवाने के लिए अपनी जनता को निषेधाज्ञा जारी की।[2] देवेन्द्र सूरि से प्रेरित होकर मेवाड़ के राजा समरसिंह ने अपने राज्य में पशुवध बन्द करवाने का आदेश निकाला।[3] देवसूरि के प्रचार से प्रभावित होकर महराणा जगतसिंह ने मछलियों और अन्य जीवों का निश्चित झीलों से पकड़ना तथा पशुओं का वध भी बन्द करवा दिया था।[4] महान् मुगल सम्राट् अकबर ने भी जैन साधु हीरविजय सूरि और जिनचन्द्र सूरि की प्रेरणा से पशुओं का वध रुकवा दिया था।[5] जीवों, पशुओं और पक्षियों को खिलाने और ठीक देख-भाल करने की प्रथा अहिंसा के परिणामस्वरूप ही कारगर हो सकी। राजस्थान के पूर्व प्रतापगढ़ राज्य के देवली[6] नामक स्थान पर जैन मन्दिर में अंकित 1715 ई० का अभिलेख उल्लेख करता है कि इस नगर के तेलियों ने महारावल पृथ्वीसिंह के राज्य में महाजन समूह के सारैया और जीवराज की प्रार्थना पर साल में 44 दिनों के लिए अपनी घाणियों को बन्द कर दिया था।

अहिंसा का मतलब यह नहीं है कि जैन धर्म युद्ध में उचित कारण के लिए अनुमति नहीं देता हो। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां अनेक जैन शूरवीर जैसे चामुण्डराय, शान्तिनाथ, मंग और बप्प युद्ध में मातृभूमि के लिए आत्मगौरव और

2. *एपि०इण्डि०*, 1 पृ० 43-46.
3. *ए०रि०रा०म्यू०अ०*, वर्ष 1922-23 सं० 8 और 9.
4. *दिग्विजय महाकाव्य* (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, जिल्द XIV (भूमिका).
5. कैलाशचन्द जैन, *जैनिज्म इन राजस्थान*, शोलापुर, पृ० 210.
6. *ए०रि०रा०म्यू०अ०*, वर्ष 1934-35 सं० 17.

परिवार की प्रतिष्ठा के लिए अन्य धर्मों के अनुयायियों से पीछे नहीं रहे। जैन-धर्म में निर्देशित अहिंसा का उल्लंघन नहीं है। यह केवल गलत कारण के लिए ही युद्धों को रोकता है।

अपरिग्रह

भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की अन्य नैतिक देन अपरिग्रह की है। जैन आचार्य न तो अपने पास कुछ रखते हैं और न कुछ चाहते हैं। वे भय और इच्छा से मुक्त हैं। यह स्वाभाविक ही था कि जो लोग उनके सम्पर्क में आये वे उनके त्याग से प्रभावित हुए। इसके परिणामस्वरूप अनेक राजा, मंत्री और समृद्ध वणिक सादा जीवन बिताने लगे, यह सोचकर कि धन और सत्ता का प्रयोग लोगों की भलाई के लिए किया जाना चाहिए। उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताएं बहुत सीमित हो गईं। वे अपने ऊपर कम-से-कम खर्च करते थे और अतिरिक्त भाग का प्रयोग जनहितकारी कार्य जैसे विद्या, आहार, औषधि और अभय में खर्च करते थे। ये बहुत व्यावहारिक आवश्यकताएं हैं जिनके द्वारा जैन लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते थे और वे समर्पित भी होते थे। इसके परिणामस्वरूप जैन धर्म ने नौवीं से बारहवीं शताब्दी तक बहुत उन्नति की।

ब्रह्मचर्य

जैन धर्म ब्रह्मचर्य को सबसे बड़ी तपस्या के रूप में मानता है। जैन आचार्यों ने इसका सब युगों में और सब लोगों में प्रचार किया। पार्श्वनाथ ने केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए चार व्रत बतलाये किन्तु महावीर ने ब्रह्मचर्य को अलग से जोड़कर पांच व्रत कर दिये। उनको बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा क्योंकि जैन संघ में नैतिक पतन हो रहा था। जैन धर्म ब्रह्मचर्य को सबसे बड़ा तप मानने लगा। इस ब्रह्मचर्य व्रत का अनुसरण करने के लिए इन्द्रिय सुख से दूर रहना आवश्यक है। इसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को स्त्री-संबंधी विषयों के बारे में विचार नहीं करना चाहिए। उसको स्त्री-संबंधी हाव-भाव पर विचार नहीं करना चाहिए। उसको पहले के स्त्री-संभोग और मनोरंजन को याद नहीं करना चाहिए। उसको अधिक खाना और पीना नहीं चाहिए। उसको अधिक गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिए। उसे स्त्री के पलंग और बिस्तर का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इसके परिणामस्वरूप जैन समृद्ध और उच्च पद पर आसीन होने पर भी प्रायः बहुविवाह में लिप्त नहीं हुए। न केवल जैन परन्तु अन्य लोग भी जैसे राजा, मंत्री और साधारण लोग एक-न-एक रूप में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने लगे। जैन-धर्म के प्रभाव के कारण लोग किसी-न-किसी रूप में इस व्रत का अनुसरण करते थे और यह व्रत उनको अनेक अपराधों और बुराई करने से रोकता था। इसने समाज में एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न कर दिया और लोगों को चरित्रवान बना दिया।

कर्म का सिद्धान्त

कर्म का सिद्धान्त भी जैनियों की महान् देन है। यह स्वतंत्र इच्छा के रूप में जाना जाता है। इसके अनुसार व्यक्ति के सुख और दुःख उसकी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर हैं। कर्म आत्मा की क्रिया है। निरन्तर शान्ति और सुख की प्राप्ति, प्राचीन कर्मों का क्षय तपस्या के द्वारा होता है, और संयम के द्वारा नए कर्म से नहीं बांधा जाता। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र से कर्मों का क्षय होता है और केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह सिद्धान्त ईश्वर को कर्त्ता के रूप में विश्वास नहीं करता है। आदमी अपना भाग्य-विधाता स्वयं है। कर्म के इस सिद्धान्त के प्रचार के द्वारा जैन साधुओं ने लोगों को विवेकी बना दिया। उन्होंने उन आडम्बरों और कर्म-काण्डों में विश्वास करना छोड़ दिया जिन्हें पुरोहित ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया करते थे।

नय का सिद्धान्त

संजय के संशयवाद के विरोध में महावीर द्वारा प्रतिपादित नय का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति को महत्त्वपूर्ण योगदान है। नय वास्तव में वस्तुओं के स्वभाव को व्यक्त करने के विभिन्न तरीके हैं। समयोपरान्त यह नय का सिद्धान्त स्यादवाद (सत भंगीनय) कहलाने लगा जिसके अनुसार निश्चित निर्णय के सात तरीके हो सकते हैं। इसको अनेकान्तवाद भी कहा जाने लगा जिसका गहन अर्थ है सहिष्णुता। यह संशयवाद और कट्टरवाद के बीच का है। इसका अर्थ समझौता, सन्देह और अनिर्णय नहीं है। इसका अर्थ है कि सत्य के कई स्वरूप हैं और उसको अलग-अलग रूप से जाना जा सकता है। दूसरों के विचारों को समझने के लिए व्यक्ति को बहुत उदार होना चाहिए।

प्राचीन समय में बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय और दार्शनिक विचार थे। महावीर और उनके बाद के जैन आचार्य धार्मिक मामलों में सहिष्णु थे और यह सिद्वान्त इस तथ्य पर जोर देता है कि सब धार्मिक सम्प्रदायों के दृष्टिकोण और उपदेशों को समझने के लिए वह क्षमता होनी चाहिए जिससे धार्मिक प्रवर्तकों में झगड़े और विवाद नहीं हों। धार्मिक विषयों में इस प्रकार के दृष्टिकोण ने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों में पारस्परिक स्नेह का वातावरण उत्पन्न कर दिया। वे विरोधियों के दृष्टिकोण की भी सराहना करने लगे। इस सिद्धान्त के द्वारा जैन उदारवादी हो गये। इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि जब-जब जैन राज सत्ता में रहे, एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि उन्होंने अन्य धर्म के लोगों पर अन्याय या अत्याचार किया हो। जैनियों के उदारवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हो अनेक राजाओं ने जैन धर्म स्वीकार तो नहीं किया, किन्तु उदार दान देकर जैन धर्म के आश्रयदाता बन गये।

संगठन का क्षेत्र

जैनियों का अन्य योगदान यह रहा कि उनमें अद्‌भुत संगठन शक्ति थी। जैन संघ में आचार्य और श्रावकों के निश्चित नियम बनाकर कड़ा अनुशासन स्थापित कर दिया। जैन संघ के चार भेद थे – साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएं। साधुओं के लिए नियमों का वर्गीकरण इस प्रकार है – भिक्षा, चर्या (भ्रमण), वासना, मुद्राएं, अध्ययन का स्थान, प्राकृतिक क्रिया-कलाप। भिक्षा का अर्थ है खाना-पीना मांगना, प्याला, वस्त्र और आवास। इसके उपशीर्षक हैं – आहार के तरीके, सोने के तरीके, विहार में यात्रा करना, पार करना, तैरना और अन्य प्रकार के चलन हैं। मुद्राओं का अर्थ है धार्मिक क्रियाएं। इनको निर्धारित इसलिए किया गया कि वे सांसारिक प्रमादों के शिकार न हों। साधु को उच्च विचार रखना आवश्यक है क्योंकि वह आदर्श उदाहरण माना जाता है जिसका लोग अनुसरण करते हैं। वे वास्तव में पथ-प्रदर्शक, संरक्षक और समाज के नेता हैं।

जैन धर्म ने जैन साधुओं के साथ-साथ गृहस्थ को भी जैन संघ का अंग बना दिया और उस पर आचार के नैतिक नियम लागू कर दिये। श्रावक गृहस्थ होते थे इसलिए वे संसार को छोड़ नहीं सकते थे। किन्तु कम-से-कम पांच अणुव्रतों का अनुसरण कर सकते थे। श्रावक और साधुओं के धार्मिक कर्त्तव्यों के प्रकारों में अंतर अधिक नहीं था। किस्म में तो समान थे परन्तु श्रेणी या दर्जे में अंतर था। गृहस्थों के नियम गृहस्थ के आचार पर नियंत्रण करते थे। वे संसार को त्यागते नहीं थे किन्तु संघ के कार्यों में भाग लेते थे और उस पर नियंत्रण रखते थे। इसके परिणामस्वरूप श्रावक बहुत अनुशासित और जागरूक हो गए। वे साधुओं पर भी नियंत्रण रखने लगे। इस प्रकार के संगठन के कारण भारतवर्ष में जैन पक्के जम गये और उनका व उनके धर्म का राजनैतिक हलचल, जिसने बौद्ध धर्म को भारत से सदा के लिए बाहर कर दिया, भी कुछ नहीं कर सकी। शासन में उच्च पद प्राप्त करने के कारण और समाज के नेता होने की वजह से ये श्रावक समय-समय पर समाज का ठीक से पथ-प्रदर्शन करते थे।

राजनैतिक क्षेत्र

जैनियों का राजनैतिक क्षेत्र में योगदान भी उल्लेखनीय है। जैन साधुओं ने राजा बनाने में योगदान देकर अनेक पीढ़ियों तक के लिए राज्याश्रय प्राप्त कर लिया। इन जैन साधुओं ने राजाओं के राजनैतिक शिक्षक के रूप में भी काम किया। पहला ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य हुआ जिसने उत्तम प्रशासन की स्थापना की। वह जैन आचार्य भद्रबाहु का शिष्य था। खारवेल के राज्य में जैन साधु जैन धर्म के सिद्धांतों का प्रचार करते थे। गंग राज्य जैन साधु सिंघनन्दि की देन थी। गंग राजा कोंगुनिवर्म ने जैन आचार्य सिंघनन्दि से अपना राज्य प्राप्त किया। राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष, जो आचार्य जिनसेन

के प्रभाव के कारण जैन धर्मावलम्बी हुआ था, जनता पर अच्छा शासन करता था। कुमारपाल ने हेमचन्द्र सूरि के प्रभाव से जैन धर्म को ग्रहण कर अपने राज्य को एक आदर्श जैन राज्य बना दिया था।

जैन आचार्यों ने सामन्तों और सेनापतियों को भी जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। केन्द्र और प्रान्त के अधिकारियों को भी जैन आचार्यों ने प्रभावित किया। जैन साधुओं ने न केवल पक्के धर्म के अनुयायी तैयार किये जो न केवल धार्मिक क्रियाओं को करते थे वरन् सेनाओं के शक्तिशाली सेनापति भी तैयार किए जिन्होंने देश को शत्रुओं से मुक्त किया। जैन मंत्रियों ने राज्य का प्रशासन बहुत उत्तम किया। जैनियों ने मानव भाई-चारे की भावना को व्यावहारिक रूप से चार प्रसिद्ध दानों के रूप में किया जैसे आहार, अभय, औषधि और विद्या।

जैन धर्म ने देश की भौतिक उन्नति में भी योगदान दिया। राज्य को न केवल स्थापित और संगठित किया अपितु उसकी भौतिक उन्नति भी की। जैन धर्म के प्रभाव से लोग मदिरा और मांस खाने से दूर हो गए और अपने राज्यों में न्याय और धर्म का अनुसरण किया।

सामाजिक क्षेत्र

जाति व्यवस्था

सामाजिक क्षेत्र में जैन धर्म का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने जाति और वर्णों में अन्तर नहीं समझा। इसके अनुसार मुक्ति प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है, और यदि कोई निर्धारित आचार के नियमों का अनुसरण न करे तो उसको इसके लिए आश्वस्त किया जाता है। इसके अनुसार न जन्म है, न जाति है, कर्म ही सब कुछ है। कर्म के सिद्धांत ने प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी बना दिया। एक व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कर्मों से होता है। यद्यपि महावीर क्षत्रिय थे वे अपने आप को "महण" या "महामहण" (महान् ब्राह्मण) मानते थे। उनका धर्म विभिन्न जाति और वर्गों के अनगिनत पुरुष और नारियों द्वारा ग्रहण कर लिया गया था। उनके समकालीन राजा और रानियां, राजकुमार और मंत्री, उनके अनुयायी हो गए थे। राजाओं में श्रेणिक, कुणिक और चेटक प्रमुख थे। उनके प्रमुख ग्यारह शिष्य गणधर के नाम से जाने जाने वाले ब्राह्मण थे जिन्होंने अपने स्वामी को धर्म प्रचार के लिए सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक समृद्ध व्यापारियों और वणिकों को भी आकर्षित किया। उन्होंने अपने उपदेशों से वज्रभूमि और स्वब्रभूमि के दलित लोगों का उद्धार करने का बहुत अधिक प्रयत्न किया। चाण्डाल परिवार में जन्मा हरिकेषबल उत्तम गुणों के कारण

साधु हो गया। अनेक समकालीन जातियां जैसे लिच्छवि, वज्जि, ज्ञात्रिक, मल्ल, उग्र और भोग महावीर के प्रभाव में आए।

महावीर के पश्चात् भी जैन धर्म में जन्म के आधार पर जाति-पांति का भेद नहीं माना गया। नन्द राजा और चन्द्रगुप्त मौर्य, जो जैन कहे जाते हैं, छोटी जाति के हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार शक राजा नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि से हारने के पश्चात् सिंहासन को त्यागकर भूतबलि के नाम से जैन मुनि हो गया। मथुरा के जैन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बिना जाति-पांति के भेदभाव के सब लोगों के द्वारा इसका पालन किया जाता था। रामगुप्त ने विदिशा में जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी। हरिगुप्त हूण राजा तोरमाण का आध्यात्मिक गुरु था। पूर्व मध्यकाल, भारत में जैन धर्म के लिए सबसे समृद्धि का युग था। अधिकतर राजवंश एक-न-एक प्रकार से जैन धर्म के प्रभाव में आए। ए॰एस॰ अल्तेकर[7] का मत है कि दक्षिण की एक तिहाई जनसंख्या जैन धर्म का अनुसरण करती थी। दक्षिण के वीर बणजिगा जैन धर्म का पालन करते थे। उत्तर भारत में भी अनेक लोगों ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था और नई जातियां बनाई थीं – जैसे ओसवाल, खण्डेलवाल, पोरवाल, अग्रवाल, आदि। दक्षिण भारत के कुछ कृषि करने वाले वर्ग भी जैन धर्म के प्रति समर्पित थे।

नारी की स्थिति

सामाजिक क्षेत्र में जैन धर्म का अन्य उल्लेखनीय योगदान यह है कि इसने जैन संघ में नारी को प्रवेश देकर लिंग में कोई भेदभाव नहीं किया। ये ब्रह्मचर्य के जीवन का पालन करती थीं जिससे कि वे धर्म और दर्शन की सच्चाइयों को समझकर उनका पालन कर सकें। अजित, चन्दना और जयन्ति महावीर स्वामी की प्रसिद्ध साध्वी शिष्याएं थीं। इन जैन साध्वियों को जैन ग्रन्थों का अध्ययन करने की अनुमति थी। इनमें से कुछ बहुत विद्वान् थीं। आठवीं सदी के प्रसिद्ध जैन धर्म के विद्वान् हरिभद्रसूरि को जैन साध्वी याकिनी[8] से प्रेरणा मिली थी।

दक्षिण भारत के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म नारियों के प्रति उदार था। अनेक श्रावक और श्राविकाओं का उल्लेख जैन धर्म के अनुयायियों के रूप में हुआ है। वे सभी वर्गों से ली जाती थीं जैसे राजकीय, सामन्त, मंत्री और सेनापति।[9] अपने पति की मृत्यु के बाद उसके स्थान पर जक्कियब्बे अच्छे प्रशासन के लिए कुशल थी। यह

7. अल्तेकर ए॰एस॰, *द राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देयर टाइम्स*, पृ॰ 313.
8. पी॰बी॰ देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स*, पृ॰ 7.
9. बी॰ए॰ सेलीटोर, *मेडिवल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर*, पृ॰ 154-71.

जिनेन्द्र शासन के प्रति समर्पित थी। कदम्ब, गंग और होयसल परिवारों की नारियाँ सामन्तों, सेनापतियों और अन्य अधिकारियों की पत्नियों का जैन धर्म के प्रचार में बड़ा उल्लेखनीय योगदान था। अभिनव पम्पा के साथ कान्ति जो वक्ता और कवि थी, एक रत्न के रूप में होयसल राजा बल्लाल प्रथम की सभा को सुशोभित करती थी। वे श्रावक के रूप में शिष्याएं ही नहीं थीं अपितु प्रचारक भी थीं।[10]

आर्थिक क्षेत्र

जैनियों ने आर्थिक क्षेत्र में समय-समय पर महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इससे देश की समृद्धि हुई। जैन धर्म के अनुयायी अधिकतर महाजन और वणिक थे। महावीर के समय में भी समृद्ध श्रावक जैन आनन्द, कामदेव, सर्दलपुत्र और उपालि, व्यापार और उद्योग में समृद्ध हो गये। जैन श्रमणों का मृदभाण्ड बनाने का अनुकूल उद्योग था। पोलासपुर नगर के बाहर श्रमण सादलपुत्र के पास 500 कार्यशालाएं थीं। *नायेधम्मकहा* से पता चलता है कि किस प्रकार आन्तरिक और बाह्य व्यापार से लोग धनी हो गये। यह सामुद्रिक व्यापार का यथार्थ विवरण देता है। वणिक कबीले के रूप में यात्रा करते थे। व्यापार और उद्योग श्रेणियों में संगठित थे। सेठियों के नियंत्रण में वणिक श्रेणियां थीं। धन-दौलत के कारण समाज में उनका विशेष सम्मान था। वे वणिक समाज के प्रतिनिधि के रूप में राजसभा में जाते थे। इन व्यापारियों के कारण से ही सिक्के की उत्पत्ति हुई ज्ञात होती है जिससे व्यापार व्यवसाय में सुविधा हो गई। नगरीय केन्द्र जैसे चम्पा, राजगृह, वाराणसी, श्रावस्ती, मथुरा, वैशाली और उज्जयिनी अस्तित्व में आये जहां वणिक बस गये और समृद्ध हो गए।

कुषाण काल के मथुरा से प्राप्त अनेक जैन अभिलेखों से पता चलता है कि किस प्रकार से लोगों ने विभिन्न उद्योगों में व्यस्त होते हुए भी जैन धर्म की उन्नति में योगदान दिया। कुषाण काल का *अंगविज्जा* से व्यापार की उन्नति का पता चलता है और उससे विभिन्न प्रकार के सिक्कों का उल्लेख मिलता है। इस समय अर्थव्यवस्था सुदृढ़ थी। व्यापार और व्यवसाय के कारण नगर और शहरों का उत्थान हुआ।

कुवलयमाला और *उपमितिभवप्रपंच कथा* में प्राचीन नगरों और शहरों का रोचक विवरण मिलता है। सार्थवाह के साथ सुरक्षा के लिए अनेक सैनिक चलते थे। *तिलकमंजरी* से यह ज्ञात होता है कि कुछ धनी व्यापारी जहाजों में पड़ोसी देश सिंहल द्वीप और स्वर्णभूमि को जाते थे। राजस्थान, गुजरात और मद्रास के व्यापार पर जैन वणिकों का नियंत्रण था। वे व्यापार और व्यवसाय के कारण समृद्ध हो गये। इन लोगों ने अनेक वणिक जैन जातियों जैसे ओसवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, पोरवाल और अग्रवाल की स्थापना

---

10. पी॰बी॰ देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स,* पृ॰ 168.

की। दक्षिण में जैन धर्म के अनुयायी बणजिग व्यापारी थे। वे समृद्ध हो गए और नगरों के उत्थान में योगदान दिया। चौदहवीं सदी के मध्य में विजयनगर राज्य में आंतरिक और बाह्य व्यापार में तेजी से उन्नति हुई। इसके परिणामस्वरूप वणिक श्रेणियों की संख्या, महत्त्व और समृद्धि में उन्नति हुई।

जैन व्यापारी पेथड़शाह और लाड़ाशाह व्यापार व्यवसाय के कारण समृद्ध हो गये। ये जैन वणिक, जैसे भामाशाह, कठिनाईयों के समय अपने राजाओं के बड़े आर्थिक मददगार होते थे। इनको अपने स्वामी से जैन धर्म के लिए बहुत अनुग्रह मिलता था। ये जैन व्यापारी जैन धर्म के प्रति बहुत समर्पित थे और अपने पैसे का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करते थे। वे चार प्रकार के दान देते हैं – विद्या, आहार, औषधि और अभय। वे मंदिरों का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराते थे। वे ग्रन्थों की प्रतियां तैयार करवाते थे और ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना करते थे। वे तीर्थ-स्थानों की यात्रा के लिए संघ निकालते थे।

कला व स्थापत्य का क्षेत्र

यद्यपि काल के प्रभाव से और विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप कलाकृतियां नष्ट हो गई हैं। लेकिन जो बची हैं वे भारतीय संस्कृति को जैन धर्म ने जो योगदान दिया है उसके बारे में जानकारी देती हैं। जैन कला और स्थापत्य की वस्तुएं बहुत प्राचीन समय की प्राप्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न समय में भारत के विभिन्न क्षेत्रों से महत्त्वपूर्ण जैन वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कला और स्थापत्य के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की उत्पत्ति और विकास में हर स्तर पर जैन धर्म ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। नौवीं से बारहवीं सदी का समय जैन कला और स्थापत्य का स्वर्णयुग माना जाता है क्योंकि इस काल में इसका भारतीय संस्कृति को योगदान श्रेष्ठ रहा।

स्थापत्य

स्तूप और विहार

जैन स्थापत्य का संबंध स्तूप, विहार, गुफा, चैत्य, मंदिर और मानस्तम्भ से है। जिनदास (676) की *आवश्यक चूर्णि* वैशाली के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के स्तूप को समर्पित करने का उल्लेख करती है किन्तु उसके अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का मथुरा में समर्पित स्तूप देवनिर्मित माना जाता है।[11] इससे प्रकट होता है कि यह बहुत प्राचीन था और इसकी उत्पत्ति को लोग भूल चुके थे। कुछ इसको तीसरी शताब्दी ई॰ पूर्व का जबकि अन्य इसे छठी सदी ई॰ पूर्व का बतलाते हैं। दो आयागपट्टों पर स्तूप का चित्र अंकित पाया जाता है। मथुरा का अन्य जैन स्तूप कुषाण काल का है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार मौर्य राजा सम्प्रति द्वारा अनेक जैन मंदिरों और विहारों को बनाने

11. आवश्यक चूर्णि।

का पता चलता है। मध्य प्रदेश के कसरावद में मृदभाण्ड पर "निगठस विहार दीपे" लिखा पाया जाता है जिससे सिद्ध होता है कि तीसरी सदी पूर्व में यहां पर जैन विहार का अस्तित्व था। कृष्णा घाटी में वर्धमान के नाम पर वड्डमन्नु के उत्खनन में स्तूप और दीर्घवृत्तीय ढांचे और विहार दूसरी सदी ई॰पू॰ से दूसरी सदी ई॰ तक के काल के प्राप्त हुए हैं। मृदभाण्डों के टुकड़ों पर "जितोन-विहार" और "सम्प्रति विहार" अंकित मिलते हैं। "सम्प्रति विहार" नाम सिद्ध करता है कि सम्प्रति एक ऐतिहासिक पुरुष था। बंगाल के पहाड़पुर में पांचवीं सदी का एक ताम्रपत्र अभिलेख प्राप्त हुआ है जो वट-गोहाली के पंचस्तूपान्वय के आचार्य गुहनन्दि के नाम और जैन विहार का उल्लेख करता है। उत्खनन में भी विहार के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

गुफाएं

तमिलनाडु के मदुराई और तिरुनेलवेली दक्षिण के जिलों में जैन धर्म से सम्बन्धित गुफाएं प्राप्त हुई हैं। तीसरी और दूसरी शताब्दी में अंकित अभिलेख उल्लेख करते हैं कि वे गुफाएं जैन मुनियों के रहने के लिए निर्मित की गई थीं। खारवेल के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उडीसा में भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि और खण्डगिरि की पहाड़ियों की जैन गुफाएं दूसरी और पहली शताब्दी पूर्व की हैं। दूसरी सदी ई॰ पूर्व की जैन गुफाएं आन्ध प्रदेश में पूर्वी गोदावरी जिले में गुण्टुपल्ली से प्राप्त हुई हैं। बिहार में राजगृह की सोन भण्डार की गुफा पहली सदी ई॰ पूर्व की मानी जाती है। महाराष्ट्र के पूना जिले में पाले नामक स्थान पर पहली शताब्दी के अभिलेख सहित जैन गुफा है। प्रयाग के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान पर दो गुफाएं हैं जिनमें शुंग कालीन (ई॰पू॰ द्वितीय शती) लिपि के लेख हैं। इन लेखों में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्र के आषाढ़सेन ने काश्यदीप अर्हन्तों के लिए दान किया था। जूनागढ़ में प्यारामठ के समीप तथा ढंक नामक स्थान पर जैन गुफाएं है जो क्षत्रप काल अर्थात् प्रथम-द्वितीय शती की हैं। मध्य प्रदेश में उदयगिरि की गुफा क्रमांक 20 में पांचवीं शती का एक लेख है। दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला की चन्द्रगिरि की पहाड़ी पर भद्रबाहु की गुफा प्राचीन है। तमिल प्रदेश की सित्तनवासल गुफा तीसरी सदी की है। एलोरा का छोटा कैलाश, इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभी कला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्तम्भ और दीवालों पर सुन्दर आकृतियां उत्कीर्ण हैं। ग्वालियर की पन्द्रहवीं सदी की जैन गुफाएं तोमर काल की हैं। इन गुफाओं की प्रमुख विशेषताएं हैं – उनकी संख्या, विस्तार तथा निर्मित मूर्तियों की विशालता।

मन्दिर

सबसे प्राचीन मन्दिर के चिह्न बिहार में पटना के समीप लोहानीपुर में पाए गए हैं। यहां

एक जैन मन्दिर की नींव मिली है। यह मंदिर 8 फुट 10 इंच वर्गाकार था। यह मौर्य काल का अर्थात् तीसरी सदी ई॰ पूर्व का है। मथुरा के उत्खनन से पता चलता है कि यहां कुषाण काल के यानी दूसरी सदी ई॰ के दो जैन मन्दिर थे।

छठी शताब्दी के पश्चात् वास्तुकला की तीन शैलियां निर्दिष्ट की गई हैं – नागर, द्राविड़ और वेसर। नागर शैली उत्तर भारत में, दक्षिण में द्राविड़ और वेसर मध्य भारत में विन्ध्य पर्वत और कृष्णा नदी के बीच प्रसिद्ध थी। प्रादेशिक विभाजन का कड़ाई से पालन नहीं हुआ है। प्रायः सभी शैलियों के मंदिर सभी प्रदेशों में पाए जाते हैं। नागर शैली का मन्दिर गोल आकार का होता है जिसके अग्र भाग पर कलशाकृति पाई जाती है। द्राविड़ शैली का मन्दिर स्तम्भाकृति ग्रहण करता है। मंदिर की बाह्याकृति शिखरमय दिखती है। वेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्र भाग पर चपटी ही रह जाती है जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है।

मध्य काल में राजवंशों के आश्रय में जैन धर्म की बहुत उन्नति हुई। दक्षिण में गंग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव और चोल शासकों के राज्य में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। पुलकेशिन् द्वितीय के राज्य में रविकीर्ति द्वारा निर्मित ऐहोल का मेघुटी का जैन मन्दिर द्राविड़ शैली का सबसे प्राचीन कहा जाता है। इस प्रकार का दूसरा मन्दिर इसी के समीप पट्टकाल ग्राम में स्थित है। द्राविड़ शैली का आगामी विकास हमें दक्षिण में अनेक स्थानों में पूर्ण व ध्वस्त अवस्था में वर्तमान में अनेक जैन मन्दिरों में दिखाई देता है। धारवाड़ जिले में हुवंच और गुड्डतीर्थहल्ली के समीप, लुंकुडी, जिननाथपुर, हेलेबिड़, गगनीगित्ती, तिरुमल्लाई, तिरुपरुति और कुंडरम, तिरुप्प नपूर, मूड़बद्री, आदि स्थानों में जैन मन्दिर प्रचुर मात्रा में हैं। केरल क्षेत्र में नवीं और ग्यारहवीं शती में निर्मित जैन मन्दिर दो प्रकार के हैं – (रॉककट) शैलकृत और संरचनात्मक। विजयनगर साम्राज्य में भी जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर के जैन स्थापत्य की द्राविड़ शैली की जानकारी देते हैं।

मध्य प्रदेश के जैन मन्दिर

नागर शैली के जैन मन्दिर मध्य प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में बड़ी संख्या में निर्मित हुए थे। मध्य प्रदेश में देवगढ़, ग्यारसपुर, बड़ोह और बूढ़ी चन्देरी के जैन मन्दिर प्रतीहार काल के हैं। इन मन्दिरों के स्तम्भ, तोरण द्वार और दीवारें सुन्दर अंकित की गई थीं। ग्यारसपुर का मालादेवी का मन्दिर शैलकृत और संरचनात्मक है। यहां के जैन मन्दिरों के मण्डप, स्तम्भ और तोरण द्वार कलापूर्ण हैं। ये मन्दिर आठवीं या दसवीं सदी के मध्य के प्रतीत होते हैं। बड़ोह के जैन मन्दिर में 25 देव कुलिकाएं हैं जो नौवीं से बारहवीं सदी के मध्य अलग-अलग समय में निर्मित हुई थीं। इनमें से कुछ की छतें चपटी तथा

कुछ पर गुम्बद और शेष पर शिखर हैं। खजुराहो देवालय नगर माना जाता है। यहां के जैन मन्दिर चन्देल काल के हैं। यहां के तीन जैन मंदिर उल्लेखनीय हैं। ये मंदिर विशाल हैं जिनका कोई परकोटा नहीं है और ऊँचे चबूतरे पर खड़े हैं। ये मंदिर ग्यारहवीं व बारहवीं सदी के हैं। इनमें मंडप की अपेक्षा शिखर की रचना को ही अधिक महत्त्व प्राप्त है। उत्कीर्ण मूर्तियों में धार्मिक व लौकिक जीवन का समन्वय रहा। अप्सराओं की मूर्तियां अत्यधिक सुन्दर हैं तथा इन्हें अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट मूर्तियां कहा जाना उचित होगा। रायपुर जिले में आरंग का जैन मन्दिर जो भण्डदेवल के नाम से जाना जाता है, कलचुरि युग का है। यह सबसे प्राचीन भूमिज शैली का उल्लेखनीय मंदिर है। इस मंदिर का गर्भगृह ताराकार और पांच भूमिज शिखर का है।[12] परमार काल में निर्मित भूमिज शिखर मंदिर प्रसिद्ध हैं। ये मन्दिर पूर्णतः पाषाण खण्डों से निर्मित चपटी छत और सभामण्डप युक्त प्रदक्षिणा रहित हैं। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है। ये मंदिर ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के हैं। भोपाल के पास भोजपुर में परमार राजा भोज के काल के जैन मन्दिर के अवशेष हैं। बदनावर में भी जैन मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। सोनगिरि, मुक्तागिरि, कुण्डलपुर और माण्डू के जैन मंदिर मुसलमानों के समय बने थे।

राजस्थान के जैन मंदिर

राजस्थान में सबसे प्राचीन ओसिया का महावीर जैन मंदिर है जो आठवीं सदी का है। इसका निर्माण प्रतीहार राजा वत्सराज के समय में हुआ था। मंदिर बहुत सुन्दर आकृति का है। स्तम्भों की कारीगरी दर्शनीय है। शिखर की रचना नागर शैली की है। इसमें गर्भगृह, सभागृह और तोरणद्वार हैं। कुंभारिया के दसवीं, ग्यारहवीं सदी के जैन मंदिर विशेषकर पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के मन्दिर कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनका मण्डप बड़ा सौन्दर्यपूर्ण बना हुआ है। आबू के जैन मन्दिर न केवल जैन अपितु भारतीय वास्तुकला के सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप मे हैं। पहला मंदिर आदिनाथ का 1031 ई॰ में विमलशाह द्वारा निर्मित किया गया और दूसरा तेजपाल द्वारा 1230 ई॰ में। इन मन्दिरों के वास्तुविन्यास में रंग-मंडप, नवचौकी, गूढ़-मण्डप और गर्भगृह हैं। इन मन्दिरों की अलंकरण की शैली सन्तुलित तथा आकृतियां अत्यंत मनोज्ञ हैं। विमलवसहि के छत की कारीगरी अद्वितीय है और कला के इतिहास में विख्यात है। अजमेर का ढाई दिन का झोपड़ा मूल में जैन मन्दिर ही प्रतीत होता है जिसे चौहान नरेश विग्रहराज चतुर्थ ने राजविहार के रूप में बनवाया था। सांगानेर का सिंधीजी का जैन मन्दिर दसवीं सदी का है क्योंकि इस मन्दिर की मूल वेदिका की वन्दनवाल पर 954 ई॰ का लेख है। इसके अतिरिक्त स्तम्भों पर जो आकृतियां हैं उनकी तुलना आबू के जैन मन्दिरों से की जा

12. *के॰म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 418.

सकती है। झालरापाटन के जैन मन्दिर को शाह पीपा ने 1046 ई॰ में बनवाया था। इस मन्दिर का शिखर ग्यारहवीं सदी का है जिसके तोरणद्वार पर अनेक आकृतियां उत्कीर्ण हैं।

राणकपुर के सन् 1439 के चतुर्मुखी मन्दिर की विशालता प्रसिद्ध है जिसके 29 मण्डप हैं तथा जिसके स्तम्भों की संख्या 420 है। समस्त स्तम्भों की बनावट व शिल्प पृथक्-पृथक् है तथा वे अपनी-अपनी कलात्मक विशेषताएं रखते हैं। 86 देवकुलिकाओं के अपने-अपने शिखर हैं। शिखरों का सौन्दर्य और सन्तुलन चित्ताकर्षक है। सर्वत्र ही वैचित्र्य और सामंजस्य का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। जैसलमेर के चिन्तामणि पार्श्वनाथ, ऋषभदेव, शान्तिनाथ, संभवनाथ और महावीर के बारहवीं और पन्द्रहवीं सदी के मध्य निर्मित मन्दिर कला की दृष्टि से उत्तम हैं। इनमें अलंकरणों की बहुतायत है। शिखर, तोरण-द्वार, दीवालों तथा स्तम्भों पर पशु-पक्षी, फल-फूल एवं मानव आकृतियां उत्कीर्ण हैं। सौराष्ट्र प्रदेश के शत्रुंजय (पालिताना) पर्वत तथा गिरनार पर्वत पर अनेक प्राचीन जैन मन्दिर निर्मित हुए हैं जिनसे कला के क्रमिक विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

मानस्तम्भ

श्रवणबेलगोला, मूड़बिद्री और कारकल में निर्मित मानस्तम्भ सुन्दर हैं। देवगढ़ का मानस्तम्भ भी कलापूर्ण है। पन्द्रहवीं सदी का चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ 80 फीट ऊंचा है। इसके ऊपर गंधकुटी रूप छत्री बनी हुई है। समस्त मंजिलों पर आदिनाथ व अन्य दिगम्बर तीर्थंकरों की मूर्तियां विराजमान हैं।

मूर्तिकला

मूर्तिपूजा के अस्तित्व का सबसे प्राचीन प्रमाण जैनियों में मिलता है। हाथीगुम्फा का दूसरी या पहली सदी का अभिलेख उल्लेख करता है कि राजा खारवेल कलिंग जिन की मूर्ति को फिर से वापस लाया जिसको नन्द राजा ले गया था। इससे सिद्ध होता है कि जैन मूर्ति की पूजा चौथी सदी ई॰ पूर्व में भी होती थी। सबसे प्राचीन ज्ञात जैन मूर्ति पटना के समीप लोहानीपुर के जैन मन्दिर से प्राप्त हुई है। यहां से जैन मूर्ति के दो धड़ मिले हैं, जिन पर चमकदार पालिश होने से इनके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इससे प्राचीन जैन मूर्ति कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है। कांसे की बनी हुई बहुत प्राचीन पार्श्वनाथ प्रतिमा कायोत्सर्ग-मुद्रा में बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। यह मूर्ति पहली शताब्दी ई॰पू॰ की ज्ञात होती है। एक अद्भुत कायोत्सर्ग-मुद्रा में पार्श्वनाथ की मूर्ति तमिलनाडु के पद्धोताई संग्रहालय में प्रथम सदी की है। यह उत्तर भारत से दक्षिण भारत

में लाई गई थी।[13] आदिनाथ की कांसे की मूर्ति और अन्य कांसे की जैन मूर्तियां बक्सर के समीप चौसा से मिली हैं जो दूसरी और पहली शताब्दी ई॰पू॰ की हैं।

मथुरा में भी कुषाण काल की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियां कायोत्सर्ग और पद्मासन मुद्रा में हैं। इन मूर्तियों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। मूर्तियों पर अन्य कोई चिह्न नहीं पाए जाते हैं। किन्तु, दो तीर्थंकरों की मूर्तियाँ विशेष लक्षण से युक्त हैं। आदिनाथ की मूर्ति पर केशकलाप पीछे की ओर कन्धों के नीचे तक बिखरे हुए दिखाए गए हैं, और पार्श्वनाथ के सिर पर सप्तफणी नाग छाया किए हुए है। यहां पर कुषाणकालीन महावीर की पद्मासन मूर्ति और एक सर्वतोभद्रिका की भी है। सरस्वती की मूर्ति यहां सबसे प्राचीन है। शुभचिह्नों जैसे स्तूप, धर्म-चक्र, रत्नत्रय, नन्दिपद, श्रीवत्स, केवलवृक्ष, स्वस्तिक और मत्स्य आदि की यहां पर पूजा होती थी। यहां संदर्भित चिह्न स्तम्भों, सूची, उष्णीष और तोरण पर अंकित हैं। ये मथुरा और बड्डमानु के उत्खनन से प्राप्त हुई हैं।

उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में 24 तीर्थंकर अपने लक्षणों सहित अंकित हैं।

कुछ जैन मूर्तियां गुप्तकाल की भी प्राप्त हुई हैं। राजगृह से चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य की नेमिनाथ की मूर्ति प्राप्त हुई है। गुप्तकाल की मूर्तियां लक्षणयुक्त पाई जाती हैं जिससे उनको आसानी से पहचाना जा सकता है। विदिशा से प्राप्त पुष्पदन्त की दो और चन्द्रगुप्त की एक महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां इसी काल की हैं। ऋषभ की गुप्तकाल की पीतल की मूर्ति और जीवन्तस्वामी की 550-600 ई॰ की आकोटा से प्राप्त हुई है। बसन्तगढ़ से धातु की सवस्त्र खड्गासन मूर्ति संवत 744 की लेखयुक्त प्राप्त हुई है। गुप्त और गुप्तोत्तर कालीन अनेक जैन मूर्तियां ग्वालियर के किले, बेसनगर, बूढ़ी चन्देरी, देवगढ़, आदि अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। देवगढ़ की शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है।

आठवीं और बारहवीं सदी के मध्य में अनेक जैन तीर्थंकरों और जैन देवियों की मूर्तियों का निर्माण हुआ। उन मूर्तियों की आकृति और बनावट सौन्दर्यपूर्ण है। इस काल की अनेक जैन मूर्तियां देवगढ़ से प्राप्त हुई हैं। कुछ कलापूर्ण मूर्तियां मध्य प्रदेश में बदनावर, उज्जैन, ऊन, गन्धावल, विदिशा, आदि स्थानों से भी मिली हैं। चूंकि जैन तीर्थंकरों में शान्तिनाथ, अर्हनाथ और कुन्थुनाथ चक्रवर्ती राजा के रूप में थे, इनकी मूर्तियां कभी-कभी साथ-साथ भी मिलती हैं। बड़वानी की बावनगजा की मूर्ति तेरहवीं सदी की है और भारतवर्ष में सबसे विशाल है। इस काल की राजस्थान में जैन मूर्तियां आबू, सांगानेर,

13. यू॰पी॰ शाह एण्ड एम॰ए॰ ढाकी, सम्पा॰, *आस्पेक्टस ऑफ जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर.*

नरेणा, पारानगर, मारोठ, बघेरा, आदि से प्राप्त हुई हैं जो कलात्मक हैं। पल्लू की सरस्वती की मूर्ति भारतीय मूर्तिकला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। दक्षिण में गोमटेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठा गंग नरेश राजमल के महामंत्री चामुण्डराय ने दसवीं-ग्यारहवीं सदी में कराई थी। इसके अंगों का सन्तुलन, मुख का शान्त व प्रसन्न भाव, वल्मीक व माधवी लता के लिपटने की सुन्दरता अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। जैन यक्षियां और गोमटेश्वर की मूर्तियां दक्षिण में बहुत पायी जाती हैं। मध्यकाल की कांसे की विभिन्न प्रकार की जैन मूर्तियां राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश में मिलती हैं। जीवराज पापड़ीवाल ने वि॰सं॰ 1548 की अनेक मूर्तियां बनवाईं जो समस्त भारत में पाई जाती हैं। ग्वालियर की मध्ययुगीन शैलकृत जैन मूर्तियां उत्तर भारत में अपनी संख्या और विशाल आकार के कारण अद्भुत मानी जाती हैं। इनकी संख्या 1500 है। आदिनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति की ऊंचाई 17.84 मीटर और सुपार्श्वनाथ की पद्मासन में 10.67 मीटर ऊँची और 9.27 मीटर चौड़ी है। ऐसी मूर्तियां अन्य जगह नहीं देखी जाती हैं।

चित्रकला

जैन चित्रकला के चिह्न पहली व दूसरी शताब्दी ई॰पू॰ की उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में मिले हैं। तमिलनाडु में सित्तनवासल की गुफा में पल्लव राजा महेन्द्रपाल प्रथम (600-625 ई॰) के जैन चित्रकला के नमूने मिले हैं। इसकी भित्तियों के चित्र भी अलंकारपूर्ण हैं। तिरुमलाई के जैन मन्दिर में अभी भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें देवता व पुरुष आकाश में मेघों के बीच उड़ते हुए दिखाए गए हैं। श्रवणबेलगोला के जैन मठ में अनेक सुन्दर भित्तिचित्र विद्यमान हैं।

ग्यारहवीं सदी के पश्चात् चित्रकला का आधार ताड़-पत्र बना। सबसे प्राचीन चित्रित ताड़-पत्र ग्रन्थ दक्षिण में मैसूर राज्यान्तर्गत मूड़बद्री तथा उत्तर में पाटन के जैन ग्रन्थ भण्डारों में मिले हैं। मूड़बद्री में, *षट्खण्डागम* की ताड़पत्रीय प्रतियों में पांच ताड़पत्र सचित्र हैं जिनका लेखन काल 1113 ई॰ का है। पाटन में सुरक्षित सचित्र ताड़पत्रीय *निशी चूर्णि* की प्रति सोलंकी नरेश जयसिंह (1094-1143 ई॰) के राज्यकाल में लिखी गई थी। 1127 ई॰ में लिखित खम्भात के शांतिनाथ जैन मन्दिर की *ज्ञातधर्मसूत्र* के ताड़पत्रीय चित्र उल्लेखनीय हैं। जैसलमेर के शास्त्र भण्डार में ताड़पत्रीय चित्र-पट्टिकाएं प्राप्त हुई हैं जिनमें नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी के पूर्व भावों को चित्रित किया गया है। उदयपुर से प्राप्त *श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि* ताड़पत्रीय ग्रन्थ (1260 ई॰) में छः चित्र हैं जो अब बॉस्टन म्यूजियम में हैं।

कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति 1427 ई॰ में लिखित वह *कल्पसूत्र* है जो लन्दन के इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है जिसमें 31 चित्र हैं और उसी के साथ

जुड़ी हुई कालकाचार्य कथा के अन्य चित्र भी हैं। पाटन, जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर, नागोर, आदि नगरों के जैन ग्रन्थ भण्डारों में *कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथा, यशोधर चरित, महापुराण, आदिपुराण, भक्तामर स्तोत्र,* आदि ग्रन्थों की सचित्र प्रतियां प्राप्त हुई हैं। वस्त्र पर चित्रकारी का एक चिन्तामणि नामक वस्त्रपट्ट वि॰सं॰ 1411 (ई॰ 1354) का बना बीकानेर निवासी श्री अगरचन्द नाएटा के संग्रह में है।

सचित्र काष्ठचित्र पट्ट जैसलमेर के भण्डार से प्राप्त हुए हैं जो बारहवीं सदी के ज्ञात होते हैं। एक काष्ठचित्र में सभागृह में जिनदत्त सूरि तथा उनके श्रावक पारस्परिक चर्चा करते बतलाए गए हैं तथा अन्य में कुमुदचन्द्र को हराते हुए प्रदर्शित किया गया है। सिरोही, उदयपुर, माण्डु और जोधपुर के जैन साधुओं को निमंत्रण हेतु भेजे हुए सत्रहवीं एवं अठारहवीं सदी के जैन विज्ञप्ति-पत्र, इन नगरों का उस समय का कलात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हैं। ये सचित्र ग्रन्थ तथा विज्ञप्ति-पत्र अपने काल की धार्मिक एवं सामाजिक दशा पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

शिक्षा क्षेत्र

जैन धर्म का शिक्षा के प्रति योगदान भी उल्लेखनीय रहा है। जैन आचार्य धर्म प्रचार के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को भ्रमण करते थे। उनका भ्रमण जनशिक्षा के माध्यम के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। जैन संघ में नारियों के प्रवेश ने उनमें शिक्षा तथा दर्शन के प्रसार में बड़ी प्रेरणा दी। जैन धर्म के णमोकार में विभिन्न वर्ग के साधुओं के उल्लेख से पता चलता है कि आचार्य का उच्च सम्मान होता था। प्राचीन समय में जैन विहार और मन्दिर विद्या के केन्द्र हो गए थे। इन संस्थाओं में शिक्षक बिना किसी जाति-पांति के भेदभाव के लोगों को पढ़ाते थे। 478 ई॰ के पहाड़पुर के ताम्रपत्र लेख में उल्लेख मिलता है कि वटगोहाली में एक जैन विहार था जिसकी अध्यक्षता वाराणसी के पंचस्तूप निकाय के निर्ग्रन्थ आचार्य गुहनन्दिन के शिष्य करते थे। यह उल्लेखनीय है कि इस विहार का संस्थापक एक साधु था जो बनारस से चलकर भ्रमण करता हुआ पूर्व में आया था। मेघूटी (आईहोल)[14] में महान् कवि रविकीर्ति द्वारा निर्मित जैन मन्दिर ज्ञान का एक बड़ा केन्द्र था।

1188 ई॰ के दूबकुण्ड पाषाण अभिलेख[15] से यह ज्ञात होता है कि दूबकुण्ड में एक जैन विहार था। दूबकुण्ड ग्वालियर से दक्षिण-पश्चिम में 144 कि॰मी॰ दूर है। जैन आचार्य यहां रहा करते थे। लाटवागड़गण के आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं – देवसेन, उनके शिष्य कुलभूषण और उनके शिष्य दुर्लभसेन सूरि। इनके गुरु शान्तिषेण थे जिन्होंने विवाद

14. *एपि॰इण्डि॰,* XX, पृ॰ 61.
15. वही, पृ॰ 232-40.

में अपने विरोधियों को हराया। इनके शिष्य विजयकीर्ति थे। उनका जैन मन्दिर जो चौबारा डेरा के नाम से प्रसिद्ध था बालकों के लिए विद्यालय[16] के काम में आता था, जैसाकि मन्दिर की दीवारों पर अंकित अभिलेखों से स्पष्ट होता है। एक अभिलेख में संस्कृत व्याकरण के विशेष नियम दिये हुए हैं और दूसरे में सर्पबन्ध के रूप में हैं। इसमें विभिन्न अक्षर अर्थात् भारतीय लिपि के स्वर और व्यञ्जन दिए हुए हैं। इसके साथ संस्कृत क्रियाओं के संयोजन में प्रत्यय भी हैं। धार का *पार्श्वनाथ जिन-विहार और मालछा का नेमि* चैत्यालय विद्या के केन्द्र थे। चौहान राजा विग्रहराज ने अजमेर में सरस्वती के मन्दिर का निर्माण करवाया जो मध्यकाल में ढ़ाई दिन के झोपड़े के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह संभवतः जैन महाविद्यालय उच्च शिक्षा के काम में आता था जिसमें पास-पड़ोस के स्थानों के विद्यार्थी पढ़ने[17] के लिए आते थे। तेरहवीं सदी में उज्जैन[18] में एक जैन विहार था। देवधर, विद्यानन्द सूरि और धर्मकीर्ति उपाध्याय (धर्मघोष) इसके एक के बाद दूसरे अध्यक्ष बने।

मध्यकाल में जैन भट्टारक और श्री पूज्यों ने शिक्षा के क्षेत्र में महान् सेवा की। भट्टारकों की पीठ विद्या के केन्द्र हो गए थे। मूल संघ की गद्दियां क्रमशः भद्दलपुर, उज्जैन, बारां, ग्वालियर, चित्तौड़, बघेरा, देहली, अजमेर, नागोर और आमेर में थीं। इन स्थानों पर विहारों और मन्दिरों का निर्माण हुआ और शनैः-शनैः ये शिक्षण संस्थाओं के रूप में उन्नत हो गये। इन शिक्षण संस्थाओं के साथ जुड़े हुए ग्रन्थालय भी थे। यहां ग्रन्थों की नकल करने के लिए अनेक लोगों को रखा गया। ये ग्रन्थ अध्ययन और पढ़ने के लिए रखे गए थे। बिना किसी जाति-पांति के भेद के भट्टारकों के द्वारा लोगों की शिक्षा के लिए आचार्य और पंडित नियुक्त किये गये थे। श्री पूज्यों ने धार्मिक और लौकिक शिक्षा के लिए उपाश्रयों की स्थापना की थी।

जैन तीर्थ-स्थान जैसे आबू, उज्जैन, ऊन (पावागिरि), सोनागिरि और श्रवणबेलगोला विद्या के केन्द्र हो गए क्योंकि जैन साधु और श्रावक बार-बार इन स्थानों की यात्रा के लिए आते थे। यहां पर मन्दिरों और विहारों का निर्माण हुआ। जो शनैः-शनैः विशाल शिक्षण संस्थाओं के रूप में परिणत हो गए। अध्ययन के लिए इन संस्थाओं को ग्रन्थ भेंट किए जाते थे।

साहित्य का क्षेत्र

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन विद्वानों के द्वारा विभिन्न

---

16. *आ॰स॰इं॰ए॰रि॰,* 1918-19, पृ॰ 17.
17. के॰सी॰ जैन, *एंशियंट सीटीज एण्ड टाउन्स आफ राजस्थान,* पृ॰ 306-07.
18. *इंडि॰ऐटी॰,* XI, पृ॰ 255.

क्षेत्रों में महान् योगदान दिया गया। जैन विद्वानों ने जिस साहित्य को लिखा उसमें नैतिक और धार्मिक भावनाएं मिलती हैं क्योंकि वे लोगों का नैतिक उत्थान चाहते थे। जैन साधुओं ने प्रायः अपने ग्रन्थ जनमानस के लिए सीधी और लोकप्रिय भाषाओं में लिखे जैसे प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य देशी भाषाएं। इनके ग्रन्थ संस्कृत में भी उपलब्ध हैं। इन्होंने कन्नड़ साहित्य को भी समृद्ध किया। जैन साहित्य दर्शन और इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जैन विद्वानों ने भारतीय साहित्य के विकास के हर स्तर पर योगदान दिया।

आगम और दर्शन साहित्य

मूल में जैन आगम ग्रन्थ दो भागों में थे। पहला 14 पूर्व और 12 अंग। चौदह पूर्व हमें पार्श्वनाथ के समय से प्राप्त हुए थे। चौदह पूर्व मिलकर 12वां अंग हो गया जो दृष्टिवाद के नाम से जाना ज़ाता था। महावीर ने अपने धर्म का अर्द्धमागधी में प्रचार किया जो आगम की भाषा कही जाती है। उपलब्ध आगम भाषा पर महाराष्ट्री प्राकृत का बहुत प्रभाव दिखता है। श्वेताम्बर जैनियों के अनुसार 11 अंग, 12 उपांग, 10 पेन्न (प्रकीर्ण), 6 छन्दसूत्र, नन्दि और अनुयोग द्वार और चार मूल स्त्रोत। इन विभिन्न अंगों में केवल *आचारांग सूत्रकृतांग* और *उत्तराध्ययन* में भाषा और साहित्य की दृष्टि से आगम का प्राचीन अंश मिलता है।

दूसरी तरफ दिगम्बर अनुश्रुतियों के अनुसार न केवल दृष्टिवाद अपितु 11 अंग भी समयोपरान्त लुप्त हो गए। आगम ग्रन्थों के लुप्त हो जाने से दिगम्बरों ने आगमों के स्थान पर अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना करना आवश्यक समझा। उन्होंने जैन धर्म और दर्शन के स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की। कुन्दकुन्द जो प्रसिद्ध दिगम्बर लेखक था और जो ईस्वी सन् के आरम्भ में हुआ माना जाता है, ने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें *पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार* और *षट्प्राभृत* उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रारम्भिक दिगम्बर जैन लेखकों ने प्राकृत में लिखा। वट्टकर जो *मूलाचार* का लेखक है, जैन साधुओं के आचार के नियमों के बारे में विचार करता है; स्वामी कार्तिक *यानुप्रेक्षा* में सांसारिक जीवन की बारह कमियों पर लिखा है। धरसेन के शिष्य भूतबलि ने 75 ई॰ के लगभग *षट्खण्डागम* पूर्ण किया। यतिवृषभ भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का रचयिता था। उसने गुणधर के *कषायपाहुड़* पर *चूर्णिसूत्र* और *कर्णसूत्र* लिखे।

कुछ अन्य प्रारम्भिक दिगम्बर जैन विद्वान् जिन्होंने संस्कृत में लिखा है, उनमें समन्तभद्र महत्त्वपूर्ण हैं। उसके ज्ञात और उपलब्ध ग्रन्थ शुद्र संस्कृत में हैं जिनके नाम हैं – *आप्तमीमांसा, देवागम स्तोत्र, युक्तानुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, जिनस्तुतिशतक* व *स्तुति विद्या* और *रत्नकरण श्रावकाचार*। उमास्वामिन या उमास्वाति के *तत्त्वार्थादिगम्सूत्र* (मोक्ष-

शास्त्र) का जैन धर्म में उच्च स्थान है। "मोक्ष-शास्त्र" पर सबसे प्राचीन उपलब्ध दिगम्बर टीका पूज्यवाद की (*सर्वार्थसिद्धि*) लगभग 450 ई॰ की है। अकलंक एक बड़ा तार्किक था जिसके प्रसिद्ध ग्रंथ *राजवार्तिक* और *अष्टषति* हैं। मानतुंग प्रसिद्ध *भक्तामर* या *आदिनाथ स्तोत्र* के लेखक हैं। अनुश्रुति के अनुसार इस लेखक का संबंध राजा हर्ष (600-647 ई॰) से है। विद्यनन्दि एक बड़ा तार्किक टीकाकार और अकलंक की परम्परा का व्याख्याकार था। वह अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथों का लेखक भी है।

सिद्धसेन दिवाकर प्रसिद्ध दार्शनिक टीका *सन्मतिसूत्र* का लेखक है। भवादी तर्क के ग्रंथ *द्वादशारण्यचक्र* का लेखक है। उसने सिद्धसेन की *सन्मति* पर भी टीका लिखी जो छठी शताब्दी का है। हरिभद्र सूरि (700-770 ई॰) प्रमुख लेखक है जिसने संस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रंथ लिखे। वह आगम ग्रंथों का संस्कृत में सबसे प्राचीन टीकाकार है और उसका जैन तर्कशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसने *योगबिन्दु* और *योगदृष्टिसमुच्चय* लिखकर योग साहित्य में एक नए युग का आरंभ किया। अपने *षट्दर्शन समुच्चय* में उसने दर्शन के विभिन्न रूपों का विश्लेषण किया। जिनभद्र क्षमाश्रमण श्वेताम्बर आगम सूत्रों का सबसे प्राचीन टीकाकार है और प्रायः भाषाकार के रूप में जाना जाता है। वीरसेन ने *षट्खण्डागम* और *कषायप्राभृत* को चित्तौड़ में ऐलाचार्य से सीखा और बाद में उसने *धवला* और *जयधवला* के अंश को दक्षिण में नौवीं सदी में लिखा। विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र प्रसिद्ध तार्किक थे। ये सब संभवतः समकालीन थे और आठवीं सदी में रहते थे। अमृतचन्द्र प्रतिभाशाली टीकाकार था जिसने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की व्याख्या की और *तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थ सिद्धपाय,* आदि लिखे। दसवीं सदी के अन्त में नेमिचन्द ने दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

अभयदेव (1064 ई॰) ने अपने अध्ययन द्वारा 9 अंगों पर टीका लिखकर जैन अर्द्धमागधी को आगे बढ़ाने में योगदान दिया। शांतिसूरि और देवेन्द्र गणि (ग्यारहवीं सदी) दोनों ने महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय आगम ग्रन्थ *उत्तराध्ययन* पर विस्तार से टीका लिखी। मालवा के लेखक अमितगति ने *पंचसंग्रह* नाम का ग्रन्थ जैन दर्शन पर लिखा। वादिराज, जो पश्चिम चालुक्य राजा जयसिंह के राज्य में रहता था, ने जैन तर्कशास्त्र पर दो ग्रन्थ *प्रमाण निर्णय* और *न्यायविनिश्चय विवरण* लिखे। जिनदत्त सूरि भी अनेक ग्रन्थों का लेखक है। कुमारपाल का गुरु हेमचन्द्र प्रसिद्ध लेखक था जिसने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर लिखा। वह कालिकाल सर्वज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने *प्रमाणमीमांसा* स्व टीका के साथ लिखी। उसके अन्य सात दार्शनिक ग्रन्थ हैं – *अन्ययोगव्यवहारच्छेदिका* और *योगशास्त्र सटीक*। जिनेश्वर सूरि ने *धर्म विधिप्रकरण* लिखा। आशाधर बीस से अधिक ग्रन्थों का लेखक है। उसके *सागरधर्मामृत* और *अंगारधर्मामृत* बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं।

तेरहवीं सदी के पश्चात् भी जैनियों में साहित्यिक गतिविधियां चलती रहीं। अनेक साहित्यिक ग्रन्थ लिखे गए किन्तु अधिकतर रूढ़िगत, नकली, और बनावटी थे। वे स्वाभाविक और जीवन्त नहीं थे जैसाकि प्राचीन समय में था। मूल संघ के भट्टारक पद्मनन्दि, सकलकीर्ति और शुभमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थ लिखे जान पड़ते हैं। मध्यकाल में समयसुन्दर जैन धर्म के बड़े विद्वान हुए हैं जिन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे। सत्रहवीं सदी में राजमल्ल ने *लाटीसंहिता, अध्यात्मकमल मार्तण्ड* और *पंचाध्यायी* की रचना की। मेघविजय *मात्रिकाप्रसाद, ब्रम्हाबोध, युक्तिबोध सटीक* और *धर्ममंजूषा* के लेखक हैं।

सोलहवीं सदी में दर्शन और आगम ग्रन्थ हिन्दी में लिखे जाने लगे[19] क्योंकि यह जनमानस की भाषा हो गई। पंडित टोडरमल अठारहवीं सदी में हिन्दी गद्य का प्रसिद्ध लेखक था। उसने कठिन, दुरूह ग्रन्थ जैसे *गोमटसार, जीवकर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणसार* और *त्रिलोकसार* पर टीकाएं तैयार कीं। उसका *मोक्षमार्ग प्रकाश* मौलिक और स्वतंत्र ग्रन्थ है जो भारतीय साहित्य में रत्न के समान चमकता है। पंडित शिवलाल और पंडित लालचन्द शाह ने हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे। कुशालचन्द काला, पंडित दौलतराम और पारसदास निगोत्या ने हिन्दी में वाचनिकाएं लिखीं। उन्नीसवीं सदी के जयचन्द छाबड़ा ने संस्कृत और प्राकृत में लिखने का अच्छा प्रयास किया। उसने 1804 और 1813 ई० के मध्य अनेक संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

आगम और दर्शन के ग्रन्थ राजस्थानी भाषा में भी लिखे गए।[20] समयसुन्दर, जिनहर्ष, जिनसमुद्र सूरि और तेरहपंथी सम्प्रदाय के जीतमल प्रसिद्ध लेखक थे जिन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे। जीतमल का 60000 श्लोकों का *भगवती सूत्र* एक बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

समृद्ध कथा साहित्य

जैन साहित्य में अनेक लोकप्रिय कथाएं, कहानियां और विवरण मिलते हैं। जैन विद्वान् अच्छे कहानीकार थे और इसलिए उन्होंने अनेक कथाएं लिखीं अन्यथा वे लुप्त हो जातीं। ये कहानियां, कथाओं, कथाकोष, *महाभारत, रामायण,* चरित और पुराणों में पायी जाती हैं। ये प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती और हिन्दी में लिखी हुई मिलती हैं। इनमें लोकसाहित्य, नैतिक वृत्तान्त और प्रणयक कहानियां, साहसी पशु-जीवन और व्यन्तर देवता, नाटक और उपन्यास, राजनैतिक और ऐतिहासिक कहानियां आती हैं।

---

19. कैला!शचन्द्र जैन; *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ० 158.
20. वही, पृ० 160.

कथा, कथानक और कथाकोश

जैनियों ने कहानियों के ग्रन्थ लिखना करीब ईस्वी सन् के आरम्भ से शुरू किया था। पैण्ण और शिवार्य की (पहली सदी ईस्वी) *भगवती आराधना* अधिकतर स्वतंत्र कथानकों के अन्तिम साधन स्रोत माने जाते हैं। स्वामीकुमार *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* के लेखक हैं जो प्राकृत का सुन्दर और लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके साथ-साथ उपन्यास पर भी स्वतंत्र ग्रन्थ मिलते हैं। इसमें हरिभद्र के (आठवीं सदी) प्राकृत में लिखे *धूर्ताख्यान, समराइच्चकहा* और *कथाकोश* प्राकृत में लिखे हुए हैं। उद्योतनसूरि का *कुवलयमाला* (778 ई०) प्राकृत में लिखा है। सिद्धर्षि (905 ई०) का *उपमितिभव प्रपंच कथा*, धनपाल (970 ई०) का *तिलकमंजरी*, जिनेश्वर का *कथाकोश*, हरिषेण (998 ई०) का *धर्मपरीक्षा*, अमितगति के 993 ई० के और नयसेन के 1125 ई० के भी ग्रन्थ हैं।

मूल संघ के भट्टारक सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सुरेन्द्रकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति और काष्ठा संघ के सोमकीर्ति व मेघविजय ने भी कथाएं लिखीं।

हिन्दी साहित्य में भी जैन लेखकों ने कथा साहित्य पर बहुत लिखा है। ब्रह्मरायमल्ल, जिनदास, खुशालचन्द काला, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति, पंडित बखतराम और पंडित दौलतराम ने भी कथाएं लिखी हैं।

रामायण, महाभारत, चरित, पुराण और नाटक

जैनियों ने हिन्दुओं के *रामायण, महाभारत* और पौराणिक विषय लिए किन्तु उन्होंने इसमें अपनी मौलिकता दिखाई। इनमें सबसे प्राचीन प्राकृत का रामायण विमलसूरि का *पाउमचरिय* है। यह पहली सदी ई० में लिखा गया प्रतीत होता है। जैन महाभारत का पहला उपलब्ध ग्रन्थ चौथी सदी में संघदासगणि रचित *वासुदेवहिण्डी* है। परमेश्वर राजा महापुराण लेखकों में सबसे महत्त्वपूर्ण और प्राचीन है।[21] उसका संस्कृत गद्य और काव्य से युक्त *वागार्थ संग्रह* बाद के जैन पुराण लेखकों पर आधारित है। जिनसेन का *हरिवंशपुराण* पाण्डवों की कहानी की सबसे प्राचीन जैन रचना है। दूसरे जिनसेन ने *आदिपुराण* लिखा जिसको पूर्ण उसके शिष्य गुणभद्र ने किया। रविषेण का संस्कृत में रचित *पद्मचरित* सबसे प्राचीन उपलब्ध जैन पुराण है जो *रामायण* की कथा की जानकारी देता है। अपभ्रंश में रचित *महापुराण* का लेखक पुष्पदन्त है। स्वयंभू अपभ्रंश का सबसे बड़ा कवि है जिसने *रामायण* ग्रन्थ लिखा।

विवरणात्मक साहित्य में चरित और पुराण आते हैं जो पूर्व के तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और ऋषियों की विस्तृत जीवनियां हैं। हरिभद्रसूरि द्वारा आठवीं सदी में रचित ग्रन्थ

---

21. ज्योतिप्रसाद जैन, *द जैन सोर्सस ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एंशियंट इण्डिया*, पृ० 150.

मुनिपतिचरित, यशोधरचरित और *नेमिनाषचरिउ*, हैं। इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ असग (853 ई॰) का *महावीरचरित*, वादिसिंह (लगभग 1050 ई॰) का *जीवनधरचम्पू*, कनकामर (दसवीं सदी) का *करकण्डुचरिउ*, नयनन्दि (1042 ई॰) का *सुदर्शन चरित*, वीर (1019 ई॰) का *जम्बूचरित*, सागरदत्त (1020 ई॰) जिनदेव का *श्रेणिकचरित* और रत्ननन्दि का *भद्रबाहुचरित* हैं।

देवसूरि और माणिकचन्द्र के द्वारा रचित *शान्तिनाथ चरित* और सुराचार्य और मलधारी हेमचन्द्र द्वारा *नेमिनाथचरित* और वादिराज भवदेव और माणिकचन्द्र द्वारा रचित *पार्श्वनाथ चरित* भी महत्त्वपूर्ण हैं। महासेन ने सिन्धुराज के आश्रय में *प्रद्युम्नचरित* लिखा। मलधारी देवप्रभ (तेरहवीं सदी) के *मृगावतीचरित* में रोचक उदयन वासवदत्ता और पद्मावती की कथाएं हैं जिनका आधार भास के नाटक हैं। देवेन्द्र सूरि ने प्राकृत में 1103 ई॰ में *शान्तिनाथ चरित* की रचना की। जिसका शिष्य प्रसिद्ध हेमचन्द्र था जो *त्रिषष्ठी शलाकापुरुष चरित* का लेखक था जिसमें 63 महापुरुषों के जीवन का वर्णन है। गुजरात में हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र 1110-1173 ई॰ ने 11 से कम नाटक नहीं लिखे हैं। और हस्तिमल चार महत्त्वपूर्ण नाटकों का लेखक है। मूल संघ के भट्टारक पदमनन्दि, सकलकीर्ति और उनके शिष्य ब्रह्मजिनदास और शुभचन्द्र ने और काष्ठा संघ के भट्टारक सोमकीर्ति ने कई चरित ग्रन्थ लिखे।[22]

मध्यकाल में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में लिखे हुए पुराणों और चरितों का हिन्दी में अनुवाद भी हुआ और कुछ नए भी लिखे गए। ब्रह्मजिनदास ने गुजराती और राजस्थानी मिश्रित भाषाओं में *आदिपुराण, जम्बूस्वामीचरित* और *यशोधर चरित* लिखे। खुशालचन्द्र काला, नथमल बिलाला, पंडित दौलतराम और अन्य ने अनेक पुराणों और चरितों का हिन्दी में अनुवाद किया।[23]

काव्य, महाकाव्य और अन्य लघु कविताएं

जैन आचार्यों ने अपने स्वयं के हित के लिए कविताएं न लिखकर तीर्थंकरों का सन्देश काव्य के माध्यम से लोगों के पास पहुंचाया जिसको वे अधिक-से-अधिक पसंद करते थे। उन्होंने तीर्थंकरों और आचार्यों की प्रशंसा में अनेक स्तोत्रों की रचना की।

रविकीर्ति, 634 ई॰ में रचित प्रसिद्ध आइहोल अभिलेख का रचयिता पुलकेशिन द्वितीय के समय प्रसिद्ध जैन कवि था। जोइन्दु (योगिन्दु), जिसने अपभ्रंश में बहुत कुछ लिखा, एक बड़ा कवि था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं – *परमपिप्पयस* (*परमात्म प्रकाश*) और *जयसार*। स्वयंभू अपभ्रंश भाषा का एक अन्य बड़ा कवि माना जाता है।, उसने *रामायण,*

22. कैलाशचन्द्र जैन, *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 164.

23. वही, पृ॰ 165-66.

हरिवंश, नागकुमार चरित और *स्वयंभू-छन्द* लिखे। पुष्पदन्त भी अपभ्रंश का एक अन्य जाना-माना कवि था। मल्लिनाथ सूरि कोलाचल, कालिदास के ग्रन्थों का प्रसिद्ध टीकाकार था। वह विजयनगर (1419-1446 ई॰) के सम्राट् वीरप्रताप प्रउद्ध देवराय का भी न्यायाधिकारी था।[24]

धनपाल दसवीं सदी का कवि था और उसने *ऋषभपंचाशिका* और *महावीरस्तवन* लिखे हैं। जिनेश्वर सूरी के शिष्य धनेश्वर सूरि ने *शत्रुंजय माहात्मय* की रचना की। जिनेश्वर सूरि का अन्य शिष्य जिनचन्द्रसूरि *संवेग रंगशाला* का लेखक है। जिनवल्लभ सूरि *श्रृंगारशतक, स्वप्नाष्टक विचार, चित्रकाव्य* और अनेक स्तोत्रों का रचयिता है। उसका श्रावक पद्मनन्दि भी कवि था जिसने *वैराग्यशतक* संस्कृत में लिखा। वाग्भट्ट ने *नेमिनिर्वाण* लिखा जिसका संबंध नेमिनाथ के जीवन से है। 1170 ई॰ का बिजोलियां (राजस्थान) का अभिलेख गुणभद्र द्वारा संस्कृत में लिखा गया। *चैत्यवन्दन कुलक* और *अवस्थाकुलक* जिनदत्त सूरि के काव्य ग्रन्थ हैं। हेमचन्द सूरि भी प्रसिद्ध कवि था, जिसने *द्वयाश्रय* संस्कृत में और *कुमारपाल चरित* प्राकृत में लिखा। आशाधर भी प्रसिद्ध कवि माना जाता है जिसने *भरतेश्वराभ्युदय* महाकाव्य और *राजीमति विप्रलंभ* तथा कुछ अन्य ग्रन्थ लिखे। चौदहवीं सदी में नयचन्द द्वारा रचित *हम्मीर महाकाव्य* हम्मीर की वीरता के कार्यों का वर्णन करता है जो रणथम्भौर में मुसलमानों के विरुद्ध बहादुरी से लड़ा था।

पद्मनन्दि, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलकीर्ति और ज्ञानचन्द्र जो मूल संघ के भट्टारक थे, ने अपने-अपने काव्य ग्रन्थ लिखे।[25] सोलहवीं सदी के जैन कवियों में समयसुन्दर का नाम सबसे प्रमुख माना जाता है। उसने अपनी काव्य प्रतिभा का प्रयोग रास, चौपाई, गीत, आदि के लिखने में किया। उसने 1504 ई॰ में *भावशतक* लिखा। उसने *अष्टलक्षी* भी लिखा जिसमें उसने आठ अक्षरों के वाक्य बनाए। *राग्योददतेसंख्य* के आठ लाख अर्थ किये गये हैं जिसको उसने सम्राट् अकबर की राजसभा में प्रस्तुत किया और जिसे सुनकर अकबर को आश्चर्य हुआ। वह *जिनसिंधपदोत्सव काव्य* का भी लेखक था और *रघुवंशवृत्ति* का भी। यद्यपि सहजकीर्ति ने जनभाषा में लिखा परन्तु उसके काव्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। तपागच्छ का मेघविजय प्रसिद्ध कवि है जिसने 1670 ई॰ में *देवानन्दाभ्युदय* महाकाव्य लिखा। उसके अन्य काव्य ग्रंथों की भी जानकारी है। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति, भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति और भट्टारक विजयकीर्ति ने अनेक पूजाओं की रचना की है।

मध्यकाल में हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती भाषाओं में जैन साहित्य लिखा गया। पन्द्रहवीं सदी में सकलकीर्ति ने *आराधना प्रतिबोधसार, नेमिश्वर गीत, मुक्तावली गीत* की

---

24. बी॰ए॰ सेलीटोर, *मेडिवल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर*, पृ॰ 377.
25. कैलाशचन्द्र जैन, *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 167-68.

रचना की और उसके छोटे भाई ब्रह्म जिनदास ने अनेक पूजाएं और गीत लिखे। बनारसीदास जो सत्रहवीं सदी में आगरा में रहता था, बड़ा विद्वान् और सुधारक था। उसने *समयसार नाटक, बनारसी विलास* और *अर्द्धकथानक* लिखे हैं। खुशालचन्दकाला, पंडित दौलतराम कासलीवाल, पंडित जयचन्द छाबड़ा और पंडित सदासुख कासलीवाल अनेक काव्य ग्रंथों के रचयिता माने जाते हैं। बुद्धजन ने चार काव्य ग्रन्थ यथा *बुद्धजन सतसई, तत्वार्थबोध, बुद्धजनविलास* और *पंचास्तिकाय* लिखे हैं।

समयसुन्दर राजस्थानी भाषा का एक प्रतिष्ठित कवि है। राजस्थानी भाषा में उसने *सीताराम चौपाई* जैन रामायण के रूप में लिखी। उसके अन्य काव्य ग्रंथ भी मिलते हैं। जिनहर्ष ने अनेक स्तवन और रासों की रचना की। *नन्दबत्तीसी चौपाई* उसी के द्वारा लिखी गई। जिनसमुद्र ने विभिन्न रास और स्तवनों की रचना की जिनमें करीब 50 से 60 हजार श्लोक हैं। जीतमल दलपतविजय *खुमानरासो* का लेखक है। *गोराबादल* और *पद्मावती* आख्यान क्रमशः हेमरत्न और लब्धोदय द्वारा लिखे गए। राजस्थानी भाषा में लिखित अन्य काव्य ग्रन्थ भी पाए जाते हैं।[26]

व्याकरण छन्द

साहित्य पर अधिकार रखने के लिए व्याकरण, छन्दकोष का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखकर समय-समय पर विद्वानों द्वारा व्याकरण के ग्रन्थ लिखे गए। पूज्यवाद ने पाणिनि पर *शब्दावतारान्यास* लिखा। शकटायन पल्लीकीर्ति ने 870 ई० में *शब्दानुशासन* लिखा और अपने आश्रयदाता अमोघवर्ष के सम्मान में *अमोघवृत्ति* टीका भी लिखी। बुद्धिसागर सूरि ने संस्कृत और प्राकृत की व्यापक *पंचग्रन्थी* नामक व्याकरण 1023 ई० में लिखी। हेमचन्द्र सूरि एक बड़े व्याकरणाचार्य थे जिनका *सिद्धहैमव्याकरण* इस विषय पर प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पंडित आशाधर *क्रियाकल्प* का लेखक है। सोलहवीं सदी में *चिन्तामणि प्राकृत व्याकरण* भट्टारक शुभचन्द्र द्वारा लिखी गई। श्रीवल्लभ ने प्राचीन व्याकरणों पर टीकाएं लिखीं और उनके इस पर स्वतंत्र ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। सहजकीर्ति एक महान् व्याकरणाचार्य था जिसने 1624 ई० में *सारस्वतवृत्ति* और शब्दार्णव व्याकरण *नामकोष* लिखा। कवि रायमल्ल ने *छन्दशास्त्र* और *पिंगल* हिन्दी में लिखा। व्याकरण पर *चन्द्रप्रभा, हेमशब्द चन्द्रिका* और *हेमशब्द प्रक्रिया* ग्रंथ मेघविजय द्वारा लिखे गए। चन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य ने भी व्याकरण पर ग्रन्थ लिखे। कुशललाभ और राजसोम ने राजस्थानी भाषा में क्रमशः *पिंगलशिरोमणि* और *दोहाचन्द्रिका* लिखा। इस भाषा में लिखे हुए अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।[27]

---

26. वही, पृ० 172.
27. वही, पृ० 173-74.

व्याकरण से संबंधित छन्द-शास्त्र है। हेमचन्द्र छंद संबंधी ग्रन्थों का लेखक रहा है। उसने व्याकरण के साथ इसका अतिरिक्त संकलन किया है। जिनवल्लभ सूरि के शिष्य जिनभद्रसूरि ने *अपवर्ग नाममाला कोष* की रचना की। *अपवर्गकोष टीका* पंडित आशाधर द्वारा लिखी गई किन्तु, वह उपलब्ध नहीं है। 1597 ई॰ में ज्ञानतिलक ने *शब्दप्रभाकोष* पर टीका लिखी और उनके शिष्य श्रीवल्लभ ने भी छन्द ग्रन्थ लिखे।

चूंकि जैन कवियों ने उच्च काव्य शैली में ग्रन्थ लिखे, अलंकार शास्त्रों पर लिखना उनके लिए स्वाभाविक था। हेमचन्द्र ने अपने स्वयं की टीका *अलंकार चूड़ामणि* के साथ *काव्यानुशासन* लिखा। पंडित आशाधर ने प्रसिद्ध आचार्य रुद्रट के *काव्यालंकार* पर टीका लिखी किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। वाग्भट्ट ने अपनी स्वयं की टीका *काव्यमाला* के साथ *काव्यानुशासन* नाम का ग्रन्थ लिखा। वादिराज ने वाग्भट्टालंकार के ग्रन्थों पर *कवि चन्द्रिका* नाम की टीका लिखी। अलंकार पर राजस्थानी भाषा में भी ग्रन्थ लिखे गए।[28]

तमिल, तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं में जैन साहित्य

जैन लेखकों की तमिल साहित्य को भी देन है। तमिल साहित्य का इतिहास मदुराई के संगम युग से (500 बी॰सी॰ 500 ए॰डी॰) प्रारम्भ होता है। जैन विचारधारा और दर्शन का प्रभाव *तोलकाप्पियम* में देखने को मिलता है जो तमिल व्याकरण का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन ग्रन्थ जैसे – *कुरल, शिलप्पदिकारम, नालदियर,* आदि के लेखक जैन धर्म के अनुयायी थे। तमिल भाषा में पांच विशाल काव्य जैसे *शिलप्पदिकारम, वलैयपत्ति* और *चिन्तामणि* के रचयिता जैन लेखक माने जाते हैं। कुछ लघु काव्य जैसे *नीलकेसी पेरूकथै* (वृहद्कथा), *नागकुमार काव्य* और *चूलामणि* जैन कवियों द्वारा रचे गये। तमिल साहित्य को समृद्ध करने का श्रेय अनेक जैन लेखकों को जाता है।[29]

जैनियों ने आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में चम्पूकाव्य लिखे। नन्नय प्रसिद्ध तेलुगु *महाभारत* का लेखक हुआ है। पम्प *आदिपुराण* और *भारत* (941 ई॰) का लेखक है। चम्पू शैली की कन्नड़ भाषा में लिखे हुए पम्प का भारतीय संस्कृति को उल्लेखनीय योगदान है। पम्प ने नारायण भट्ट को 1053 ई॰ में महान् *भारत* ग्रंथ को लिखने की प्रेरणा दी थी। तेलुगु विद्वान् नन्नयभट्ट ब्राह्मण था, किन्तु जैन धर्म के लिए उसने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जैन विदुषिकान्ति ने अभिनव पम्प की अधूरी कविता को पूर्ण किया।[30]

जैनियों ने कन्नड़ साहित्य की समृद्धि में बड़ा योगदान दिया। उन्होंने अपने साहित्य

---

28. वही, पृ॰ 172.
29. पी॰बी॰ देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड समजैन इपिग्राफ्स* पृ॰ 84; बी॰ए॰ सेलीटोर, *मेडिवल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर,* पृ॰ 263.
30. वही, पृ॰ 263.

से इसको समृद्ध किया।[31] बाहुबली पंडित ने 1352 ई॰ में *धर्मपुराण* लिखा। केशवर्णी ने 1369 ई॰ में गोमटसार पर कन्नड़ टीका लिखी। उसने कन्नड़ में अमितगति श्रावकात्तार पर भी टीका लिखी और *सारत्रेय* पर भी इसी भाषा में टीका लिखी। अभिनवश्रुत मुनि को मल्लिनाथ की *सज्जनचित वल्लभ* पर कन्नड़ में टीका लिखने का श्रेय है। मधुर (1365 ई॰) *धर्मनाथ पुराण* का लेखक है जिसने गोमट की प्रशंसा में अष्टक भी लिखा।

भास्कर ने 1424 ई॰ में *जीवनधर चरित* लिखा। कल्याणकीर्ति भी कुछ ग्रन्थों का लेखक है। जिनदेवण्ण ने 1444 ई॰ में *श्रेणिक चरित* लिखा और विजयनन ने *द्वादशानप्रेथे*। इनका समकालीन विद्यानन्द था जो अपने संस्कृत ग्रन्थ *प्रायश्चित्* की टीका का लेखक था। तेरकणाम्बि बोम्मरस *सनतकुमार चरित* और *जीवनधर चरित* (1485 ई॰) का लेखक है। कोटिश्वर ने *जीवनधर षट्पदि* की रचना की। यशकीर्ति ने *धर्मार्श्मभ्युदय* पर टीका लिखी और शुभचन्द्र ने *नरपिंगली* लिखी। देवप्प को जैन पुराण पर लिखने का भी श्रेय है। पंडित मुनि का ग्रन्थ *चन्द्रप्रभचरित* था।

रत्नकरण्डी अपने महान् ग्रन्थ *त्रिलोकशतक* से जाना जाता है। इसमें 10 हजार श्लोक हैं। उसने इसे 1557 ई॰ में पूर्ण किया। उसके अन्य ग्रन्थ *भरतेश्वर चरित* और *पदजाति* लिखे। मुदबद्री से संबंधित अन्य प्रसिद्ध लेखक नेमण्ण था जिसने *ज्ञान भास्कर चरिते* लिखा। बाहुबली ने *नागकुमार चरिते* 1560 ई॰ में लिखा। दोड्डनाथ ने *चन्द्रप्रभशतपदि* 1576 ई॰ में लिखा। पदमरस ने *शृंगारकथे* 1599 ई॰ में लिखी। ब्रह्मकवि अपने *वज्रकुमार चरित* के कारण याद किया जाता है। पायमुनि ने 1606 ई॰ में *सन्तकुमार चरिते* लिखा। सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध लेखकों में पंचबाण प्रसिद्ध था। *भुजबल चरित* 1614 ई॰ में यह बतलाता है कि गोमटनाथ का मस्तकाभिषेक 1612 ई॰ में किया गया था। देवरस (1650 ई॰) *गुरुदत्त चरित* का लेखक था।

जैनियों ने न केवल कन्नड़ में ही साहित्यिक ग्रन्थ लिखे अपितु व्याकरण में भी बारहवीं शताब्दी के मध्य में नागवर्मा द्वितीय ने तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे : *काव्यालोकन कर्नाटक भाषा-भूषण*, और *वेतुकोश*। 1260 ई॰ में केशराज ने कन्नड़ में *शब्द मणिदर्पण* की रचना की। व्याकरणाचार्य और अलंकाराचार्य देवत्तम ने *नानार्थ रत्नाकर* 1600 ई॰ में लिखा। अन्य समकालीन अलंकाराचार्य शृंगार कवि *कर्नाटक संजीवन* का लेखक है। पार्श्ववर्णी का ग्रन्थ *सम्यक्त कौमुदी* के नाम से जाना जाता है।

ऐतिहासिक, राजनैतिक और भौगोलिक ग्रन्थ

कुछ ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं जिनका विवेक के साथ परीक्षण करके कुछ निश्चित

---

31 वही, पृ॰ 265-67, पृ॰ 375-87.

निर्णय पर पहुंचा जा सकता है। हेमचन्द्र के *द्वयाश्रय* और *त्रिषष्ठी शलाकापुरुष चरित* चालुक्यों के अधीन जैन धर्म के इतिहास के लिए उपयोगी हैं। वि॰सं॰ 1361 में रचित प्रभाचन्द्र सूरि का *प्रभावक चरित* और वि॰सं॰ 1405 में रचित राजेश्वर का *पुरातन प्रबन्ध संग्रह* में अनेक जैन सम्राटों और सन्तों के रोचक उपाख्यान सम्मिलित हैं। तीर्थमालाएं जैसे जिनप्रभ सूरि का *विविध तीर्थकल्प* तीर्थों के संक्षिप्त इतिहास की जानकारी देता है। खरतरगच्छ, तपागच्छ और मूल संघ पट्टावलियां धार्मिक और राजनैतिक इतिहास के लिए उपयोगी हैं। वे वंशावलियां, जाति, समुदाय में उत्पन्न विशेष व्यक्तियों की सूचनाएं देती हैं। प्रशस्तियां भी अभिलेख जितनी ही उपयोगी हैं। सोमदेव (759 ई॰) का *नीतिवाक्यामृत* राजनीति विज्ञान पर एक व्यवस्थित ग्रन्थ है। अनेक भौगोलिक ग्रन्थ जैसे यति वृषभ का *तिलोयपण्णत्ति, लोकविभाग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति* और *त्रिलोकसार* जैन दृष्टिकोण से सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करते हैं।

वैज्ञानिक ग्रन्थ

जैन लेखकों ने न केवल साहित्यिक ग्रन्थों अपितु आयुर्वेद, गणित और ज्योतिष पर भी ग्रन्थ लिखे।

आयुर्वेद

पूज्यपाद आयुर्वेद विज्ञान का अच्छा जानकार था। राजा शिवमार प्रथम *हस्तिशास्त्र* का लेखक था। आशाधर ने *अष्टांगहृयोतिनीटीका* वाग्भट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ पर लिखी किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। मंगलराज प्रथम (1360 ई॰) का प्रसिद्ध ग्रन्थ *खजेन्द्रमणि दर्पण* विष के बारे में जानकारी देता है। *वैद्यामृत* लगभग 1500 ई॰ में श्रीधर देव द्वारा लिखा गया। बाचरस *अश्ववैद्य* का लेखक था जिसमें अश्वों और उनकी बीमारियों के संबंध में विस्तार से बताया गया है। शैव अपने ग्रन्थ *वैद्यसांगत्य* से संबंधित है। पद्मरस ने *हेसार समुच्चय* लिखा जो घोड़ों के आकार, बीमारियों, आदि के संबंध में बारीकी से विचार करता है। उग्रादित्य (770-840 ई॰) *कल्याणकारक* का लेखक है जो आयुर्वेद पर पूर्ण और मौलिक ग्रन्थ है।[32] दीपचन्द्र ने 1735 ई॰ में *लंघणपत्य निर्णय* नाम का आयुर्वेद पर ग्रन्थ लिखा। इसमें लंघन के द्वारा उपचार के बारे में बताया गया है। राजस्थानी भाषा में भी आयुर्वेद पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये।[33]

गणित

जैनियों ने गणित पर भी कुछ ग्रन्थ लिखे। महावीराचार्य *गणितसार संग्रह* का लेखक है

32. वही, पृ॰ 175.

33. कैलाशचन्द जैन, *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 175.

जो गणित पर एक महत्त्वपूर्ण और पूर्ण ग्रन्थ है। यह राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के शासन के उत्तर भाग में हुआ। गणित में अन्य ग्रन्थ जैसे राजादित्य का *व्यवहार गणित, क्षेत्र गणित, लीलावती व्यवहार रत्न, चित्र हसुगे, जैन गणित सूत्र, टीकोदरण,* आदि ग्रंथ मुख्य हैं।[34] *उत्तर छत्तीसी,* ज्ञान-भूषण के शिष्य सुमतिकीर्ति द्वारा संस्कृत में लिखी गई। पंडित टोडरमल का *अर्थ संदृष्टि धिकार* गणित का उच्च ग्रन्थ है।[35] पंडित मन्नालाल सांगा भी इस विज्ञान में निपुण था। *लीलावती भाषा चौपाई* और *गणित चौपाई* जो राजस्थानी भाषा में लिखी हुई हैं, इसी के द्वारा रचित माने जाते हैं।[36]

ज्योतिष

ज्योतिष के ग्रन्थ भी समय-समय पर जैन लेखकों के द्वारा लिखे गये थे। हरिभद्र सूरि ने *लग्न शुद्धि* लिखा।[37] ग्यारहवीं सदी में दुर्गदेव हुआ जो एक प्रसिद्ध ज्योतिषी था, ने प्राकृत में *अर्द्धकाण्ड* लिखा।[38] हीरकलश ने प्राकृत में *ज्योतिषसार* नाम का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। *दीक्षा प्रतिष्ठा विशुद्धि* 1628 ई॰ में लिखा गया। हर्षकीर्ति ने *ज्योतिष सारोहदार* लिखा। मेघविजय ज्योतिष विज्ञान में बहुत प्रवीण था जिसने अनेक ग्रन्थ लिखे। नेगुण्ड के श्रीघराचार्य ने *जातकतिलक* नाम का पहला कन्नड़ ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा।[39] राजस्थानी भाषा में भी बहुत से ज्योतिष ग्रन्थ लिखे गये।

जैन शास्त्र भण्डार

ग्रन्थों की सुरक्षा के लिए मध्यकाल में जैनियों ने शास्त्र भण्डारों की स्थापना करके भारतीय संस्कृति को बड़ा योगदान दिया है। इनके शैक्षणिक महत्त्व को जानकर जैन साधु जो बड़े विद्वान् थे, ने इनकी स्थापना की। यह कहा जाता है कि जिनभद्र सूरि ने अपने जीवन का श्रेष्ठ भाग आने वाली संतति के लिए इन ज्ञान भण्डारों की स्थापना अनेक स्थानों जैसे जैसलमेर, नागोर, जालौर, आदि में पन्द्रहवी सदी में की। जैन राजाओं और उनके मंत्रियों ने इसमें महत्त्वपूर्ण योग दिया। कुमारपाल ने 21 शास्त्र भण्डारों की स्थापना की और प्रत्येक को स्वर्ण स्याही में लिखी *कल्पसूत्र* की प्रति भेंट की। राज्य के जिन महान् मंत्रियों ने शास्त्र भण्डारों की स्थापना की उनमें वस्तुपाल पेथड़शाह, मंडन और अन्य के नाम प्रसिद्ध हैं। अपने धर्म की सेवा की भावना से वणिक महाजनों ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों

---

34. वही.
35. कैलाशचन्द्र जैन, *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ॰ 175.
36. वही, पृ॰ 175.
37. मोहनलाल तुलीचन्द्र देसाई, *जैन साहित्यों का संक्षिप्त इतिहास,* पृ॰ 182.
38. *सिंघी जैन सीरीज,* XXI (भूमिका).
39. बी॰ए॰ सेलीटोर, *मेडीवल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर,* पृ॰ 267

की प्रतिलिपियां करवाईं। जैन श्रावक संग्राम सोनी ने 1394 ई॰ में *कल्पसूत्र* और कालकाचार्य कथा की प्रतियां कराने में लाखों स्वर्ण मोहरें व्यय कीं। धरणाशाह ने ताड़पत्रों की अनेक प्रतियां शास्त्र भण्डारों को भेंट करने के लिए लिखवाईं।

मध्यकाल में जैन मन्दिर ज्ञान के केन्द्र थे और विद्यार्थियों की शिक्षा हेतु भी इनका प्रयोग होता था। इसलिए ग्रन्थों को एकत्रित करना आवश्यक था। महत्त्वपूर्ण जैन भण्डार पाटन, जैसलमेर, डूडेर, नागोर, बीकानेर, जयपुर, आगरा, देहली, कारंजा, पूना, मूडबिद्री, हुंच, वारंगल और कारकल में पाए जाते हैं। इन भण्डारों में न केवल विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित किन्तु धर्म-निरपेक्ष विषयों जैसे – ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, व्याकरण और काव्य के अध्ययन और संदर्भ के लिए रखे जाते थे। इससे ज्ञात होता है कि मध्यकाल में जैन केवल संकीर्ण प्रवृत्ति के नहीं थे बल्कि उदार प्रवृत्ति के थे। वे विशाल ग्रंथ भण्डारों के महत्त्व को समझते थे।

जैनेतर लेखक जैन कालिदास, भारवि, माघ, तुलसीदास, बिहारी और केशव के ग्रंथ भी इन ग्रंथ भण्डारों में उपलब्ध हैं। सचित्र ग्रंथ विज्ञप्ति-पत्र और प्राचीन चित्र जो इन ग्रंथ भण्डारों में पाए जाते हैं, कला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये भण्डार साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। विभिन्न काल के ग्रन्थ अलग-अलग भाषाओं जैसे संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी और हिन्दी में लिखे हुए इनमें सुरक्षित हैं। इन भण्डारों में अधिकतर ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में मिलते हैं। कभी-कभी ग्रंथों की एक से अधिक प्रतियां अलग-अलग काल की इन भण्डारों में मिलती हैं जो ग्रंथों का संपादन करने के लिए उपयोगी हैं। अधिकतर ग्रंथ भण्डारों में पाए जाने वाले ग्रन्थों का वर्गीकरण और सूचीकरण नहीं किया गया है। यदि यह किया जाता है तो प्राचीन और आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य के अंधकार और अशोधित क्षेत्रों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

तंत्र-विद्या और मंत्र-विद्या

जैनियों ने तंत्र-विद्या और मंत्र-विद्या को भी योगदान दिया है। इस दिशा का आरंभ यक्षी पूजा के रूप में हुआ था जिसका विकास अनेक देवियों की पूजा जैसे ज्वालामालिनी और पद्मावती की पूजा में हुआ। अनेक कर्मकाण्ड किये जाने लगे और मंत्र जपे गये। पद्मावती और ज्वालामालिनी के अतिरिक्त कुछ अन्य यक्षिणियों की पूजा-तंत्र अनुश्रुतियों के जैन अनुयायियों द्वारा की जाने लगी। यद्यपि ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं। इसका एक उदाहरण अकलंक का मिलता है जिसने अपने बौद्ध विरोधियों को कुषमाण्डिनी की सहायता से नष्ट कर दिया। कुषमाण्डिनी नेमिनाथ की यक्षिणि अम्बिका का दूसरा नाम है।

मध्यकाल में जैन-धर्म में तंत्र-विद्या और मंत्र-विद्या बहुत लोकप्रिय हो गई यद्यपि यह जैन-धर्म के सिद्धान्तों के विपरीत है। जैन धर्म के कुछ महान् आचार्यों ने भी मंत्र विद्या और तंत्र-विद्या से सम्बन्धित इस ज्ञान का अध्ययन और आचरण में उपयोग किया। इस मंत्र-विद्या से वे बड़ी शक्तियों पर नियंत्रण रखते थे और इसके द्वारा अपना प्रभाव जमाते थे। यापनीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने ज्वालिनी पूजा के विस्तार में वास्तविक योगदान दिया।

ऐलाचार्य और हेलाचार्य के समय के पश्चात् जैन आचार्यों और साधुओं ने इस कला में प्रभुत्व स्थापित करना शुरू किया। प्रभावशाली आचार्य जैसे इन्द्रनन्दि, योगिन्द्र और मल्लिसेन सूरि ने इस प्रकार की पूजा के महत्त्व की स्थापना की। मल्लिसेनसूरि, जो ग्यारहवीं सदी में रहता था, प्रसिद्ध जैन सन्त था। वह प्रसिद्ध चामुण्डराय के गुरु आचार्य अजितसेन की गुरु परम्परा का था। वह महान् विद्वान् और लेखक भी था और धारवाड़ जिले के मलगुण्ड के मठ का मुखिया था। उसके मंत्र-विद्या सम्बन्धी संस्कृत के तीन ग्रन्थ मिलते हैं। पहला ग्रन्थ *भैरव-पद्मावती कल्प* पद्मावती की सहायता से तंत्र-मंत्र से सम्बन्ध रखता है। इसका दूसरा ग्रन्थ *ज्वालिनी कल्प* ज्वालिनी से सम्बन्ध रखता है।

कुछ अभिलेख भी हैं जिनका सम्बन्ध उन जैन आचार्यों से है जो अपने आपको मंत्रवादिन कहकर गौरवान्वित होते थे। श्रवणबेलगोला के 66वें अभिलेख में श्रीधरदेव आचार्य का वर्णन है जो मंत्र-विद्या में निपुण था। इसी अभिलेख में एक अन्य आचार्य पद्मनन्दि का नाम है जो मंत्र-विद्या में चतुर था। 67वां अभिलेख कल्याणकीर्ति आचार्य का उल्लेख करता है जिसका भूत-प्रेत आदि पर नियंत्रण करने में कोई सानी नहीं था। उत्तर भारत के जैन भट्टारक, श्रीपूज्य और यति मंत्र-विद्या और तंत्र-विद्या में बहुत प्रवीण थे। इसके परिणामस्वरूप वे अपने चमत्कारों से जनता पर प्रभाव डालते थे। उनको बड़ा सम्मान और आदर दिया गया।

9

धार्मिक विभाजन

भारत के अन्य धर्मों के समान जैन धर्म में भी प्रारंभ से ही अनेक मतमतान्तर हुए। आगमों के विभिन्न अर्थ करने के कारण भी अनेक संप्रदायों की क्रम से उत्पत्ति हुई। मुख्य संघ से समयोपरांत बहुत से स्थानीय संघ निकले। इनमें पारस्परिक व्यवस्थाओं के लिए कोई केन्द्रीय संघठन नहीं था। विशेष समय की परिस्थितियों ने प्राचीन विचारों को त्यागकर नए को स्वीकार करने को बाध्य कर दिया। कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों ने नेतृत्व प्राप्त करने हेतु नए संप्रदाय केवल अपने नाम और प्रसिद्धि के लिए चलाए।

महावीर के समय

महावीर के समय में भी जैन धर्म आपसी भेदभावों से मुक्त न था। पार्श्वनाथ के अनुयायी चातुर्याम धर्म में विश्वास करते थे जिसमें महावीर ने ब्रह्मचर्य का व्रत जोड़ दिया। इनमें आपसी समझौते का प्रयत्न किया गया और पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।

महावीर के समय में भी गोशाल के आजीविक सम्प्रदाय का अस्तित्व था। उनका नेता मंखलिपुत्र गोशाल था। आजीविक शब्द से धार्मिक संप्रदाय का बोध न होकर जीवनयापन के लिए धंधे का होता है। यह नाम उसके विरोधियों द्वारा दिया गया था। किन्तु बाद में इसका अपमानकारी अर्थ शनैः-शनैः लुप्त हो गया। संन्यासी जीवन के आरंभ के वर्षों में महावीर और गोशाल एक-दूसरे से पारस्परिक रूप से बहुत नजदीक थे, किन्तु बाद में दोनों अलग हो गए।

श्वेताम्बरों के अनुसार आठ भेद थे, जिसमें पहला महावीर जमालि द्वारा किया गया, और आठवां 83 ई० में हुआ जिसमें दिगम्बर संप्रदाय अस्तित्व में आया। दिगम्बर पूर्व भेदों से अनभिज्ञ रहे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में भेद 79[1] या 82[2] ई॰ में हुआ। अपने-अपने सम्प्रदायों की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बर और दिगम्बर अपने-अपने सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के लिए निम्न कथन प्रस्तुत करते हैं।[3] शिवभूति नाम के साधु को रथवीरपुर के राजा द्वारा मूल्यवान कम्बल दिया गया। उसके गुरु ने उसकी कंबल की पसंद को देखकर उसे त्यागने का आदेश दिया लेकिन उसने ऐसा करने को मना कर दिया और नाराज होकर कंबल को छोड़कर वह नग्न ही भाग गया और उसने दिगम्बर संप्रदाय की स्थापना की। यह विवरण किसी भी भांति विश्वसनीय नहीं है, चूंकि कोई भी श्रावक, जैन ग्रंथों के अनुसार साधु को कीमती कम्बल देना पसंद नहीं करेगा क्योंकि उसे तो सीमित दान पर रहना है। यदि यह मान लिया जाय कि साधु कंबल को पीछे छोड़कर नग्न भाग गया, उसे इस प्रकार के संप्रदाय के लिए कैसे अनुयायी मिल गए जो लोकप्रिय नहीं था। अपने को पहले का सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बर निम्न प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

1. श्वेताम्बरों के पास दृष्टिवाद को छोड़कर बारह अंग हैं, जबकि दिगम्बरों के अधिकार में कुछ नहीं। दिगम्बर साहित्य की रचना उनके 82 ई॰ में अस्तित्व में आने के पश्चात् हुई।

2. श्वेताम्बरों के आगमों में दिगम्बर सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बरों के अंग प्राचीन समय के हैं और दिगम्बरों के अस्तित्व में आने के पहले उनकी रचना हो गई थी।

3. बौद्ध पिटक और *भगवती सूत्र* में गोशाल आजीविक पिटक का वर्णन है लेकिन बहुत प्राचीन दिगम्बर जैन साहित्य में यह नहीं पाया जाता है।

4. मथुरा के जैन अभिलेखों से स्पष्ट पता चलता है कि गणों और कुलों के नाम *कल्पसूत्र* के स्थविरावली से मिलते-जुलते हैं।

दिगम्बर भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का कथन देते हैं जो इस प्रकार है।[4] 293 ई॰ पू॰ में मगध में भयंकर अकाल पड़ा और 14000 साधु भद्रबाहु के नेतृत्व में चन्द्रगुप्त मौर्य के

---

1. *दर्शनसार*, पृ॰ 7.
2. *श्रमण भगवान महावीर*, पृ॰ 269.
3. वही, पृ॰ 272.
4. इसका वर्णन हरिषेण के *वृहत कथाकोशों*, रत्ननंदि के *भद्रबाहु चरित्र* और *राजबलि कथा* में मिलता है।

साथ दक्षिण की ओर रवाना हुए। कुछ साधु स्थूलभद्र के नेतृत्व में उत्तर में ही रुक गए। अकाल के पश्चात् भद्रबाहु उत्तर को लौटा और उसे पता चला कि उत्तर के साधु जैन-धर्म के निश्चित मूल सिद्धांतों से विचलित हो गए हैं और वस्त्र पहनना शुरू कर दिया है। किंतु वास्तविक और अंतिम भेद दो सदियों के बाद हुआ जब संघ की एकता सदा के लिए समाप्त हो गई। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय को पहले का बताने हेतु निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

1. ऐसे अकाल इस समय होना संभव है जैसाकि बंगाल के बोगरा जिले के महास्थान पाषाण के टुकड़े के अभिलेख और उत्तर के गोरखपुर जिले के सोहागपुर ताम्र के अभिलेख से ज्ञात होते हैं।
2. भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के समय दिगम्बरों की संख्या अधिक थी। यूनानियों का उन पर ध्यान पड़ा और वे उनको जिमनोसोफिस्ट्स के नाम से पुकारने लगे।
3. मथुरा में दो प्राचीन जैन मंदिर प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मंदिर दिगम्बरों के हैं, क्योंकि इनमें विराजमान मूर्तियां नग्न हैं। हाथीगुम्फा अभिलेखों की दीवारों पर साधु और संन्यासियों के चित्र नग्न हैं।[5]
4. जैनियों के आजिविक और यापनीय संप्रदायों ने दिगम्बरों की नग्नता की प्रथा को अपना लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूल प्रथा थी और इसलिए उन्होंने इसे स्वीकार किया। बाद में आजीविक और यापनीय दिगम्बरों में मिल गए, जो मूल धर्म था किन्तु श्वेताम्बरों में नहीं। इससे भी दिगम्बरों का पहले होने का पता चलता है।
5. कुन्दकुन्द द्वारा स्थापित दिगम्बरों के मूल संघ से ज्ञात होता है कि दिगम्बर मूल है, श्वेताम्बर नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों संप्रदायों की उत्पत्ति किसी ऐसी विशेष घटना से नहीं लगायी जा सकती जिसने समुदाय को दो विरोधी समूहों में विभाजित कर दिया। ऐसा लगता है कि जैन संघ का अलग-अलग भागों में विभाजन शनैः-शनैः हुआ और पहली सदी के अंत तक पारस्परिक मतभेद उभरने लगे।[6] दिगम्बरों ने मूल क्रियाओं को सुरक्षित रखा और श्वेताम्बरों ने आगमों को।

यह जानना आवश्यक है कि इन दोनों संप्रदायों में यथार्थ अन्तर क्या है। दिगम्बर

5. *एपि॰इंडि॰,* 19 पृ॰ 85, *ई॰हि॰क्वा॰,* पृ॰ 57.
6. *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैन रिलीजन एंड एथिक्स* 7 पृ॰ 473.

का अर्थ है दिक् अर्थात् दिशा और अम्बर अर्थात् वस्त्र एवं श्वेताम्बर का मतलब है श्वेत वस्त्र; अर्थात् दिगम्बरों के साथ नग्न है जबकि श्वेताम्बर सफेद पहनते हैं। जहां तक मूल सिद्धांतों का प्रश्न है, वास्तव में दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दिगम्बरों का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ *उमास्वामी* (श्वेताम्बरों के उमास्वाति) *तत्वार्थाधिगम सूत्र* है, और यही श्वेताम्बरों का भी एक माना हुआ ग्रंथ है। इसके उपरांत भी कुछ प्रमुख और छोटे सिद्धांत हैं जिन पर दोनों संप्रदाय एक-दूसरे के विरोधी हैं। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं –

1. दिगम्बरों का विश्वास है कि ऐसे साधु को, जिसके अधिकार में संपत्ति है और वस्त्र पहनता है, मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। श्वेताम्बरों की मान्यता है कि पूर्ण नग्नता केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक नहीं है।
2. दिगम्बरों का दृष्टिकोण है कि नारी को इस जीवन में मोक्ष नहीं मिलता। इसके विपरीत श्वेताम्बरों का विश्वास है कि नारियों को भी इस जीवन में ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।
3. दिगम्बरों के अनुसार साधु को केवलज्ञान प्राप्त होने पर खाने की आवश्यकता नहीं है। वह बिना खाए जीवित रह सकता है। यह विचार श्वेताम्बरों को स्वीकृत नहीं है।

कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों को छोड़कर कुछ साधारण बातों पर भी दोनों सम्प्रदाय सहमत नहीं हैं –

1. दिगम्बरों का मानना है कि अंतिम तीर्थंकर महावीर का भ्रूण ब्राह्मण नारी देवानंदा से क्षत्रिय स्त्री त्रिशला या प्रियकारिणी को नहीं ले जाया गया जैसाकि श्वेताम्बरों का कहना है।
2. दिगम्बरों का विश्वास है कि जैनियों का आगम साहित्य पूर्ण लुप्त हो गया। इस कारण वे श्वेताम्बरों के आगमों को मान्यता प्रदान नहीं करते।
3. दिगम्बरों का कहना है कि महावीर ने कभी विवाह नहीं किया किंतु श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर ने यशोदा से विवाह किया, और उनके अनोज्जा/प्रियदर्शना नाम की पुत्री थी।
4. श्वेताम्बर 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ को स्त्री मानते हैं किंतु दिगम्बर कहते हैं कि मल्लिनाथ पुरुष थे।

5. दिगम्बरों के अनुसार तीर्थंकरों को नग्न और बिना किसी सजावट के रहना चाहिए और उनकी आंखें झुकी हुई होनी चाहिए।[7]

संघ, गण और गच्छ

"संघ" और "गण" प्रसिद्ध राजनैतिक शब्द हैं। संघ राज्य का अर्थ है समुदाय का शासन और गणराज्य का मतलब है बहुमत का राज्य। प्राचीन काल में संभवतः राजनैतिक संघ और गण में कोई अन्तर नहीं था चूंकि पाणिनि गण को संघ के समान बताता है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म में संघ और गण राजनैतिक संघों और गणों की नकल से अस्तित्व में आये, जो प्राचीन भारत में फलफूल रहे थे। महावीर और बौद्ध दोनों का जन्म तथा पालन-पोषण गणतंत्र के वातावरण में हुआ था। उनके चारों ओर संघ थे। इसी कारण से उन्होंने अपने धार्मिक संघों के संगठन में राजनैतिक संघों का नाम और विधान अपनाया। यह भी संभव है कि राजनैतिक संघों और गणों की स्थापना धार्मिक संघों और गणों की नकल में हुई जो इन दोनों धर्मों के संगठन के समय अस्तित्व में थे। गण का मुखिया गणधर कहा जाता था। राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्र में दोनों शब्द लोगों के समूह को सूचित करते हैं जो किसी निश्चित विचारधारा के प्रति जागरूक थे। प्राचीन समय में जैन समुदाय में इतनी बड़ी संख्या में संघों और गणों का होना व्यक्त करता है कि यह राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भलीभांति संगठित था। जैन धर्म का अस्तित्व जैन-संघ के श्रेष्ठ संगठन के कारण कठिनाइयों में भी बना रहा। गण समयोपरांत गच्छ कहे जाने लगे।

कल्पसूत्र और मथुरा के कुषाण अभिलेखों में गण

कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि अपनी-अपनी शाखाओं के साथ सात गण थे। समयोपरांत प्रत्येक गण का अलग कुल हो गया। अनेक गणों का उल्लेख कुषाणों के अभिलेखों में हुआ है। सात गण हैं – गोदास, उद्रदेह, उदुवाटिक, वैश्वाटिक, चारण, मानव और कोटिक।[8]

पहले गण में चार शाखा और कुल थे। दूसरे गण उद्रदेह की स्थापना आर्य रोहण ने की जो चार शाखा और छः कुलों में विभाजित है। *कल्पसूत्र* के नागहूत और परिहासक कुल की पहचान कुषाण अभिलेखों के नागभूतिकीय[9] और परिहाणिक[10] से की जा सकती है। तीसरा गण उदुवाटिक चार शाखा और तीन कुलों में विभाजित था। इनमें किसी का

7. *जैन कम्युनिटी – ए सोशल सर्वे,* पृ० 50-51.
8. *कल्पसूत्र, सै०बु०ई०*, 22, पृ० 288.
9. *एपि०इंडि०*, XIX, पृ० 391.
10. ल्यूडर्स, एपि, नोट्स, *इंडि०एंटी०*, XXXIII पृ० 109.

भी उल्लेख कुषाण अभिलेखों में नहीं पाया जाता। कामर्द्धि द्वारा स्थापित चौथा गण वैश्वाटिक चार शाखाओं और कुलों में विभाजित था। इनमें केवल मैहिक कुल[11] का कुषाण लेख में उल्लेख मिलता है। पाँचवां गण चारण की पहचान ब्यूहलर द्वारा अभिलेखों के वारण गण से की गई है, और इसका विभाजन चार शाखाओं और सात कुलों[12] में किया जाता है। कुषाण अभिलेख बहुतों का उल्लेख करते हैं।[13] शाखाओं का एकीकरण *कल्पसूत्र* के हारित मालाकारि, वज्रनागरि, सांकाशिका और पर्तिधर्मिका से किया जा सकता है। छठा गण-मानव चार शाखाओं और तीन कुलों में विभाजित था। लेकिन कुछ का ही कुषाण अभिलेखों में उल्लेख मिलता है। सुस्थित द्वारा स्थापित कौटिय गण चार कुलों और सात शाखाओं में विभाजित था। कुषाण अभिलेखों में इसका उल्लेख अधिक मिलता है।[14] शाखाओं की पहचान *कल्पसूत्र* के वज्र, माध्यमिका, उच्चानगरी और वात्सलिय से करनी चाहिए और कुलों की वाणिय, ब्रह्मलिप्तिक और प्रिष्पा वाहनक माध्यमिका शाखा का नाम प्राचीन स्थान मध्यामिका से रखा गया जिसकी पहचान मेवाड़ में आधुनिक नगरी से की जाती है। इसकी स्थापना सुस्थित और सुप्रतिबुध के दूसरे शिष्य प्रियग्रंथ से की गई थी।[15]

पंचस्तूपान्वय

दिगम्बरों के पंचस्तूपान्वय की उत्पत्ति के बारे में विरोध है। एक विचार है कि इसकी उत्पत्ति मथुरा से हुई जबकि अन्य विचार है कि इसकी स्थापना अर्हद्बलि द्वारा की गई जो पुंड्रवर्धन का निवासी था। पुंड्रवर्धन जैन धर्म का एक केन्द्र था। पहाड़पुर के 159 वर्ष (478-479) के अभिलेख[16] से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण और उसकी पत्नी ने वट-गोहालि के विहार में अर्हन्तों की पूजा की देखभाल के लिए नगर परिषद् में तीन दीनार व स्वर्ण मुद्रायें जमा कराईं और भूमि दान दी जिसकी अध्यक्षता बनारस के पंचस्तूपनिकाय के निर्ग्रंथ आचार्य गुहनंदिन के शिष्य करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गुहनंदिन तीसरी व चौथी सदी के थे। वीरसेन, जिसने *धवला* पर टीका लिखी है, पंचस्तूपान्वय का अनुयायी थी। हरिषेण ने 937 ई॰ में रचित *कथाकोश* में इसका उल्लेख किया है।

---

11. *एपि॰इंडि॰*, II पृ॰ 382.
12. आनंद, *इंडियन सेक्ट ऑफ द जैनस्*, पृ॰ 55.
13. *एपि॰इंडि॰*, VI पृ॰ 385, 87, 88, 97, 96 और 209.
14. वही.
15. *कल्पसूत्र, सै॰बु॰ई॰*, 22, पृ॰ 293.
16. *एपि॰इंडि॰*, XX पृ॰ 59-61.

दक्षिण के दिगम्बर संघ, गण और गच्छ

निग्रंथ महाश्रमण संघ

कंदब राजा मृगेश के दो अभिलेखों[17] (500 ई॰) से यह जाना जाता है कि निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ के मुनियों को ग्राम और भूमि दान में दी गई थी। इस संघ का आरंभ में स्वरूप क्या था, इसकी जानकारी नहीं है। निर्ग्रंथ व निगंठ शब्द का प्रयोग महावीर और उसके अनुयायियों के लिए हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ का अस्तित्व महावीर के समय था, और बाद में भी रहा। भद्रबाहु इस संघ के साथ दक्षिण में गया। तीसरी व चौथी सदी में जैन संघ के दो मुख्य विभाजन थे (1) निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ और (2) श्वेतपट। अभिलेखों[18] से ज्ञात होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर देवगिरी में साथ-साथ रहते थे और संभवतः अलग मंदिर नहीं थे। निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ दिगम्बरों का था।

मूल संघ

मूल संघ का सबसे प्राचीन उल्लेख गंग राजा माधववर्मन् द्वितीय के अभिलेख (लगभग 400) और उसके पुत्र अविनीत के 425 ई॰ के अभिलेख में है।[19] उपर्युक्त दोनों अभिलेखों में हमें आचार्य वीरदेव और चन्द्रनन्दि के नाम मिलते हैं। इन दोनों आचार्यों ने मंदिरों का अभिषेक समारोह किया, और गंग राजा माधव द्वितीय और उसके पुत्र अविनीत ने भूमि और ग्राम दान में दिए। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में मूल संघ का प्रयोग दिगम्बरों का श्वेताम्बरों से अलग होने के लिए बतलाया गया है। निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ का नाम संभवतः समाप्त हो गया, और यह मूल संघ कहा जाने लगा। पूर्व जैन आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी और समंतभद्र मूल संघ के थे।

मूल संघ सात गणों में विभाजित किया गया है – देवगण, देशीय गण, नन्दिगण, सेनगण, सूरस्थगण, कानूरगण, और बलात्कारगण। सामान्यतः ये गण मुनियों और क्षेत्रों के नाम से जाने जाते थे।

देवगण

उपर्युक्त गणों में देवगण सबसे प्राचीन है। इस गण का अस्तित्व लक्ष्मेश्वर के चार

---

17. *जै॰शि॰सं॰*, 96-99.
18. वही, 90, 94.
19. वही, 90, 94.

अभिलेख[20] और कदवन्ती के ग्यारहवीं सदी के अभिलेख[21] से जाना जाता है। इसका उल्लेख बाद में नहीं मिलता है। इस गच्छ के आचार्यों के नाम हैं – पूज्यपाद, उदयदेव,[22] रामदेव, जयदेव, विजयदेव,[23] एकदेव, जयदेव[24] अंकदेव और महीदेव[25]। कुछ विद्वान् पूज्यपाद को अकलंक देव पूज्यपाद मानते हैं। यदि यह सत्य है तो अकलंक देव इस गण का संस्थापक था।

देशी गण एवं कुन्दकुंदान्वय

देशी गण का अनेक अभिलेखों में देसिय, देशिक, देसिग और देशीय रूप में उल्लेख मिलता है। देशी शब्द की उत्पत्ति देश से हुई है जिसका अर्थ प्रांत होता था। कर्नाटक का कुछ क्षेत्र देश के नाम से जाना जाता था। अभिलेखों से यह जाना जाता है कि कर्नाटक में इस गण के अनेक केन्द्र थे। इनमें हनसोगे (चिकहन सोगे) प्रमुख था। इस स्थान के आचार्यों से हनसोग बलि व गच्छ की उत्पत्ति हुई। चिकहन सोगे के अभिलेखों[26] से यह ज्ञात होता है कि यहां पर इस गण की बहुत-सी वसदियां (मंदिर) थीं और चंगा एवं राजाओं से उनको आश्रय प्राप्त था। देशीगण का विभाजन पुस्तकगच्छ, आर्यसिंह ग्रहकुल, चन्द्रकरा, चार्जाम्नाय और मैत्रदान्वय में है।

पुस्तकगच्छ

1087 ई॰ के पुईर अभिलेख में पुस्तकगच्छ[27] के पद्मनंदि मलधारी देव को भूमि के दान का वर्णन किया गया है। ग्यारहवीं सदी के हेलेबिड के अभिलेख[28] में नेमिचन्द भट्टारक के शिष्यों द्वारा मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। बारहवीं सदी के चैत्रपुर के अभिलेख[29] में इस गच्छ द्वारा मंदिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। पेद्दुतुंबलम के मूर्ति अभिलेख में भट्टारक चन्द्रकीर्ति का नाम पाया जाता है। 1400 ई॰ के स्तवनिधि अभिलेख[30] में इस

---

20. वही, सं॰ 111, 113, 114, और 149.
21. वही, सं॰ 193.
22. वही, सं॰ 113.
23. वही, सं॰ 114.
24. वही, सं॰ 149.
25. वही, सं॰ 193.
26. वही, 175, 19, 196 और 223.
27. वही, 5 सं॰ 55.
28. वही, सं॰ 66.
29. वही, सं॰ 130.
30. वही, सं॰ 183.

गच्छ के वीर-नंदि के उपदेश से मंदिर के निर्माण का उल्लेख किया गया है। 1229 ई॰ के हरितगे अभिलेख में पुस्तकगच्छ के गोमिनि आन्वय के आचार्य के समाधिमरण का होना अंकित है।[31]

पुस्तकगच्छ का प्रथम विभाजन पनसोगे (हनसोगे) बलि था। इसका प्रथम बार उल्लेख[32] दसवीं सदी में हुआ है और श्रीधर देव के शिष्य नेमिचन्द्र के समाधिमरण का इसमें उल्लेख है। इस बलि का दूसरा उल्लेख[33] 1180 ई॰ में है। जयकीर्ति के शिष्य बालचन्द ने मूर्ति प्रतिष्ठा की। इस शाखा के चार अभिलेख[34] हैं जो बारहवीं सदी से चौदहवीं सदी के हैं। ललितकीर्ति, देवचन्द्र और नयकीर्ति आचार्यों का इनमें उल्लेख है।

पुस्तकगच्छ का दूसरा विभाजन इंगुलेश्वर बलि है। इसका उल्लेख सात अभिलेखों[35] में पाया जाता है, और वे बारहवीं-तेरहवीं सदी के हैं। इन अभिलेखों में हरिचन्द्र, श्रुतकीर्ति, भानुकीर्ति, माघनन्दि, नेमिदेव, चन्द्रकीर्ति और जयदेव आचार्यों का उल्लेख है।

पुस्तकगच्छ का बिना किसी विभाजन के बहुत से अभिलेखों में उल्लेख हुआ है। पहला ऐसा अभिलेख[36] 1081 ई॰ का है और भट्टारक सकलकीर्ति का इसमें उल्लेख पाया जाता है। ऐसे सत्रह अभिलेख हैं सो सोलहवीं सदी के हैं।

देशी गण का उल्लेख पुस्तकगच्छ कोण्ड कुंदान्वय के साथ पाया जाता है। कुछ अभिलेखों में केवल कोण्ड कुंदान्वय मिलता है। इनमें प्राचीन लेख[37] ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के हैं। एक प्राचीन लेख[38] 808 ई॰ का है। यह कोण्डि कुन्देय अन्वय का उल्लेख करता है। इससे कोण्डकुन्द का नाम ज्ञात होता है। इस अभिलेख में उल्लेखित है कि राष्ट्रकूट राजा कम्मराज ने आचार्य वर्धमान को ग्राम दान दिया।

देशी गण का दूसरा विभाजन आर्य संघ ग्रह कुल का उल्लेख केवल एक अभिलेख में पाया जाता है[39]

यह दसवीं सदी का है और यह कुलचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र का उल्लेख करता है।

31. वही, सं॰ 139.
32. *जै॰शि॰सं॰*, 5 से 74.
33. वही, सं॰ 262.
34. वही, 4 सं॰ 292, 335, 416 और 538.
35. वही, सं॰ 290, 310, 369, 382, 578, 606 और 642.
36. वही, सं॰ 164.
37. वही, सं॰ 180 और 222.
38. वही, सं॰ 54.
39. वही, 4 सं॰ 94.

यह अभिलेख उड़ीसा की खंडगिरी से प्राप्त हुआ था जबकि देशी गण के अन्य अभिलेख कर्नाटक के हैं।

देशी गण का तीसरा विभाजन चन्द्रकरा चार्याम्नाय है, जिसका उल्लेख एक अभिलेख[40] में पाया जाता है। यह मध्य प्रदेश में प्राप्त हुआ है। सुभद्र मंदिर का अभिषेक समारोह करता हुआ जाना जाता है। शुभचन्द्र आचार्य का चौथा विभाजन मैनदान्वय अभिलेख में मिलता है और यह तेरहवीं सदी का है।[41]

देशी गण के बिना विभाजन के बहुत से अभिलेख हैं। 950 और 1096 ई॰ के दो अभिलेखों[42] में क्रमशः आचार्य गुणचन्द्र और रविचन्द्र के उल्लेख हैं।

इन अभिलेखों में देशी गण के साथ कोंड कुन्दान्वय का उल्लेख है। अठारह अभिलेखों में मूलसंघ देशीय का उल्लेख पाया जाता है। इनमें प्राचीन अभिलेख[43] बारहवीं सदी ई॰ के हैं। आठ अभिलेखों में केवल देशी गण का उल्लेख पाया जाता है। इनमें से प्राचीन अभिलेख[44] 1032 और 1054 ई॰ के हैं।

वर्तमान नाम कुन्दकुन्दान्वय का अभिलेख में प्राचीन नाम कोण्डकुन्दान्वय था। इससे यह अर्थ निकलता है कि इसकी उत्पत्ति कोण्डकुन्दपुर से हुई। कुछ विद्वान् साहित्यिक आधार पर सिद्ध करते हैं कि मूल संघ और कोण्डकुन्दान्वय एक ही है, और आचार्य कोन्डकुंद मूल संघ का संस्थापक है। यह ग्यारहवीं सदी के पहले के किसी अभिलेख से सिद्ध नहीं किया जाता। मूल संघ और कोण्डकुन्दान्वय दोनों का प्रयोग 1044 ई॰ के अभिलेख[45] में हुआ है। कोण्डकुन्दान्वय का स्वतंत्र रूप से प्रयोग आठवीं व नवीं सदी के अभिलेखों[46] में हुआ है। 802 ई॰ के अभिलेख[47] में कोण्डकुन्दान्वय गण माना जाता था। देशीयगण का कोण्डकुन्दान्वय के साथ पहला प्रयोग 931 ई॰ के अभिलेख[48] में हुआ है। अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि कोण्डकुन्दान्वय के प्रयोग की शुरूआत उत्तर-मध्य सातवीं सदी और आठवीं व नवीं सदी से हुआ। इसको शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न किए

---

40. वही, 217.
41. वही, सं॰ 372.
42. वही, 4 सं॰, 83 और 169.
43. वही, 193, 229 और 256.
44. वही, सं॰ 126, 139 और 140.
45. वही, 1, 180.
46. वही, सं॰ 122, 123, 135.
47. वही, सं॰ 123.
48. वही, सं॰ 150.

गए। इसका पहला प्रभाव कर्नाटक क्षेत्र के देशस्थ साधुओं पर पड़ा। उनको कोण्डकुन्दान्वय देशीय गण कहा जाना शुरू हुआ। द्राविड़ संघ पर भी कोण्डकुन्दान्वय का थोड़ा प्रभाव पड़ा। इसका पता अभिलेखों[49] से ज्ञात होता है किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभाव स्थायी नहीं था। द्राविड़ संघ कोण्डकुन्दान्वय का उल्लेख किसी अन्य अभिलेख में नहीं मिलता है।

नन्दि गण

मूल संघ और द्राविड़ संघ के अभिलेखों में प्राचीन आचार्यों के एक से नाम देखकर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन नंदि गण (संघ) इन दो संघों में बाहर से आया हो। ये प्राचीन आचार्य नंदि गण के हों। ऐसा ज्ञात होता है कि द्राविड़ संघ और मूल संघ ने यापनीय संघ के नन्दि गण को अपना लिया हो। नंदि-संघ यापनियों में एक महत्त्वपूर्ण संघ था।

सेन गण

सेन गण का सबसे प्राचीन उल्लेख 821 ई॰ के अभिलेख[50] में पाया जाता है। यह मूलगुण्ड के 903 ई॰ के अभिलेख[51] में मिलता है। *उत्तर पुराण* के लेखक गुणभद्र ने अपने आचार्य जिनसेन और उनके आचार्य को सेनान्वय माना है। वीरसेन और जिनसेन *धवला* और *जयधवला* की टीकाओं में पंचस्तूपान्वय का उल्लेख करते हैं। गुणभद्र *उत्तर पुराण* में पहली बार पंचस्तूपान्वय को सेनान्वय के रूप में उल्लेख करता है।

सेन गण को तीन गच्छों में विभाजित किया गया है। (1) पोगरि व होगिरिगच्छ, (2) पुस्तकगच्छ और (3) चन्द्रक पाट। पोगरिगच्छ का सबसे पहला उल्लेख 893 ई॰ में हुआ है। इस अभिलेख[52] में उल्लेखित है कि विनयसेन के शिष्य कनकसेन को ग्राम दान दिया गया। इस अभिलेख में मूल सेनान्वय को पोगरिगण कहा गया है। अन्य अभिलेख[53] 1047 ई॰ का है, और पंडित नागसेन को सेनगण होगरिगच्छ का आचार्य कहा गया है। चालुक्य रानी अक्कादेवी ने उसको कुछ दान दिया। पोगरि गच्छ का उल्लेख तेरहवीं सदी तक के अभिलेखों[54] में पाया जाता है।

चन्द्रकवाट आन्वय का पहला अभिलेख[55] 1053 ई॰ का है जिसमें अजितसेन,

---

49. वही, सं॰ 166.
50. वही, 55.
51. वही, सं॰ 137.
52. वही, सं॰ 4, सं॰ 61.
53. वही, सं॰ 134.
54. वही, 3 सं॰ 186, 217 और 511.
55. वही, सं॰ 138.

कनकसेन, नरेन्द्रसेन, नयसेन, आदि की पट्टावलि का वर्णन किया गया है। सिन्दकुल के सरदार कंचरसेन ने नयसेन को कुछ दान दिया। नयसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन द्वितीय का उल्लेख 1081 ई॰ में हुआ है।[56] द्रोण नाम के अधिकारी ने उसको कुछ दान दिया। नरेन्द्रसेन और नयसेन व्याकरण में पारंगत थे। 1066 ई॰ के अभिलेख में[57] चन्द्रिकावट के भट्टारक शांति-नंदि का उल्लेख हुआ है। मूल संघ नाम दिया हुआ है किंतु सेनगण नहीं।

सेनगण का तीसरा विभाजन पुस्तकगच्छ का उल्लेख चौदहवीं सदी के अभिलेख में पाया जाता है। इसमें ग्यारह आचार्यों की पट्टावली दी गई है। इसमें लक्ष्मीसेन और मानसेन के समाधिमरण का उल्लेख है।

आठवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक के सेनगण के तेरह अभिलेखों की जानकारी है। इस गण के बारहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक के पांच लाख हीरे आवली से प्राप्त हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि हिरेआवलि इस गज का बड़ा केन्द्र था। तेरहवीं सदी के अभिलेख में कुंदकुंदान्वय सेनगण से संबंधित था। पन्द्रहवीं सदी के पश्चात् इसका प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया।

सूरस्थगण

मूल संघ का सूरस्थ नाम का गण प्रसिद्ध था। यह गण अभिलेखों[58] से जाना जाता है। इसका उल्लेख सुराष्ट्र और सूरस्थ के रूप में उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस गण के साधु पहले से सौराष्ट्र में रहते होंगे। इसलिए इसे यह नाम दिया गया था। यह भी संभव है कि दक्षिण भारत में सुराष्ट्र नाम का क्षेत्र हो जिससे मुनियों ने यह नाम निकाला। इस गण का पहला उल्लेख[59] 962 ई॰ का है जिसमें मूल संघ, द्राविड़ संघ से संबंधित है। साधुओं की पट्टावली प्रभाचन्द्र, कल्नेलेदेव, रविचन्द्र, रविनन्द और ऐलाचार्य का वर्णन किया गया है। गंग राजा भारसिंह द्वितीय ने एलाचार्य को ग्राम दान दिया। इस गण के ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक अभिलेख पाये जाते हैं। इस गण के अभिलेख में कुंदकुंदान्वय नहीं पाया गया है।

सूरस्थगण के दो विभाजन पाये जाते हैं – कारुरगच्छ और चित्रकूटान्वय। केवल एक अभिलेख[60] 1007 ई॰ का है जिसमें अर्हनंदि पंडित का वर्णन किया गया है।

56. वही, 2, सं॰ 165.

57. वही, सं॰ 147.

58. वही, 185, 234, 269, 318, 490 और 541.

59. वही, सं॰ 185.

60. वही, 4, सं॰ 117.

चित्रकूटान्वय के दस अभिलेख हैं। पहला अभिलेख[61] 1071 ई॰ का है जिसमें श्रीनंदि पंडित के शिष्य को दान दिये जाने का वर्णन है। तीसरा अभिलेख[62] 1074 ई॰ का है जिसमें अर्हनंदि के शिष्य आर्य पंडित को कुछ दान दिए जाने का वर्णन है। अगले दो लेख[63] इस अन्वय की पट्टावली का उल्लेख करते हैं – वासुपूज्य, हरिनंदि और नागचन्द्र। हरिनंदि और नागचन्द्र को 1146 ई॰ में दान प्राप्त हुआ। चौदह अभिलेखों से सूरस्थगण का दसवीं सदी से बारहवीं सदी तक अस्तित्व का पता चलता हैं।

कादलूर ताम्रमत्र अभिलेख[64] में इस गण के एलाचार्य को ग्राम दान देने का उल्लेख है। 963 ई॰ के अभिलेख में पूर्व आचार्यों के नाम दिये जाते हैं – प्रभाचन्द्र, कल्मेलेदेव, रविचन्द्र और रविनंदि। तेरहवीं सदी के तीन लेखों[65] में इस गण के अदलगेरि, नागचन्द्र, नंदि भट्टारक और जयकीर्ति के उल्लेख हैं। ये इन साधुओं के समाधिमरण के स्मारक हैं।

कानूरगण

कानूरगण यापनीयों के कंडुरगण के समान हैं। कानूर और कन्दूर दोनों विशेष स्थान को बतलाते हैं जहां से इस गण के साधुओं के समूह ने इस नाम को निकाला। इस गण का सबसे प्राचीन अभिलेख दसवीं सदी का है।[66] यह आचार्यों की वंशावली का वर्णन करता है, और आचार्य मुनिचन्द्र के शिष्य को कुछ दान देने का उल्लेख करता है। इस गण के चौदहवीं सदी तक के अभिलेख प्राप्त हैं। अभिलेखों से यह बोध होता है कि ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में गंग राजा भुजबल, गंगवर्मदेव, उसकी रानी गंगमहादेव और चार पुत्र इस गण के आचार्यों के प्रति समर्पित थे और दान द्वारा उनका सम्मान करते थे। कानूर गण के तीन विभाजन इस प्रकार हैं – (1) तिंत्रिणीगच्छ, (2) मेषपावाणगच्छ और (3) पुस्तकगच्छ।

तिंत्रिणीगच्छ

तिंत्रिणीगच्छ के छः अभिलेख[67] हैं। पहले दो बारहवीं सदी के हैं, और वे मेघचन्द्र और पर्वतमुनि आचार्यों का वर्णन करते हैं। तीसरा 1207 ई॰ का है, और यह भट्टारक

61. वही, 3 सं॰ 153.
62. वही, सं॰ 158.
63. वही, सं॰ 237-38.
64. वही, सं॰ 17.
65. वही, सं॰ 163-65.
66. वही, 4 सं॰ 96.
67. वही, 4 सं॰ 212, 291, 323, 476, 565 और 609.

अनन्तकीर्ति को कुछ दान दिए जाने का उल्लेख करता है। 1556 ई॰ का चौथा अभिलेख[68] देवकीर्ति, मुनिचन्द्र और देवचन्द्र का उल्लेख करता है।

मेषपाषाणगच्छ का 130 ई॰ का लेख[69] प्रभाचन्द्र के शिष्य कुलचन्द्र का वर्णन करता है, और अन्य लेख[70] वसदिका से संबंध रखता है। मेषपाषाणगच्छ[71] और तिंत्रिणीकगच्छ[72] के भी अभिलेख हैं। मेषपाषाण का मतलब बकरियों को बैठने के लिए पाषाण। यह एक विशेष स्थान ज्ञात होता है जिससे इस गण के साधु किसी भी भांति संबंधित थे। तिंत्रिणिक वृक्ष का नाम था। पुस्तकगच्छ का अभिलेख 1150 ई॰ का है।[73] दसवीं से सोलहवीं सदी तक इस गण का अस्तित्व सोलह अभिलेखों से जाना जाता है।

बलात्कारगण

समानता को देखते हुए बलात्कारगण की उत्पत्ति यापनीय के बलिहारि व बलहारगण से हुई। बलिहार व बलहार स्थानीय ज्ञात होते हैं।[74] दक्षिण में बलगार नाम का ग्राम था। बलात्कारगण का सबसे प्राचीन अभिलेख 1071 ई॰ का है। यह आठ आचार्यों के नामों का उल्लेख करता है। 1075 ई॰ का अन्य अभिलेख[75] इस गण के चित्रकूटाम्नाय के मुनिचन्द्र के शिष्य अनन्तकीर्ति का उल्लेख करता है। अन्य अभिलेख[76] तीन आचार्यों के नामों का उल्लेख करता है। 1074 ई॰ के अभिलेख में त्रिभुवनचन्द्र अंकित है।[77] इस गण के अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख तेरहवीं सदी के हैं।[78] चौदहवीं सदी में बलात्कारगण सरस्वतीगच्छ के साथ पाया, जाता है। चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध के अभिलेखों में इस गण के आचार्यों का विशेष प्रभाव था। विजयनगर के राजा उनका सम्मान करते थे। वीरबुक्यराव के राज्य का अभिलेख[79] आचार्य सिंहनंदि को राजगुरु और मंडलाचार्य के

68. वही, सं॰ 476.
69. वही, सं॰ 214.
70. वही, सं॰ 603.
71. वही, 3, सं॰ 267, 277, 299 और 353.
72. वही, 209, 263, 313, 377, 389, 408, 431, 459, 582.
73. वही, 4 सं॰ 240.
74. *मैडिवल जैनिज्म*, पृ॰ 327.
75. *जै॰शि॰सं॰*, 3 सं॰ 208.
76. वही, 4 सं॰ 155.
77. वही, 4 सं॰ 157.
78. वही, सं॰ 342, 376.
79. वही, 3, सं॰ 569.

रूप में उल्लेख करता है। अन्य अभिलेख[80] मूल संघ के साथ नंदि संघ और सारस्वतगच्छ के साथ बलात्कारगण का अभिलेख में उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण की कारंज शाखा और बलात्कारगण की लातूर उपशाखा के अभिलेख उखलद से प्राप्त हुए हैं।

निगमान्वय

मूल संघ निगमान्वय का 1310 ई॰ का अभिलेख[81] है। यह कृष्णदेव द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख करता है।

यापनीय संघ

देवसेन सूरि के *दर्शन सार* के अनुसार यापनीय संघ की स्थापना वि॰सं॰ 205 में श्रीकलश द्वारा कल्याण नगर गुलबर्ग जिला कर्नाटक में हुई थी। श्वेताम्बरों के समान यह संघ आगमों के अस्तित्व को मानता था और विश्वास करता था कि नारियां मोक्ष प्राप्त कर सकती थीं। साधु केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भोजन ले सकते थे। इसके साथ ही यह दिगम्बरों के समान था। यह वस्त्रों के प्रयोग के विरोध में था, और दिगम्बर साधुओं के नियमों और व्यवस्था का अनुसरण करते थे। वे मयूर के पंखीं की ग्रंन्थि का प्रयोग करते थे। ऐसा प्रतीत होता है यह संघ दिगम्बरों और श्वेताम्बरों को मिलाने वाली कड़ी थी। इस संघ में प्रसिद्ध विद्वान् हुए जैसे शिवार्य, अपराजित, पाल्यकीर्ति, शाकटायन, महावीर और स्वयंभू। संभवतः उमास्वाति वट्टकेरि, यतिवृषभ और विमलसूरि यापनीय थे।

यापनीय संघ को कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट और रट्ट वंशों के राजाओं से राजकीय आश्रय प्राप्त हुआ। इन राजाओं ने इस संघ और इसके साधुओं को भूमि दान दी। कदम्ब राजा मृगेश वर्मा (470-90 ई॰) ने इस संघ के साथ अन्य संघों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों[82] को पलासिका स्थान पर भूमि दान देकर पवित्र कार्य किया। उपर्युक्त कदम्ब राजा के पुत्र रविवर्मा ने इसके मूल आचार्य कुमारदत्त को पुरुखटेक नामक ग्राम दान दिया।[83] कदम्ब वंश की दूसरी शाखा के युवराज देववर्मा ने इस संघ को भूमि दी।[84] कुछ कदम्ब अभिलेख[85] सूचित करते हैं कि पूर्व कदम्ब राजाओं के समय यापनीय संघ का प्रभाव बहुत था।

---

80. वही, सं॰ 585.
81. वही, सं॰ 390, पृ॰ 13.
82. *जै॰शि॰सं॰*, 3 सं॰ 99.
83. वही, सं॰ 100.
84. वही, सं॰ 105.
85. वही, सं॰ 99, 100, 105.

यापनीय संघ के कुछ अभिलेखों[86] से हमें यापनीय संघ के गणों और गच्छों के बारे में ज्ञात होता है। यापनीय संप्रदाय में नंदि संघ सबसे प्रमुख और सबसे प्राचीन था। इस संघ के आचार्यों के नाम विशेषकर नंदयंत और कीर्त्यन्त थे।[87] नंदि संघ अनेक गणों में विभाजित था। इनमें कनकोपल सम्भूत वृक्षमूलगण,[88] श्री मूलमूलगण[89] और पुण्णागवृक्ष मूलगण[90] महत्त्वपूर्ण थे। गणों के नाम कुछ वृक्षों से संबंधित थे। 488 ई॰ के अभिलेख[91] में उल्लेखित कनकोपल सम्भूत वृक्षमूलगण के आचार्यों की वंशावली निम्न है – सिंद्धनंदि, चितकाचार्य (जिसके पांच सौ शिष्य थे), नागदेव और जिननंदि। चालुक्य राजा जयसिंह के सेन्दक वंश के सामंत सामियार ने जिननंदि के लिए जैन मंदिर बनवाकर ग्राम और कुछ भूमि दान दी। चन्द्रनंदि, कुमारनंदि, कीर्तिनंदि और विमलचन्द्राचार्य इस अभिलेख[92] में उल्लेखित हैं। इस अभिलेख में एरेगिन्तुरगण और पुलिकलगच्छ के संदर्भ हैं। विमलचन्द्राचार्य के उपदेश से सामंत निर्गुंडराज परमगूल गंगराजा श्री पुरुष के राज्य के 50वें वर्ष में जैन मंदिर बनवाकर और लोगों को कर से मुक्त कर एक ग्राम दान दिया। अभिलेख[93] में पुण्णागवृक्ष मूलगण के आचार्यों की वंशावली निम्न दी गई है – श्री कित्याचार्य, कविलाचार्य, विजयकीर्ति और अर्हकीर्ति। अपने सामंत चाकिराज की प्रार्थना पर राष्ट्रकूट राजा प्रभृतिवर्ष गोविन्द तृतीय ने जालमंगल नाम का ग्राम 812 ई॰ में दान अरककीर्ति को जैन मंदिर की व्यवस्था के लिए दिया। यापनीय संघ के शाकटायन व्याकरण के लेखक आचार्य पाल्यकीर्ति अमोघवर्ष के समय रहते थे। पाल्यकीर्ति अर्ककीर्ति का या तो शिष्य था या धार्मिक साथी था। 1108 के शिलालेख[94] में पुण्णागवृक्ष मूलगण को मूल संघ की शाखा के रूप में पाते हैं जो बाद में मूल संघ में मिल गई।

यापनीय संघ कर्नाटक के समान तमिल प्रांत में भी लोकप्रिय था। यापनीयों का नंदिगच्छ (संघ) कोटिमहुवगण अभिलेख[95] में उल्लेखित है। इसके आचार्य थे जिननंदि, दिवाकर और श्री मंदिरदेव (धीरदेव)। धीरदेव कटकारमरण जिनालय के अधिष्ठाता थे।

86. वही, सं॰ 106, 121, 124 और 142.
87. वही, 3, सं॰ 124.
88. वही, सं॰ 106.
89. वही, सं॰ 121.
90. वही, सं॰ 124.
91. वही, सं॰ 106.
92. वही, 3 सं॰ 121.
93. वही, सं॰ 124.
94. वही, सं॰ 250.
95. वही, सं॰ 143.

सेनापति (कटकराज) दुर्गराज की प्रार्थना पर पूर्व चालुक्य वंश के राजा अंभराज द्वितीय ने यापनीय संघ के मंदिर को ग्राम दान दिया। अन्य अभिलेख[96] में बलहरिगण अंकलिगच्छ के आचार्यों की वंशावली निम्न दी गई है – सकलचन्द्र, अय्यपोति और अर्द्धनन्दि। अंभराज द्वितीय ने अतिलनन्दु प्रांत में कलुचुम्बरू नाम का ग्राम सर्व लोकामय जिनालय की भोजनशाला की मरम्मत के लिए दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि बलहारिगण और अंकलिगच्छ यापनीयों के थे। बलहारि व बलगारगण का उल्लेख ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध के अभिलेख[97] में मूल संघ के बलात्कारगण के रूप में उल्लेखित है।

रट्टवंश के राजाओं के अभिलेखों में यापनियों के दो गणों के नाम मिलते हैं – कारेयगण और कण्डरगण। रट्टवंश के प्रथम शासक का गुरु इन्द्रकीर्ति (गुणकीर्ति का शिष्य) यापनीय संघ का था। अन्य अभिलेख[98] में कारेयगण का उल्लेख किया जाता है, और मैलापतीर्थ के स्थान पर मैलान्वय। कारेयगण मेलापअन्वय साधुओं की वंशावली इस प्रकार है – मूल भट्टारक गुणकीर्ति, इन्द्रकीर्ति, नागचन्द्र, जिनचन्द्र, शुभकीर्ति और देवकीर्ति। किसी अमोघवर्ष राजा के गंग सामंत ने जैन मंदिर का निर्माण कर मुनि देवकीर्ति को एक ग्राम दान में दिया। यापनियों के कन्डूरगण के अस्तित्व की जानकारी रट्ट राजाओं के दो अभिलेखों[99] से होती है। यापनीय के कण्डूरगण के आचार्यों की वंशावली निम्नानुसार दी गई है – देवचन्द्र, देवसिंह, रविचन्द्र, अर्द्धनंदि, शुभचन्द्र, मौनिदेव और प्रभाचन्द्र देव।

यापनियों के अभिलेखों से यह जाना जाता है कि यह चौथी से दसवीं सदी तक संगठित रहे। इसमें अनेक प्रभावशाली गण थे। बाद में पुन्नागवृक्ष मूलगण, बलहारगण और बण्डूरगण पहले मूल संघ, नंदि संघ और द्राविड़ संघ में सम्मिलित हुए किंतु बाद में मूल संघ में विलीन हो गए। यापनियों का पूर्व छठी सदी का ताम्रपत्र अभिलेख[100] है। यह गंग राजा अविनीत का है। यह यापनीय संघ द्वारा प्रतिष्ठित मंदिर को दान का उल्लेख करता है।

चार अभिलेखों[101] में यापनीय संघ के कुमिलि व कुमुदि गण का उल्लेख है। नवीं सदी का पहला अभिलेख[102] आचार्य महावीर के शिष्य अमर मुदल गुरु का वर्णन करता

96. वही, सं० 144.
97. वही, 3, सं० 130.
98. वही, सं० 182.
99. वही, 160 और 205.
100. वही, 4 सं० 20.
101. वही, सं० 70, 131, 611 और 612.
102. वही, सं० 70.

है। उसने किरेपाक्कम ग्राम के उत्तर में देशवल्लभ जिनालय बनवाया। 1045 ई॰ के अन्य अभिलेख[103] में इस गण के कुछ आचार्यों का वर्णन किया गया है। इस समय चावुंड नाम के अधिकारी ने जिनालय को बनवाया। अन्य दो अभिलेख[104] अनिश्चित काल के हैं। ये निषिधि अभिलेख हैं। पहला अभिलेख इस गण के शांतवीर देव के समाधिसरण का स्मारक है।

चार अभिलेख[105] यापनीय संघ के पुण्णागवृक्ष मूलगण के हैं। 1044 ई॰ का पहला अभिलेख पुलिनगर में नूतन बने जिनालय के लिए इस गण के आचार्य बालचन्द को दान देने का उल्लेख करता है। यह 1145 ई॰ में रामचन्द्र आचार्य को दान देना भी बताता है। अगला अभिलेख[106] 1165 ई॰ का है, और इसमें आचार्यों की पट्टावली दी गई है। शिलाहार राजा विजयादित्य के सेनापति कालण एक्कसम्बुणे ने नगर में जिनालय बनवाकर विजयकीर्ति को इसके लिए दान दिया। 1096 ई॰ के अभिलेख[107] में उल्लेखित है कि वृक्षमूलगण के त्रैविदय मुनिचन्द्र के शिष्य पंडित चारुकीर्ति को कुछ दान दिया गया। अनिश्चित काल के अभिलेख[108] में वृक्षमूलगण कुसुम जिनालय के मंदिर का उल्लेख है। यापनीय संघ के कण्डुरगण का उल्लेख तीन अभिलेखों[109] में है। पहला पूर्व बारहवीं सदी का है, और यह चार आचार्य बाहुबलि, शुभचन्द्र, मुनिदेव और मद्यनंदि का वर्णन करता है। तेरहवीं सदी के अभिलेख में इस गण के मंदिर का संदर्भ है। तीसरा अभिलेख इस समय की जैन मूर्ति का उल्लेख करता है। पूर्व बारहवीं सदी के अभिलेख[110] में यापनीय संघ के कारेयगण का नाम है। मूल भट्टारक और जिनदेव सूरि इस गण के आचार्य थे।

यापनीय संघ बिना गण और गच्छ के संदर्भ का पांच अभिलेखों[111] में उल्लेख है। पहला अभिलेख 1060 ई॰ का है, और आचार्यों की पट्टावली सूचित करती है – जयकीर्ति, नागचन्द्र और कनकशक्ति। अगले दो अभिलेख बारहवीं सदी के हैं, और वे मुनिचन्द्र और उसके शिष्य पाल्यकीर्ति के समाधिमरण का उल्लेख करते हैं। तेरहवीं सदी

103. वही, सं॰ 131.
104. वही, सं॰ 611 और 612.
105. वही, सं॰ 130, 259, 168, 607.
106. वही, सं॰ 259.
107. वही, सं॰ 168.
108. वही, सं॰ 607.
109. वही, 4 सं॰ 207, 368 और 386.
110. वही, सं॰ 209.
111. वही, सं॰ 143, 298, 300 और 384.

का अंतिम अभिलेख त्रैकीर्ति आचार्य का उल्लेख करता है। यापनीय संघ का अस्तित्व छठी से तेरहवीं सदी तक था।

ग्यारहवीं सदी का धर्मपुरी अभिलेख[112] यापनीय संघ वंदियूरगण के महावीर पंडित को दान देने की जानकारी देता है। 1132 ई॰ के वरंगल अभिलेख में इस गण के महामुनि गुणचन्द्र की मृत्यु के बारे में सूचना देता है।[113] बारहवीं सदी के तेंगली अभिलेख[114] में वैदूरगण लिखा हुआ है। इस गण के आचार्य नागवीर के शिष्य ने मूर्ति की प्रतिष्ठा की। इस गण के चार अभिलेख 980 ई॰ में तेरहवीं सदी तक के हैं।

कूर्चक संघ

कूर्चक संघ का कर्नाटक में अस्तित्व पांचवीं सदी या इससे पहले भी था। कदम्ब राजाओं के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह निर्ग्रथ संघ श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघ और यापनीय संघ से पहले का है। चूंकि इस संघ के साधुओं के बालदार मूंछ होती थी, यह कूर्चक कहा जाने लगा। *वरांग चरित्र* का लेखक जटाचार्य सिंहनंदि संभवतः ऐसा ही साधु था जिसका वर्णन आचार्य जिनसेन ने *आदिपुराण* में किया है।

कदम्ब अभिलेख[115] में कूर्चक संघ का उल्लेख निर्ग्रंथों और यापनियों के साथ हुआ है। मृगेशवर्मा ने कूर्चकों के साथ यापनियों और निर्ग्रंथों को भूमि दान दी थी। इस अभिलेख[116] में कूर्चक की शाखा वीरषेणाचार्य संघ का उल्लेख भी किया गया है। कदम्ब राजा हरिवर्मा ने शिवरथ के उपदेश से सेनापति सिंह के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मित जैन मंदिर की पूजा के लिए और सर्वसंघ के आहार के लिए वसुन्तवाटक ग्राम दान दिया। अभिलेख[117] में अहरिष्टि नाम के एक से अधिक श्रमण संघ का उल्लेख है जिसको सेण्डेरक सामन्त भानुशक्ति की प्रार्थना पर कदम्ब राजा हरिवर्मा ने मरदे नाम का ग्राम दान दिया।[118]

द्राविड़ संघ

द्रविड़ देश में रहने वाला साधुओं का समूह द्राविड़ संघ कहा जाता था। अभिलेखों में इसका उल्लेख दक्षिण के द्रामिड़, द्रविड़, द्रविण, द्राविड़, दविल और तिबुल रूप में

112. वही, 5 सं॰ 70.
113. वही, सं॰ 86.
114. वही, सं॰ 125.
115. वही, 5, सं॰ 117.
116. वही, 3, सं॰ 103.
117. वही, सं॰ 104.
118. वही, सं॰ 104.

मिलता है। द्रविड़ देश में आधुनिक आंध्र और तमिल देश शामिल हैं। आचार्य देवसेन के *दर्शनसार* के अनुसार द्राविड़ संघ की स्थापना दक्षिण में मदुरा में वि॰सं॰ 526 में पूज्यवाद के शिष्य वज्रनंदि द्वारा की गई। सामान्यतः इस संघ के बहुत से लेख कोगाल्व, शांतर और होयसल वंशों के राजाओं के हैं। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि द्राविड़ संघ को इन वंशों के राजाओं से राजकीय आश्रय प्राप्त हुआ। इस संघ के अधिकतर लेख होयसल वंश के राजाओं के हैं। इन अभिलेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि इस संघ के आचार्यों ने पद्मावती की पूजा के प्रचार में योगदान किया। इस संघ के साधुओं ने बसदियों व मंदिरों का पुनरुद्धार किया जिनमें वे रह रहे थे, और उन्होंने आहारदान दिया, तथा भूमि, जागीर, आदि की व्यवस्था की।

द्राविड़ संघ के प्राचीन अभिलेख होयसलों की उत्पत्ति के स्थान अंगदि (सोलेबूर) से प्राप्त हुए। इस स्थान (990 ई॰) के अभिलेख[119] में इस संघ का वर्णन द्रविड़ संघ कोण्डकुंदान्वय हुआ है, और अन्य 1040 ई॰ के अभिलेख[120] में इसका उल्लेख मूल संघ द्रविड़ान्वय के रूप में हुआ है लेकिन उत्तरार्द्ध ग्यारहवीं सदी के लेखों[121] में द्रविड़गण के साथ नंदि संघ इसंगलान्वय या अरुंगलान्वय का भी उल्लेख है। शुरू में द्रविड़ संघ मूल संघ और कुंदकुन्दान्वय के साथ संबंधित रहा। किंतु बाद में इसका संबंध यापनियों के नंदि संघ से हो गया। जब द्रविड़गण प्रभावशाली हो गया तो यह द्राविड़ संघ हो गया। अंगाडि (सोलेबूर) में होयसलों के प्राचीन अभिलेखों की खोज सिद्ध करती है कि उन्होंने द्राविड़ संघ को शक्तिशाली होने में योगदान दिया। नंदि संघ के कुछ अभिलेखों में अरुंगलान्वय का उल्लेख है। अरुंगल तमिलनाडु में गुडियपत्तन तालुका में स्थान का नाम है। मिला हुआ नाम द्रविड़ संघ, नंदि संघ अरुंगलान्वय सूचित करता है कि यह तमिलनाडु का नंदि संघ था, और नंदि संघ की उत्पत्ति अरुंगल से हुई। यापनियों के नंदि संघ से द्राविड़ संघ का नंदि संघ अस्तित्व में आया। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में इस संघ के मुनियों की पीठ कोंगाल्व राज्य का मुल्लूर और शांतर राजाओं की राजधानी हुम्मच है। हुम्मच से प्राप्त अभिलेख इस संघ के बहुत से आचार्यों की सूचना देते हैं – श्रेयांश, पंडित सुधर्मा, कमलभद्र, वाधीभसिंह और अजितसेन पंडित।

द्राविड़ संघ का नंदिगण अरुंगल अन्वय का अभिलेख ग्यारहवीं सदी का है। शांति मुनि, वादिराज और वर्धमान की पट्टावली इस अभिलेख में दी हुई है। इस अन्वय का अभिलेख 1192 ई॰ का है, और यह वासपूज्य के शिष्य वज्रनंदि का वर्णन करता है। चौदहवीं सदी के अभिलेख में अन्वय श्रीपाल, पद्मप्रभ और धर्मसेन की वंशावलि की

119. वही, 3, सं॰ 166.

120. वही, सं॰ 178.

121. वही, सं॰ 188, 189, 190, 192, 202, 214, 215, 216 और 226.

जानकारी मिलती है। द्राविड़ संघ के तीन अभिलेखों में अरुंगल अन्वय का उल्लेख नहीं हुआ है।

वजीरखेड़ ताम्रपत्र[122] के 915 ई॰ के अभिलेख में द्रविड़ संघ के वीरगणवीर्नाय अन्वय के लेखभद्र के शिष्य वर्धमान गुरु को दान देना पाया जाता है। चन्दनापुरी की अमोधबस्ति और बडनेर की उरिम्भबसति की देखभाल उनके द्वारा होती थी। अभी तक के प्राप्त अभिलेखों[123] में यह सबसे प्राचीन है। वर्णित वीरगण वीर्णाय्य अन्वय अन्य अभिलेख में नहीं पाया जाता है। यह केवल द्राविड़ संघ का पहला अभिलेख[124] है जो मैसूर प्रदेश (कर्नाटक) के बाहर पाया जाता है। 1087 ई॰ का पुदूर अभिलेख[125] आचार्य कनकसेन द्वारा पल्लव जिनालय के लिए भूमिदान का उल्लेख करता है। 1167 ई॰ का उज्जिलि अभिलेख,[126] द्राविड़ संघ-संवतगण केसरगच्छ इन्द्रसेन आचार्य भूमि के दान का उल्लेख करता है।[127] द्राविड़ संघ के साथ सेनगण के संबंध की पहले जानकारी नहीं थी। पहले सेनगण मूल[128] संघ से संबंधित था। केसरगच्छ का सुराष्ट्रगण से 1194 ई॰ का अभिलेख[129] इस संग्रह में अंतिम है। यह येतिनहट्टि से प्राप्त हुआ था और यह आचार्य अजितसेन की मृत्यु का उल्लेख करता है।[130]

काष्ठा संघ

काष्ठा संघ की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में विवाद है। दसवीं सदी के लेखक देवसेन *दर्शनसार* में उल्लेख करता है कि कुमारसेन ने काष्ठा संघ की स्थापना दक्षिण में की। दो अभिलेखों[131] में इसका नाम कांची संघ मिला है। सत्रहवीं सदी के *वचनकोश* में लिखा हुआ है कि उमास्वामी के पट्टधर लोहाचार्य ने इस संघ की स्थापना उत्तर भारत में अगरोहा में की। कान्ताप्रसाद के[132] अनुसार काष्ठा संघ की उत्पत्ति यमुना नदी के किनारे

122. वही, 3 सं॰ 213, 214, 215, 216.
123. वही, पृ॰ सं॰ 175.
124. वही, पृ सं॰ 282.
125. वही, सं॰ 344.
126. वही, सं॰ 252, 357 और 409.
127. वही, पृ॰ सं॰ 14-15.
128. वही, पृ॰सं॰ 57.
129. वही, पृ॰सं॰ 104.
130. वही, पृ॰सं॰ 111.
131. वही, 3, सं॰ 633 और 640.
132. *जैन सिद्धांत भास्कर,* 2, 4, पृ॰ 28-29.

मथुरा के समीप काष्ठा ग्राम से हुई। काष्ठा संघ की मुख्य गच्छ व शाखाएँ थीं – नंदितल, माथुर, बागड़ और लाटवागड़।

जम्बूखण्डगण

जम्बूखण्डगण का उल्लेख छठी-सातवीं सदी के अभिलेख[133] में मिलता है। सेंत्रक राजा इन्द्रनंद ने आचार्य आर्यनंदि को कुछ दान दिया।

सिंहवूरगण

सिंहवूर का 860 ई॰ का एक अभिलेख[134] है। यह इस गण के आचार्य नागनंदि को राजा अमोघवर्ष द्वारा कुछ दान का उल्लेख करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण के संघों, गणों, गच्छों की कार्य-पद्धति में विशेष अन्तर नहीं था। इन संघटनों ने मंदिरों और मठों को निर्मित करवाया। इन्होंने ग्रामों, भूमि, उद्यानों, भवन, आदि का दान प्राप्त किया। उन्होंने राज-सभा के विवादों में भाग लिया। कभी-कभी उन्होंने राजाओं को उनके राज्यों के कार्यों की व्यवस्था करने में सहयोग दिया। उन्होंने मंत्र-साधनाब ज्योतिष और आयुर्वेद द्वारा जैन धर्म के प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न किया।

मध्यकाल में उत्तर भारत के श्वेताम्बर गच्छ

श्वेताम्बर गच्छों की संख्या मूल में 84 थी किंतु यह रूढ़िगत प्रतीत होती है। न तो गच्छ और न जातियाँ एक समय में स्थापित की गई थीं। ये भिन्न-भिन्न समय में अस्तित्व में आयी थीं। गच्छों के कुछ नामों का कोई महत्त्व नहीं है किंतु 84 संख्या बनाने के लिए जोड़े गये हैं। उनकी संख्या में बढ़ोतरी करीब ग्यारहवीं सदी से हुई। अभी इनकी संख्या 150 है। अधिकतर गच्छों की उत्पत्ति राजस्थान में और कुछ की गुजरात में हुई प्रतीत होती है। इन गच्छों के आचार्यों ने अलग-अलग समय और स्थानों पर मूर्तियां और मंदिरों का अभिषेक समारोह किया। इनकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से हुई। कुछ गच्छों के नाम व्यक्तियों के सम्यक् कर्मों के नाम पर पड़े जबकि अन्य के नाम प्रभावशाली व्यक्तियों से कुछ प्राचीन कुल समयोपरांत गच्छों में परिवर्तित हो गए। कुछ गच्छ उत्पत्ति में स्थानीय भी हैं।

---

133. *जै॰शि॰सं॰*, 4, सं॰ 22.

134. वही, सं॰ 56.

राजस्थान

क्रियात्मक- गच्छ

बृहद्गच्छ

उद्योतन सूरि ने आबू पहाड़ पर स्थित तेलिग्राम के बरगद के पेड़ की छाया के नीचे देवसूरि को मिलाकर आठ साधुओं को सूरि की उपाधि दी। कुछ के अनुसार सबसे उच्च आचार्य की उपाधि केवल सर्वदेव सूरि को दी गई। चूंकि उपाधि बरगद के वृक्ष के नीचे दी गई, निर्गंथगच्छ वट्गच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा। वट्गच्छ अन्य नाम वृहद्गच्छ के नाम से भी जाना जाने लगा।[135] वट्गच्छ का राजस्थान में सबसे प्राचीन अभिलेख 1086 ई॰ का सिरोही राज्य के कोटरा में मिला।[136] अगला प्राचीन अभिलेख 1158 ई॰ का मारवाड़ में नाडोल से प्राप्त हुआ।[137] अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि यह सिरोही और मारवाड़ राज्य में लोकप्रिय हो गया।[138] इस गच्छ के चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी के लेख उदयुर और जैसलमेर में पाये जाते हैं।[139]

खरतरगच्छ

खरतरगच्छ सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली गच्छ है। जिनेश्वर सूरि ने दुर्लभ राज की राजसभा में चैत्यवासियों को हराकर 1017 ई॰ में "खरतर" की उपाधि प्राप्त की। उससे खरतरगच्छ की शुरूआत हुई।[140] इसका उदय राजस्थान के बाहर हुआ किन्तु अधिक संख्या में अनुयायी यहां एकत्रित हुए। समयोपरान्त यह बहुत सी शाखाओं में विभाजित हो गया। इस गच्छ के बहुत से अभिलेख राजस्थान के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं।

चौदहवीं से उन्नीसवीं सदी तक जैसलमेर में यह प्रमुख रहा। इस गच्छ के आचार्यों ने बहुत-सी मूर्तियों की प्रतिष्ठा की और अनेक ग्रंथ लिखे।

तपागच्छ

जगचन्द्र सूरि केवल विद्वान् ही नहीं था किन्तु तपश्चर्या करने वाला महान् संन्यासी था। उसने समस्त जीवन के लिए आयम्बिल करने की तपश्चर्या स्वीकार की और बारह वर्ष इसी प्रकार बिताये। यह देखकर मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह ने उसे तपा (जिसका अर्थ

135. *श्रमण भगवान महावीर*, 5, 2, *स्थविरावली*, पृ॰ 2.
136. *प्रज॰सं॰*, 1, सं॰ 3.
137. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰, 833 और 834.
138. *अ॰प्रा॰जै॰नै॰*, सं॰ 1.
139. *ना॰जै॰इं॰*, 1, 2, 3.
140. *इंडि॰ऐंटी॰*, 1 पृ॰ 248, 7 – *ना॰जै॰इं॰*.

वास्तविक संन्यासी) की उपाधि 1228 ई० में दी। इस समय में निर्ग्रंथगच्छ का तपागच्छ हो गया।[141] इस गच्छ के साधुओं ने जैन गच्छ के उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बाद में यह बहुत सी शाखाओं में विभाजित हो गया। वृद्ध पौषालिक तपागच्छ विजयचन्द्र से प्रारंभ हुआ जो जगचन्द्र सूरि का शिष्य था। देवेन्द्रसूरि के लघु पौषालिक तपागच्छ आरंभ हुआ। विजयचन्द्र सूरि धार्मिक क्रियाओं के करने में आलसी था जबकि देवेन्द्रसूरि शुद्धिकरण क्रियाओं के प्रति समर्पित था और जैन धर्म के उत्थान में योगदान दिया।[142] इस गच्छ के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ राजस्थान के विभिन्न भागों में पायी जाती हैं। अब भी इसका सिरोही,[143] मेवाड़ और जैसलमेर[144] में जोर है।

आंचलगच्छ

विजयचन्द्र उपाध्याय शुद्ध क्रियाओं के पक्ष में विधि पक्ष नाम के गच्छ को शुरू करने वाला पहला व्यक्ति था। एक बार वह कोटीपाटन गया। पडिक्कमण क्रियाओं को करते हुए झुकने के लिए मुखपट्टी के स्थान पर उसने आंचल का प्रयोग किया। कुमारपाल ने इसका कारण पूछा। गुरु ने उसको विधिपक्ष (नया मत) कहा और कुमारपाल ने नमस्कार करने के लिए आंचल का प्रयोग किया। बाद में विधिपक्ष आंचलगच्छ कहा जाने लगा।[145]

यह गच्छ राजस्थान के बाहर 1166 ई० में शुरू हुआ लेकिन जैसाकि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि पन्द्रहवीं सदी में यह जैसलमेर, उदयपुर, सिरोही में जिराउला और मारवाड़ नगर में फैल गया। इस गच्छ के अनेक आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की और बहुत-सी मूर्तियों का अभिषेक समारोह किया।[146]

पूर्णिमियागच्छ और सार्धपूर्णिमियागच्छ

पूर्णिमा से इसका नाम पूर्णिमियागच्छ होना जान पड़ता है। सार्धपूर्णिमिया व्यवस्था 1179 ई० में शुरू हुई। एक बार कुमारपाल ने हेमचन्द्र को पूर्णिमियागच्छ के आचार्य को कुछ पूछताछ करने को बुलाया कि इसके अनुयायी जैन आगमों के अनुसार कार्य करते हैं या नहीं। किन्तु वह संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सका, इसलिए गच्छ को देश से निकलने के लिए कहा गया। कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् इस गच्छ का आचार्य सुमतिसिंह पाटन आया। लोगों ने उसके गच्छ के बारे में पूछा। उसने उत्तर दिया, "हम सार्धपूर्णिमियागच्छ

141. *श्रमण भगवान महावीर,* 5, 2, *स्थविरावली,* पृ० 75.
142. *श्रमण भगवान महावीर.*
143. *अ०प्रा०जै०ले०सं०,* 3.
144. *ना०जै०इं०,* 1 ई० 3; *प्रा०ले०सं०,* 3.
145. *श्रमण भगवान महावीर,* 5, 2 *स्थविरावली,* पृ० 65.
146. *ना०जै०इं०,* 2, 3 *प्रा०ले०सं०,* और *प्र०प्रा०जै०ले०सं०.*

के हैं।" इस गच्छ के अनुयायी जैन मूर्तियों को फलों से नहीं पूजते हैं।[147] इसकी उत्पत्ति राजस्थान के बाहर हुई थी किन्तु यहां पर भी उसके अनुयायी थे। पन्द्रहवीं सदी में जैसलमेर और सिरोही राज्यों में यह प्रमुख था जैसाकि अभिलेखों से जाना जाता है। इसके अभिलेख मारवाड़ में जोधपुर और नागोर, अजमेर और उदयपुर में पाये जाते हैं।[148]

आगमिक गच्छ

शीलगुणसूरि और देवभद्रसूरि दो आचार्य थे जो पूर्णिमियागच्छ के थे। वे आंचलगच्छ से जुड़े किंतु उन्होंने शीघ्र उसे छोड़ दिया और अपना मत शुरू किया। उन्होंने बताया कि क्षेत्र देवता की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ नए सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और अपने मत का नाम आगमिकगच्छ करवाया।[149] यह मत 1157 ई० व 115 में शुरू हुआ किंतु राजस्थान में यह पन्द्रहवीं सदी में फैला। यह जैसलमेर, अजमेर, जयपुर और मारवाड़ में नागोर, बाड़मेर और ओसिया में प्रचलित था।[150]

(1) कुलगच्छ – चन्द्रगच्छ

चन्द्रकुल, समयोपरांत चन्द्रगच्छ में परिणत हो गया। इसका नाम मारवाड़ में 1182 ई० जालौर अभिलेख में है।[151] जैसाकि अभिलेखों से ज्ञात होता है यह सिरोही राज्य में 1125 ई० के 1435 ई० तक प्रचलित था।[152]

(2) नागेन्द्रगच्छ

नागेन्द्रकुल से यह नागेन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अणहिलपुर पाटन के संस्थापक के आचार्य शीलगुणसूरि के गुरु इस गच्छ के थे। राजस्थान में इस गच्छ का सबसे प्राचीन अभिलेख 1031 ई० का मारवाड़ के ओसिया से प्राप्त हुआ है।[153] यह तेरहवीं सदी से सोलहवीं सदी तक जैसलमेर में प्रबल हो गया। इस समय यह पाली, नागोर, सिरोही, उदयपुर में प्रचलित था।[154]

---

147. *श्रमण भगवान महावीर* 5, 2, *स्थविरावली*, पृ० 62.
148. *ना०जै०इं०*, 1, 2, 3, *प्र०प्रा०जै०से०सं०*.
149. *श्रमण भगवान महावीर* 5, 2, *स्थविरावली*, पृ० 66.
150. *ना०जै०इं०*, 1, 2, 3 *अ०प्रा०जै०ले०सं०*.
151. *ना०जै०इं०* सं० 899.
152. *अ०प्रा०जै०ले०सं०*.
153. *ना०जै०इं०स०सं०*, 702.
154. *इंडि०ऐंटी०*, XI पृ० 250.

निवृत्तिगच्छ

संभवत:, निवृत्ति कुल समयोपरांत निवृत्तिगच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा। सिरोही राज्य के प्राचीन अभिलेखों में निवृत्ति कुल का उल्लेख मिलता है।[155] किंतु उदयपुर की शीतलनाथ की धातु के 1412 ई॰ के अभिलेख में निवृत्तिगच्छ का उल्लेख है।[156]

प्रभावशाली व्यक्तियों के नाम पर गच्छ

खरतरगच्छ

खरतरगच्छ समयोपरांत अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया जिनके नाम प्रभावशाली व्यक्तियों के नाम पर रखे गये। भावहर्ष खरतर सातवां गच्छ भेद है और इसकी स्थापना भवहर्षोपाध्याय द्वारा हुई।[157] 1643 ई॰ में रंगविजय खरतर शाखा की उत्पत्ति रंगविजय गणि द्वारा हुई। यहां नवां गच्छ भेद है, और इस शाखा से श्रीसारीय खरतर शाखा निकली जिसकी स्थापना श्री सारोपाध्याय ने की। यह दसवां गच्द भेद है।[158] जयपुर में इसका अस्तित्व उन्नसवीं सदी तक रहा।

तपागच्छ

समयोपरांत तपागच्छ अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया। कुछ शाखाओं के नाम बड़े आचार्यों के नाम पर रखे गए। आचार्य महाराज विजयसेन सूरि की मृत्यु के पश्चात् आचार्यों के नाम पर तपागच्छ के पाँच विभाजन हो गए। एक को आचार्य महाराज देवसूरि के शिष्यों ने बनाया और यह देवसूरि जाना गया। दूसरे को आचार्य आनन्दसूरि ने बनाया और यह आनंदसूरिगच्छ कहा जाने लगा। तीसरा विभाजन सागरगच्छ कहा गया जिसकी स्थापना 1629 ई॰ में आचार्य राजसागर सूरि ने की। चौथे विभाजन का नाम विमलगच्छ विमलसूरि के नाम पर 1692 ई॰ में हुआ। पाँचवां विभाजन संवेगीगच्छ जाना जाता है जिसकी स्थापना पन्नयास सत्यविजय गणि ने की।[159]

पार्श्वनाथगच्छ

पार्श्वनाथगच्छ भी तपागच्छ की शाखा है। पार्श्वचन्द्र नाम के बुद्धिमान व्यक्ति ने नागोरी तपागच्छ के श्री साधुरत्न सूरि से 1515 ई॰ में दीक्षा ली। आचार के बारे में वह अपने गुरु से मतभेद रखता था, और योग्यता से उत्साह के साथ अपने मत का प्रचार किया। उसके

155. वही.
156. *श्रमण भगवान महावीर* 5, 2, *स्थविरावली,* पृ॰ 176.
157. वही.
158. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰,* सं॰ 138, 141.
159. *ना॰जै॰इं॰,* 2 सं॰ 1275.

गच्छ का नाम उसके स्वयं के नाम पर पड़ा।[160] वह भी मूर्ति पूजा में विश्वास करता था, और उसके और गच्छ के अन्य साधुओं द्वारा मूर्तियों का अभिषेक किया गया। कृष्णर्षि साधु ने तपागच्छ की कृष्णर्षि शाखा की स्थापना की। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख सिरोही राज्य के जीरावला से प्राप्त 1426 ई० का अभिलेख है।[161] अगला इसका उल्लेख मारवाड़ के नागोर के 1468 ई० का अभिलेख है।[162] पन्द्रहवीं सदी में जैसलमेर में इसका अस्तित्व था।[163] कमलकलश भी तपागच्छ की शाखा है, और कमलकलश के नाम से यह सोलहवीं सदी में अलग हो गई। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह सिरोही राज्य में लोकप्रिय हो गई।[164]

सिरोही राज्य में इस प्रकार के गच्छ

पिप्पलाचार्य के नाम से यह गच्छ पिप्पलाचार्य कहा जाता था। जैसाकि अभिलेखों[165] से ज्ञात होता है कि 1151 ई० से सिरोही राज्य में इसका अस्तित्व था। महेन्द्रसूरिगच्छ आचार्य महेन्द्रसूरि के नाम से अस्तित्व में आया। सिरोही राज्य के अजारी में तेरहवीं सदी के अभिलेख में इसका उल्लेख है।[166] आम्रदेवाचार्यगच्छ का नाम आम्रदेवाचार्य से पड़ा। सिरोही राज्य के अजारी और लोटाना में ग्यारहवीं सदी में इसका अस्तित्व था। अभिलेखों से प्रतीत होता है कि इसका संबंध निवृत्ति कुल से था।

जोधपुर राज्य में इस प्रकार के गच्छ

आचार्य प्रभाकर से यह प्रभाकरगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मारवाड़ में मेड़ता के 1515 ई० के अभिलेख में इसका उल्लेख है।[167] कड़ोमतिगच्छ का नाम कड़ावाशाह के नाम से 1505 ई० में प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ के नाम का उल्लेख ओसिया के 1626 ई० के अभिलेख में है।[168]

राज्यों में सामान्य गच्छ

धर्मघोष सूरि के नाम से धर्मघोषगच्छ संभवतः बारहवीं सदी व तेरहवीं सदी में हुआ।

160. वही, 3.
161. वही, 1 सं० 970, 971.
162. *अ०प्रा०जै०ले०सं०.*
163. वही, सं० 425.
164. वही, सं० 396, 470, 472, और 473.
165. *ना०जै०इं०,* सं०, 764.
166. वही, सं० 899.
167. वही, 1, 2, 3.
168. *अ०प्रा०जै०ले०सं०,* 319.

चौदहवीं व पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में इसका जैसलमैर, उदयपुर और नागोर में प्रभुत्व बढ़ गया।[169]

भावदेवाचार्यगच्छ भावदेवसूरि के नाम से पड़ा। भावदारगच्छ और बड़ाहडगच्छ इसी प्रकार के गच्छ प्रतीत होते हैं। 1157 ई॰ का सबसे प्राचीन लेख सीवेरा ग्राम, सिरोही राज्य से प्राप्त हुआ।[170] तेरहवीं सदी व पन्द्रहवीं सदी तक जैसलमेर में इसके अस्तित्व की जानकारी अभिलेखों से मिलती है।[171]

मल्लधारी आचार्य से मल्लधारीगच्छ का नाम पड़ा। जैसलमेर, उदयपुर और सिरोही राज्य में इसका अस्तित्व तेरहवीं से सोलहवीं सदी तक रहा।[172] विद्याधरसूरि के नाम पर संभवतः विद्यागच्छ पड़ा। चौदहवीं से सत्रहवीं सदी तक राजस्थान में इसका अस्तित्व रहा। इसके अभिलेख मारवाड़ में ओसिया और नागोर, सिरोही राज्य में नाणा और जैसलमेर से प्राप्त हुए।[173]

संभवतः विजयदेवसूरि के नाम से विजयगच्छ नाम पड़ा। सिरोही में भारज नामक स्थान पर 1642 ई॰ का अभिलेख है।[174] 1661 ई॰ का अन्य अभिलेख मारवाड़ में बालोतरा से मिला है।[175] उन्नीसवीं सदी में इस गच्छ के अलवर के व्यक्ति ने मूर्ति प्रतिष्ठा समारोह मनाया।[176]

रामसेन के नाम पर संभवतः रामसेनीयगच्छ पड़ा। इस गच्छ का सबसे प्राचीन लेख 1401 ई॰ का मारवाड़ में नागोर से प्राप्त हुआ।[177] पन्द्रहवीं सदी में इसका अस्तित्व मेवाड़ में रहा।[178]

यशसूरिगच्छ की स्थापना आचार्य यशसूरि के नाम पर हुई। इस गच्छ का 1185 ई॰ का अभिलेख अजमेर से प्राप्त हुआ।[179]

169. *ना॰जै॰इ॰*, 3.
170. *ना॰जै॰इं॰*, 1, 2, 3, *अ॰प्रा॰जै॰ले॰* सं॰, 82 और 142.
171. वही, सं॰ 798, 313 व 228 *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*, सं॰ 348.
172. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰*, सं॰, 620.
173. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 738.
174. वही, सं॰ 1000.
175. वही, सं॰ 1236.
176. वही, सं॰ 1080 और 1017.
177. वही, सं॰ 530.
178. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰*, सं॰ 66.
179. वही, *ना॰जै॰इं॰*, 1, 2, और 3.

स्थानीय गच्छ

सिरोही राज्य प्राचीन समय में जैन धर्म का बड़ा केन्द्र रहा है। यह इसलिए स्वाभाविक था कि गच्छों के नाम इस राज्य के स्थानों से पड़े। मडाहड़गच्छ सिरोही राज्य के मड़ार ग्राम से प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ का सबसे प्राचीन अभिलेख 1230 ई॰ का इसकी उत्पत्ति के स्थान मड़ार में प्राप्त हुआ।[180] इसके अधिकतर अभिलेख सिरोही से मिले हैं,[181] जिससे ज्ञात होता है कि यह क्षेत्र इस गच्छ का गढ़ रहा था। चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी में यह जैसलमेर और उदयपुर में प्रचलित था।[182]

नाणवालगच्छ और ज्ञानकीयगच्छ दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। इनकी उत्पत्ति सिरोही राज्य के नाणा नामक स्थान से हुई प्रतीत होती है। ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं सदी के सिरोही राज्य से प्राप्त लेख सिद्ध करते हैं कि यह गच्छ का केन्द्र था।[183] ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक इसका अस्तित्व जैसलमेर में था।[184] पन्द्रहवीं व सोलहवीं सदी में यह गच्छ मेवाड़ में पाया जाता था।[185]

पट्टावली के अनुसार जारावलीगच्छ वृहद्गच्छ की शाखा है। सिरोही राज्य के जीरावली नाम के स्थान से इसकी उत्पत्ति हुई। स्थान पर चौदहवीं सदी में इसका *अस्तित्व था।*[186]

जैनियों में ब्राह्मणगच्छ की उत्पत्ति वर्मान नामक स्थान से हुई जिसका प्राचीन नाम ब्राह्मण महास्थान था। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक इस गच्छ का केन्द्रबिन्दु सिरोही राज्य का क्षेत्र था जैसाकि यहां से प्राप्त बहुत से अभिलेखों से होता है।[187] बारहवीं सदी का लेख वर्मान से प्राप्त हुआ।

इस स्थान का महावीर का मंदिर इस गच्छ का था, और इसका निर्माण 1185 ई॰ व पहले श्रावकों द्वारा हुआ था। यह अभिलेख उल्लेख करता है कि युनिग और अन्य श्रावकों ने ब्राह्मणगच्छ के महावीर के मंदिर की पद्मशिला का निर्माण करवाया।[188] इस

---

180. *ना॰जै॰इं॰*, 1, 2 और 3.
181. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*.
182. *ना॰जै॰इं॰*, 3.
183. वही, सं॰ 1111, 1143 और 1031.
184. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*, सं॰ 74 व 119.
185. वही.
186. वही, अं॰ 110.
187. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 811.
188. वही, 1, 2, 3.

गच्छ के नाम का 1087 ई॰ का अभिलेख मारवाड़ के पाली से प्राप्त हुआ।[189] चौदहवीं सदी और पन्द्रहवीं सदी में इस गच्छ का अस्तित्व मेवाड़ में रहा तथा पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में जैसलमेर में।[190]

काछोलीगच्छ का संबंध सिरोही राज्य के काछोली नामक स्थान से रहा। यह पूर्णिमा पक्ष की शाखा थी। चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी में इसका अस्तित्व सिरोही राज्य में था।[191]

मारवाड़ राज्य से उत्पन्न गच्छ

उपकेशगच्छ का नाम मारवाड़ के ओसिया राज्य से पड़ा। इस नाम का 1202 ई॰ का अभिलेख ओसिया से मिला।[192] 1137 ई॰ का अभिलेख सिरोही राज्य के अजारी नाम से मिला।[193] यह गच्छ तेरहवीं से सोलहवीं सदी तक जैसलमेर, उदयपुर और सिरोही राज्यों में लोकप्रिय रहा जैसा यहां से प्राप्त अभिलेखों से होता है।[194] कोरंटकगच्छ का नाम मारवाड़ के कोरंटक नामक स्थान से पड़ा। इस गच्छ का सबसे प्राचीन अभिलेख 1031 का सिरोही राज्य के पिंडवाड़ा नामक स्थान से प्राप्त हुआ।[195] इस समय से सोलहवीं सदी तक इस क्षेत्र में रहा।[196] चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक इसका अस्तित्व जैसलमेर में रहा।[197]

मारवाड़ में संडेरा संडेरकगच्छ का मूल स्थान था जिसकी स्थापना यशोदेव सूरि ने की। म्लेच्छों के भय से वह काठियावाड़ से आ गया, और लोगों के साथ तालाब के समीप बस गया। उसने बैल और सिंह में लड़ाई देखी जिसमें बैल विजयी रहा। ग्राम और गच्छ का नाम संडेरक से पड़ गया। यह गच्छ राजस्थान के विभिन्न भागों में फैल गया। बारहवीं सदी में यह मारवाड़ के नाडोल में प्रचलित रहा।[198] पन्द्रहवीं सदी में जैसलमेर में इसका प्रभुत्व रहा। चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक इसका अस्तित्व मेवाड़ में रहा।[199]

---

189. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰.*
190. *ना॰जै॰इं॰* 1, सं॰ 791.
191. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰*, सं॰ 404.
192. *ना॰जै॰इं॰*, II, III, *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰.*
193. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰*, सं॰ 376.
194. वही.
195. *ना॰जै॰इं॰*, 3.
196. *अ॰प्रा॰ले॰सं॰*, 5 और 23.
197. *ना॰जै॰इं॰*, 2, 3.
198. *अ॰प्रा॰ले॰सं॰*, सं॰ 43.
199. *ना॰जै॰इं॰*, 2, 3.

मारवाड़ में हस्तिकुंडी स्थान से हस्तिकुंडगच्छ प्रसिद्ध हुआ। उदयपुर के 1396 ई॰ के अभिलेख में इसका उल्लेख है।[200]

चैत्रवालगच्छ और चैत्रगच्छ समान प्रतीत होते हैं। मारवाड़ के चैत्रवाल नगर से संभवतः इसकी उत्पत्ति हुई। तेरहवीं सदी से सोलहवीं सदी तक यह जैसलमेर और मेवाड़ में प्रचलित रहा।[201]

पल्लिवालगच्छ की उत्पत्ति मारवाड़ के पाली से हुई। यह पल्लिवालगच्छ और पल्लिगच्छ जाना जाता है। पल्लिगच्छ का उल्लेख जैसलमेर के 1405 ई॰ के अभिलेख में और जयपुर के 1451 ई॰ में पाया जाता है।[202] पल्लिवाल गच्छ अजमेर के पन्द्रहवीं सदी के दो अभिलेखों में उल्लेखित पाया जाता है।[203]

नागपुरीयगच्छ की उत्पत्ति मारवाड़ के नागोर से हुई है। वादिदेव सूरि के पद्मप्रभ सूरि नाम के प्रसिद्ध शिष्य ने 1117 में नागोर में कठोर तपश्चर्या की, इसलिए उसको नागोरिया तपा की उपाधि दी।

श्री पार्श्वनाथ कुल की शाखा हर्षपुरीयगच्छ की उत्पत्ति अजमेर और पुष्कर के मध्य हरसोर से हुई। इस गच्छ के कुछ आचार्य शक्तिशाली थे, और समकालीन राजाओं पर उनका बड़ा प्रभाव था। अभयदेव सूरि की प्रार्थना पर शाकंभरी के चौहान राजा पृथ्वीराज प्रथम, जो 1305 ई॰ में रहता था, ने रणथंभौर के जैन मन्दिरों पर, स्वर्ण कलश चढ़ाये।[204] उसका शिष्य मलपायी हेमचन्द्र था जिसका प्रभाव गुजरात के जयसिंह सिद्धराज पर था। नागोर के 1498 ई॰ के अभिलेख में इस गच्छ का नाम उल्लेखित है।[205]

मंडोवरगच्छ खरतरगच्छ की एक शाखा है। 1745 ई॰ में यह शाखा जिनमहेन्द्र सूरि से मंडोवर में अलग हो गई, इसलिए इसका नाम मंडावर शाखा पड़ा।[206]

मेवाड़ के स्थानों से गच्छों की उत्पत्ति

भर्तृपुरीयगच्छ की उत्पत्ति भर्तृपुरीय ग्राम से हुई जो मेवाड़ में भटेवर है। इसकी स्थापना प्रसिद्ध राजा अल्लट के पिता भर्तृभट के द्वारा दसवीं सदी में हुई। तेरहवीं सदी के

200. वही, 2478 और 577.
201. वही, सं॰ 533 और 539.
202. *केटेलॉग ऑफ द मैनुस्क्रिप्ट इन द पाटन भंडार,* पृ॰ 312.
203. *ना॰जै॰इं॰,* सं॰, 1295.
204. *इंडि॰ऐंटी॰,* II, पृ॰ 249.
205. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰,* 1923.
206. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰,* 49, 124, 256.

अभिलेख में इस गच्छ का उल्लेख है।[207] रत्नपुरीयगच्छ मूल में मड़ाहड़गच्छ की शाखा थी किंतु बाद में मेवाड़ में रत्नपुर के नाम से अलग गच्छ हो गया। इसका उल्लेख उदयपुर के जैन मंदिर की धातु की मूर्ति के 1453 ई॰ के अभिलेख में हुआ है।[208]

अन्य ज्ञात स्थानों से गच्छों की उत्पत्ति

काम्यकगच्छ की उत्पत्ति भरतपुर राज्य के कामा से हुई। कहा जाता है कि इस क्षेत्र में काम्यक वन था। इसका उल्लेख 1043 ई॰ के बयाना के अभिलेख में है।[209] रुद्रपल्लीयगच्छ खरतरगच्छ की शाखा है। 1147 ई॰ में रुद्रपल्लि में इसकी स्थापना जिनशेखराचार्य द्वारा की गई।[210] देहली के समीप रुद्रपल्लि स्थान से इसकी उत्पत्ति हुई। पन्द्रहवीं सदी में यह मारवाड़ में नागोर, बालोतरा और जैसलमेर में फैल गया।

अज्ञात स्थानों से गच्छों की उत्पत्ति

कुछ गच्छ स्थानीय हैं किंतु उनकी उत्पत्ति के स्थानों की पहचान नहीं की गई है। पिषालकगच्छ खरतरगच्छ की एक शाखा है। यह शाखा 1417 ई॰ में जिनवर्धन सूरि से अलग हो गई। इसका संबंध पिषालक स्थान से रहा[211] और इसलिए इसका नाम पिषालके पड़ा। ऐसा ज्ञात होता है कि दोनों हुंबड जाति और गच्छ की उत्पत्ति हुंबड स्थान से हुई[212] जिसकी पहचान नहीं की जा सकती। उदयपुर के 1396 ई॰ के अभिलेख में इसका उल्लेख है।[213] जल्योद्यरगच्छ की उत्पत्ति जोराड़द्र ग्राम से हुई। इस नाम का उल्लेख 1156 ई॰ के अभिलेख में हुआ है जो सिरोही राज्य के अजारी स्थान से प्राप्त हुआ है।[214] इस गच्छ का संबंध विशेषकर मोढ़ वंश से 1169 से 1366 तक रहा।

भीमपल्लीयगच्छ पूर्णिमागच्छ की शाखा है, और इसकी उत्पत्ति भीमपल्लीय नाम के ग्राम से हुई। इसका इसलिए नाम भीमपल्लीयगच्छ पड़ा। 1541 ई॰ में जोधपुर से प्राप्त अभिलेख में इसका उल्लेख है।[215] कुटुंबपुरागच्छ तपागच्छ की एक शाखा है। कुटुंबपुरा नामक स्थान से इसकी शुरुआत हुई। सोलहवीं सदी के आरम्भ में यह नाड़लाई में

---

207. *इंडि॰ऐंटी॰*, 14 पृ॰ 8.
208. वही, II, पृ॰ 248.
209. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 734, 1267, 1315, 3.
210. *इंडि॰ऐंटी॰*, II, पृ॰ 249.
211. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1059.
212. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*, सं॰ 408.
213. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 604.
214. *ना॰जै॰इं॰*, 849, 850, 851.
215. वही, 3.

प्रचलित था। इस गच्छ के इन्द्रनंदि ने इस स्थान पर 1512 ई॰ 1513, 1514 ई॰ में मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई।[216]

अन्य बचे हुए गच्छ

खरतरगच्छ की शाखाएँ

पट्टावलियों में यह उल्लेखित है कि मधुखरतर शाखा पहला गच्छ भेद है जो जिनवल्लभ सूरि से 1107 ई॰ में शुरू हुआ। लघु खरतर शाखा तीसरा गच्छ भेद है जिसकी स्थापना जिनसिंह सूरि ने 1274 ई॰ में की। 1365 ई॰ में वेगड शाखा की उत्पत्ति धर्म-वल्लभ गणि से हुई। सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी तक इसका प्रभुत्व जैसलमेर में रहा,[217] यह चौथा गच्छ भेद था। 1507 ई॰ में आचार्य शांतिसागर ने आचारीय खरतर शाखा की स्थापना मरुदेश में की। यह छठा गच्छ भेद है। 1629 ई॰ में आचार्य जिनसागर सूरि से लघुवाचारीय खरतर शाखा की उत्पत्ति हुई। यह खरतरगच्छ में आठवां गच्छ भेद है।[218]

मारवाड़ के गच्छ

चूंकि मारवाड़ जैन धर्म का केन्द्र रहा है इसलिए विभिन्न गच्छों के अनुयायी यहां रहते थे। सिद्धांतीगच्छ का जोधपुर से प्राप्त 1508 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है।[219] नागोर के 1477 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित जापड़ाणगच्छ लिखा हुआ पाया जाता है।[220] रैणपुर के जैन मंदिर के स्तंभ पर अंकित उन्नीसवीं सदी के अभिलेख में कवलगच्छ का उल्लेख है।[221] जोधपुर के मुनिसुव्रत के जैन मंदिर के 1442 ई॰ के अभिलेख में तावड़ारगच्छ का उल्लेख है।[222]

जैसलमेर राज्य के गच्छ

जैसलमेर का राजस्थान के हृदय में स्थित होने के कारण जैन धर्म यहाँ बहुत फला-फूला। वाटपीयगच्छ का उल्लेख जैसलमेर से प्राप्त 1105 ई॰ के अभिलेख और 1281 ई॰

---

216. *इंडि॰ऐंटी॰*, II, पृ॰ 248-249.
217. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 597.
218. वही, 1288.
219. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 217.
220. वही, सं॰ 616.
221. वही, सं॰ 2218 और 223, 2.
222. वही, सं॰ 2220-22, और 2415.

के अभिलेख में है।[223] सरवालगच्छ बारहवीं और तेरहवीं सदी में इस क्षेत्र में प्रचलित था।[224] 1364 ई० में बाहड़गच्छ के ईश्वर सूरि ने सुमतिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[225]

जयपुर राज्य के गच्छ

कुछ गच्छों के नाम जयपुर के अभिलेखों में पाए जाते हैं। 1472 ई० में भारवर द्वारा चाणचालगच्छ के वज्रेश्वर सूरि द्वारा पद्मप्रभु की मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।[226] 1452 ई० में शिवराज ने राजगच्छ के पद्मनंद ने कुंथुनाथ की मूर्ति का अभिषेक समारोह किया।[227] जयपुर के जैन मंदिर की पंचतीर्थी के 1555 ई० के अभिलेख में छहितेरागच्छ का उल्लेख है।[228]

मेवाड़ राज्य के गच्छ

कुछ गच्छ मेवाड़ को छोड़कर अन्य कहीं नहीं मिलते। प्रायागच्छ का नाम उदयपुर के 1317 ई० के अभिलेख में पाया जाता है।[229] 1144 ई० में देवाभिद्दितगच्छ के कनुदेव ने शील सूरि से मूर्ति प्रतिष्ठा करवाई।[230] 1439 ई० के अभिलेख में निट्ठतिगच्छ अंकित है।[231]

सामान्य गच्छ

धारापद्रीयगच्छ और थिराद्रागच्छ दोनों एक ही गच्छ के नाम प्रतीत होते हैं। बारहवीं सदी में इसका अस्तित्व सिरोही राज्य में था।[232] पन्द्रहवीं सदी में इसका प्रचार जैसलमेर में था।[233] पिप्पलगच्छ का सबसे प्राचीन उल्लेख सिरोही राज्य के कोटरा नामक स्थान से प्राप्त 1151 ई० अभिलेख में है।[234] चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक जैसलमेर में इसका अस्तित्व था।[235] महुकरगच्छ मधुकरगच्छ के नाम से जाना जाता है जिसका उल्लेख

223. वही, सं० 2269.
224. वही, सं० 1159.
225. वही, सं० 1174.
226. वही, सं० 1194.
227. वही, सं० 1042.
228. वही, सं० 1998.
229. वही, सं० 1078.
230. *अ०प्रा०जै०ले०*, सं०, 9, 454 और 466.
231. *ना०जै०इं०*, III.
232. वही, सं० 966.
233. वही, सं० 03.
234. *अ०प्रा०जै०ले०*, सं० 575.
235. *ना०जै०इं०*, 1 और 3.

सिरोही राज्य के रोहिड़ा से प्राप्त 1436 ई॰ के अभिलेख में मिलता है।[236] इसका उल्लेख अलवर और जैसलमेर के क्रमशः 1470 ई॰ और 1506 ई॰ के अभिलेखों में पाया जाता है।[237] बोकड़ियागच्छ जयपुर और नागोर क्षेत्र में चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी में प्रचलित था।[238]

गुजरात

जमणपुरगच्छ की उत्पत्ति जमनपुर से हुई जो मेहसाना जिला में स्थित है। इस गच्छ का उल्लेख वि॰सं॰ 1285 की धातु मूर्ति पर पाया जाता है। थरापदगच्छ की उत्पत्ति प्राचीन थराप्रद से हुई जो बनासकांठा जिला में स्थित है। अभी यह थकाद नाम से जाना जाता है। हरिजगच्छ की उत्पत्ति मेहसाना जिला के हारीज से हुई। इस गच्छ के अस्तित्व का साहित्यिक प्रमाण वि॰सं॰ 1556 (1500 ई॰) का है जबकि अभिलेखीय प्रमाण वि॰सं॰ 1330 से वि॰सं॰ 1577 का है। अड़ालिजियगच्छ का संबंध अहमदाबाद के समीप अड़ालज से है। बढ़वाण के जैन मंदिर के चार अभिलेख वि॰सं॰ 1136, वि॰सं॰ 1207, वि॰सं॰ 1228 और वि॰सं॰ 1273 इस गच्छ का उल्लेख करते हैं। पालिताना, शत्रुंजय, केम्बे (स्तंभतीर्थ), भरुकच्छ (गांधार) अणहिलवाड़, आदि विभिन्न गच्छों का उल्लेख करते हैं। कुछ की उत्पत्ति गुजरात से हुई होगी।

विभिन्न श्वेताम्बर गच्छों के अनुयायी राजस्थान से पड़ोसी प्रदेशों जैसे मालवा, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश को चले गये, और वहां बस गये। वे समृद्ध हो गये और उन्होंने मूर्तियों का प्रतिष्ठा समारोह किया। वे प्राचीन मूर्तियों को भी अपने साथ ले गये, और उन्हें मंदिरों में विराजमान कर दिया। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी की अनेक मूर्तियों पर गच्छों के नाम अंकित हैं। इन गच्छों के श्रावकों ने आचार्यों को भेंट के लिए ग्रंथों की प्रतिलिपियां तैयार करवाई।[239]

ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर जैन संघ में एकता जैसी कोई वस्तु नहीं थी, किन्तु इसके विपरीत यह अनेक गच्छों में विभाजित था। विभाजित गच्छ धीरे-धीरे समस्त उत्तर भारत में फैल गए। एक संघ के अधीन उनको एक करने वाला कोई व्यक्तित्व नहीं था।[240]

---

236. वही, सं॰ 1167, 1169 और 1246.
237. *श्रमण*, 1995 पृ॰ 28.
238. वही, 1997 पृ॰ 81-82.
239. *मालवांचल के जैन अभिलेख*.
240. मुनिकांतिसागर, *जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह*.

मालवा

तपागच्छ मालवा में पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में बहुत लोकप्रिय हो गया। अन्य ज्ञात महत्त्वपूर्ण गच्छ थे – खरतर, आगम, आंचल और उपकेश। जैन अभिलेखों में अन्य उल्लेखित गच्छ हैं – नाणपाल, पाली, भावड़, नाणकाय, आशपल्लीय, नगेन्द्र, कोरंट, धर्मघोष, जीरापल्लीय, रुद्रपल्लीय, ब्राह्मण, आदि। इन गच्छों के मुख्य केन्द्र थे उज्जैन, बदनावर (वर्धमानपुर), मांडु (मंडपदुर्ग) और धार।[241]

महाराष्ट्र

जैन धातुओं की मूर्तियों पर अभिलेख अंकित हैं, और वे बम्बई, नागपुर, अमरावती, अकोला और नासिक के समीप चांदवाड़, मनमाड, कारंजा, वर्धा, चालीसगांव और भद्रावती के जैन मंदिरों में विराजमान हैं।[242] कुछ जैन अभिलेख धूलिया से प्राप्त हुए हैं।[243] ये अभिलेख गच्छों के बारे में जानकारी देते हैं। इस क्षेत्र में अधिक लोकप्रिय गच्छ तपा और खरतर थे। धातु मूर्तियों के अभिलेखों से ज्ञात गच्छ हैं – कुरंट, चित्र, बृहद्, आंचल, जिरापलि, पाली, धर्मघोष, संडेर, कृष्णर्षि, आगम, त्रिप्पल, नागेन्द्र, ब्राह्मण, भीमपल्ली, ज्ञानकीय, भावडार, आदि।[244]

उत्तर प्रदेश

बनारस, आगरा, अयोध्या, आदि स्थानों की जैन मूर्तियों के लेख इन गच्छों के बारे में सूचना देते हैं – खरतर, तपा, पूर्णिमापक्ष, मलधारी, धर्मघोष, आँचल, कोरंट, ब्राह्मण, आगम, आदि।[245]

हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा के महत्त्वपूर्ण अभिलेख राजकुल गच्छ के दो जैन साधुओं के नामों का उल्लेख करता है। राजकुलगच्छ और राजगच्छ संभवतः दोनों एक ही हैं। कोमल गच्छ का अस्तित्व पहले से ही मुल्तान में था।[246]

उत्तर भारत में मध्यकाल में दिगम्बर संघ, गण और गच्छ

उत्तर भारत में मध्यकाल में दिगम्बर जैन संघ हैं – माथुर, बागड़, लाटवागड़ और नंदीतट। बाद में माथुर, बागड़, लाटवागड़ और नंदी काष्ठा संघ की शाखाएँ हो गईं। मूल

241. *मालवांचल के जैन अभिलेख*, पृ॰ 77-78.
242. *ना॰जै॰इं॰*, 3, सं॰ 403-25.
243. *एपि॰इंडि॰*, I, पृ॰ 120.
244. *जैन जर्नल*, महावीर जयंती स्पेशल, पृ॰ 195-196.
245. *म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 410.
246. *भट्टारक संप्रदाय*, पृ॰ 239.

संघ बलात्कारगण के साथ चौदहवीं सदी के पश्चात् शक्तिशाली हो गया। इन संघों के आचार्यों ने मूर्तियों का प्रतिष्ठा समारोह किया और ग्रंथों की प्रतिलिपियां तैयार करवाईं। उन्होंने श्रावकों के साथ संघ निकाला। शांतिनाथ मूर्ति का अभिषेक समारोह आचार्य सुभद्र ने किया जो चन्द्रकर आचार्य की आम्नाय में देशीगण का था।[247] बदनावर के पुन्नाट संघ की भी जानकारी है।

माथुर संघ

माथुर संघ की उत्पत्ति मथुरा से हुई प्रतीत होती है *दर्शनसार* के अनुसार रामसेन इस संघ का आचार्य था। उसने पिच्छी संघ के प्रयोग की मनाही कर दी। इस संघ का पहला ऐतिहासिक उल्लेख अमितगति के ग्रंथों में पाया जाता है। उसके आचार्यों की वंशावली है – देवसेन, अमितगति, नेमिषेण और माधवसेन। उसने परमार राजा मुंज के राज्य में *सुभाषित रत्न संदोह*, वि॰सं॰ 1050; *वर्धमान नीति*, वि॰सं॰ 1066; *धर्म परीक्षा*, वि॰सं॰ 1070; और *पंचसंग्रह*, वि॰सं॰ 1073 में लिखा।[248]

माथुर संघ का अन्य आचार्य छत्रसेन था। उसके आचार्य आलोक ने ऋषभनाथ का मंदिर वि॰सं॰ 1166 में बनवाया। इस संघ का तीसरा आचार्य गुणभद्र था। उसने वि॰सं॰ 1226 में बिजोलिया के पार्श्वनाथ मंदिर की विस्तार से प्रशस्ति लिखी। ललितकीर्ति चौथा आचार्य है जिसने वि॰सं॰ 1234 में देवी की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। पाँचवां आचार्य अमरकीर्ति था जिसने वि॰सं॰ 1247 में *नेमिनाथ चरित* और वि॰सं॰ 1247 में *षटकर्मोपदेश* लिखा।[249] बदनावर के बारहवीं के जैन अभिलेखों से माथुर संघ का पता चलता है।[250] माथुर संघ और उसके आचार्यों की जानकारी वि॰सं॰ 1308 के अभिलेख से भी होती है।[251]

ऐसा प्रतीत होता है कि माथुर संघ का ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में राजस्थान में प्रभुत्व था। इस समय विभिन्न स्थानों पर इस संघ के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठा की गई। बघेरों के जैन मंदिर में ब्रह्माणी की पाषाण मूर्ति पर 1158 ई॰ के अभिलेख में पंडित महासेन का उल्लेख है।[252] यशकीर्ति प्रभावशाली आचार्य प्रतीत होता है जिसने सिंघीजी के जैन मंदिर एवं जागानेर की जैन मूर्ति का 1167 ई॰ में अभिषेक समारोह किया[253] और मारोठ

247. वही.
248. *म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 505.
249. वही.
250. *वीरवाणी*, 6 पृ॰ 355.
251. वही, 5 पृ॰ 41.
252. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 72.
253. वही.

की पद्मप्रभु की मूर्ति का 1175 ई॰ में।[254] मनोरथ के पुत्र कुलधर ने इस पर्व का आयोजन किया। कुलधर एक धनी श्रावक था। 1175 ई॰ में हैत्य और उसके पुत्र विल्हण ने उसी यशकीर्ति से मारोठ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई।[255] बिजोलिया के 1170 ई॰ के अभिलेख के लेखक महामुनि गुणभद्र था जो माथुर संघ का था।[256] उदयपुर के समीप रूपाहेली के जैन मंदिर के जैन स्तंभ पर 1176 ई॰ का अंकित लेख उल्लेख करता है कि माथुर संघ की साध्वी अजिका की शिष्या पद्मश्री ने स्तंभ को स्थापित किया।[257] मालवा के बदनावर में भी जैन धर्म का प्रभाव था। यह जैन मूर्तियों के वि॰सं॰ 1210, 1226 और 1236 अभिलेखों से स्पष्ट है।[258]

माथुर गण की मध्यकालीन वंशावली माधवसेन से शुरू होती है जिसके उद्धरसेन और विजयसेन नाम के दो शिष्य थे। अनुश्रुतियों के अनुसार माधवसेन अलाउद्दीन खलज़ी के राज्य में रहता था।[259]

उद्धरसेन और देवसेन के पश्चात्, विमलसेन, धर्मसेन, सहस्रकीर्ति और शुणकीर्ति क्रमशः भट्टारक हुए। गुणकीर्ति के आम्नाय में पंचास्तिकाय की प्रति ग्वालियर के वीरमदेव के राज्य में वि॰सं॰ 1468 में लिखी गई। गुणकीर्ति का पट्टधर यशकीर्ति था। वि॰सं॰ 1486 में उसने *भविष्यदत्त पंचमी कथा* ग्वालियर में डूंगरसिंह के राज्य में तैयार करवाई। यशःकीर्ति के शिष्य पंडित रइधू ने डूंगरसिंह के राज्य में ग्वालियर में आदिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई। यशःकीर्ति का पट्टशिष्य मलयकीर्ति था जिसने वि॰सं॰ 1502 में यंत्र की और वि॰सं॰ 1510 में मूर्ति की प्रतिष्ठा की। गुणभद्र के पश्चात् मलयक कीर्ति भट्टारक हुआ। जिनदास ने डूंगरसिंह के राज्य में ग्वालियर में *समयसार* की प्रति लिखवाई। *ज्ञानार्णव* की प्रति कीर्तिसिंह के राज्य में वि॰सं॰ 1521 में ग्वालियर में तैयार करवाई। मूर्तियों का अभिषेक समारोह वि॰सं॰ 1529, 1531, 1547 और 1548 कल्याणमल के राज्य में हुआ। गुणभद्र की आम्नाय के चौधरी टोडरमल ने *महापुराण* की प्रतिलिपि करवाई। गुणभद्र के शिष्य ब्रह्ममंडन ने सोनीपत में वि॰सं॰ 1576 में इब्राहीम के राज्य में स्तोत्रों का गुटका लिखा। गुणभद्र के शिष्य धर्मदास की आम्नाय में *धनद चरित* की प्रतिलिपि वि॰सं॰ 1590 में हुमायूं के राज्य में लिखवाई। गुणभद्र के पश्चात् भानुकीर्ति भट्टारक हुए।

254. *एपि॰इंडि॰*, XXIV, पृ॰ 84.
255. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1925-26, सं॰ 3.
256. *मालवांचल के जैन लेख*, सं॰ 3, 6 और 7.
257. *भट्टारक संप्रदाय*, पृ॰ 239.
258. वही, पृ॰ 241-242.
259. वही, पृ॰ 211.

साह रूपचन्द्र ने *उत्तरपुराण* की प्रति शाह सलीम (सूरवंश का शासक) के राज्य में वि॰सं॰ 1606 में भट्टारक भानुकीर्ति को भेंट करने हेतु अब्राह्माबाद में लिखवाई।

वि॰सं॰ 1615 में अकबर के राज्य में *भविष्यदत्त चरित* की प्रति भानुकीर्ति के शिष्य कुमारसेन की आम्नाय में लिखी गई। साहु तोडर की प्रार्थना पर पंडित राजमल ने *जम्बू स्वामी चरित* अकबर के राज्य में वि॰सं॰ 1632 में लिखा।

माथुरगच्छ की मध्यकाल की दूसरी वंशावली माधवसेन के शिष्य विजयसेन से शुरू हुई। इसके पश्चात् मासोपवासी जयसेन, श्रेयांश सेन, अनन्तकीर्ति और कमलकीर्ति क्रमशः भट्टारक हुए। कमलकीर्ति ने नाथदेव (स्थानीय शासक) के राज्य में वि॰सं॰ 1443 में मूर्ति की स्थापना की। पद्मकीर्ति के शिष्य हरिराज ने वि॰सं॰ 1469 में वीरभदेव के राज्य में ग्वालियर में *प्रवचन सार* की एक प्रति लिखी।

हेमकीर्ति का शिष्य कमलकीर्ति था जिसने वि॰सं॰ 1506 में चन्द्रप्रभु की मूर्ति स्थापित की। *भविसत्तकहा* की प्रति वि॰सं॰ 1506 में डूंगरसिंह के राज्य में ग्वालियर में उसकी आम्नाय में लिखी गई। कमलकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र और कुमारसेन ने वि॰सं॰ 1510 में महावीर की मूर्ति खड़ी की। शुभचन्द्र ने कीर्तिसिंह के राज्य में ग्वालियर में वि॰सं॰ 1530 में मूर्ति की प्रतिष्ठा की। रइधू के *हरिवंश पुराण* से ज्ञात होता है कि सोनगिरि में उनका मठ था। उसके शिष्य यशःसेन ने वि॰सं॰ 1639 में दशलक्षण यंत्र की प्रतिष्ठा की। कमलकीर्ति का अन्य शिष्य कुमारसेन था। उसका शिष्य हेमचन्द्र था जिसका शिष्य पद्मनंदि था। पद्मनंदि का शिष्य माणिकराज और यशःकीर्ति थे। भगवतीदास ने जहांगीर के राज्य में वि॰सं॰ 1680 में *मुक्तिशिरोमणि चूंदड़ी* लिखी और *अनेकार्थ नाममाला* वि॰सं॰ 1687 में शाहजहां के राज्य में। यशःकीर्ति का अन्य शिष्य क्षेमकीर्ति था। पंडित राजमल्ल ने 1641 ई॰ में *लाटी संहिता* शाह फामन के लिए लिखी, जब अकबर राज्य कर रहा था। बैराठ के निवासी क्षेमकीर्ति के अनुयायी थे। क्षेमकीर्ति का अनुयायी त्रिभुवनकीर्ति था। उसका पट्ट समारोह हिसार में आयोजित किया गया। इसके पश्चात् सहस्रकीर्ति वि॰सं॰ 1663 में उत्तराधिकारी हुआ। सहस्रकीर्ति का पट्ट शिष्य महिचन्द्र था। महिचन्द्र के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति ने वि॰सं॰ 1770 में फतेहपुर में मंदिर का पुनरुद्धार करवाया। देवेन्द्रकीर्ति का शिष्य जगतकीर्ति था।[260]

काष्ठा संघ

विद्वानों में काष्ठा संघ की उत्पत्ति के बारे में मतभेद हैं। एक विचार है[261] कि इसकी उत्पत्ति देहली के समीप काष्ठा ग्राम से हुई। बारहवीं सदी में यह टक्क वंश के

260. वही.

261. *भंडारकर सूची,* सं॰ 161, *एरि॰आ॰डि॰ग्या॰,* 1973, सं॰ 48.

राजाओं की राजधानी थी। *दर्शनसार* के लेखक देवसेन का काष्ठा संघ की उत्पत्ति का विभिन्न विचार है।[262] विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने नंदियाड़ (महाराष्ट्र में आधुनिक नांदेड़) में इस संघ की स्थापना की। काष्ठा संघ का सबसे प्राचीन अभिलेख[263] 1055 ई० का है जो दुबकुंड में स्तंभ पर महान् आचार्य देवसेन के स्मारक के रूप में अंकित है। चौदहवीं सदी के पश्चात् यह संघ चार शाखाओं में विभाजित हो गया – माथुरगच्छ, वागड़गच्छ, लाड़वागड़गच्छ और नंदितटगच्छ। सुरेन्द्रकीर्ति जो वि०सं० 1747 में रहता था और नन्दितटगच्छ का था, चार शाखाओं का उल्लेख करता है।[264]

काष्ठा संघ का अस्तित्व धार जिले में कुछ स्थानों पर था। वि०सं० 1328, वि०सं० 1408, वि०सं० 1470 और वि०सं० 1510 में यहाँ से प्राप्त मूर्ति अभिलेखों से यह स्पष्ट है। उत्तर प्रदेश के मैनपुरी में काष्ठा संघ के अनुयायियों के होने की जानकारी वि०सं० 1414, वि०सं० 1473 और वि०सं० 1515 मूर्ति अभिलेखों से होती है।

काष्ठा संघ का मालवा और पंजाब में अधिक प्रचार रहा, और अग्रवालों का सामान्यतः इससे अधिक संबंध रहा। बहुत संभव है राजस्थान में प्राप्त इस संघ की मूर्तियां और ग्रंथ या तो बाहर से लाये गये हैं या राजस्थान के अग्रवालों द्वारा प्रतिष्ठित किए गए हैं। राजस्थान में अब भी कुछ स्थान हैं जिनका संबंध इस स्थान से रहा। उदयपुर के समीप घुलेव के ऋषभदेव के मंदिर का जीर्णोद्धार और मरम्मत का कार्य इस संघ के अनुयायियों द्वारा किया गया। 1374 ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि जाह बीजा का पुत्र हरदान ने काष्ठा संघ के भट्टारक धर्मकीर्ति के उपदेशों से इस मंदिर का जीर्णोद्धार किया।[265] 1515 ई० के अभिलेख से बोध होता है कि काच्वलू गोत्र के कड़ियाप्रिया ने अपने पुत्र और पत्नी के साथ सभा भवन और चंवरी काष्ठा संघ के भट्टारक के समय बनवाए।[266] बघेरवाल जाति के संघी आल्हा के पुत्र भोज ने अपने परिवार के सदस्यों के साथ भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के समय नूतन निर्मित मंदिर की प्रतिष्ठा करवायी। इसी भट्टारक के प्रभाव से भूपता ने 1697 ई० में छोटी सी चंवरी बनवाई।[267] अभिलेखों और ग्रंथों की प्रशस्तियों से यह जान पड़ता है कि प्राचीन वागड़ प्रदेश जिसमें डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ सम्मिलित थे, इस संघ का मुख्यालय था।

---

262. *भट्टारक सम्प्रदाय,* पृ० 211.
263. *मालवांचल के जैन अभिलेख,* सं० 217, 209 और 198, 106.
264. कामता प्रसाद, *प्रतिमा लेख संग्रह,* सं० 60, 56 और 20.
265. *उदयपुर राज्य का इतिहास,* पृ० 41.
266. *प्रो.रि.आ.स.वे.सं.,* 1909-10, पृ० 52.
267. *मालवांचल के जैन लेख,* सं० 59.

वागड़ संघ

वागड़ संघ की उत्पत्ति वागड़ प्रदेश से हुई जिसमें राजस्थान के डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ जिले सम्मिलित थे। बयाना से प्राप्त 994 ई॰ की जैन मूर्ति के अभिलेख[268] से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण वागड़ संघ के सूरसेन के उपदेशों से तीन भाई सिंहक, यशोराज और नन्नैक द्वारा की गई। वागड़ संघ दशपुरान्वये संघ का वि॰सं॰ 1324 का अभिलेख उज्जैन में प्राप्त हुआ।[269] वि॰सं॰ 1325 की जैन मूर्ति का तालनपुर (धार जिला) से प्राप्त अभिलेख भी वागड़ संघ का है।[270]

लाटवागड़गण

लाटवागड़गण की उत्पत्ति गुजरात वागड़ क्षेत्र से हुई। आचार्य महासेन, जिसने परमार राजा मुंजु के राज्य में वि॰सं॰ 1050 में *प्रद्युम्न चरित* काव्य लिखा, लाट वागड़ संघ का था। दुबकुंड पाषाण अभिलेख[271] से ज्ञात होता है कि लाटवागड़गण के जैन साधु विजयकीर्ति के उपदेश से प्रोत्साहित होकर कुछ जैन श्रावकों ने जैन मंदिर बनवाया और दुबकुंड शाखा के कच्छप घाट के महाराजाधिराज ने 1088 ई॰ में भूमि व अन्य दान इस मंदिर को दिये। लाटवागड़गच्छ का उल्लेख तालनपुर से प्राप्त वि॰सं॰ 1325 की जैन मूर्ति पर है।[272] धार जिले के बदनावर के वि॰सं॰ 1251, धार के वि॰सं॰ 1288 और तालनपुर के वि॰सं॰ 1325 के जैन मूर्ति अभिलेखों में लाटवागड़गच्छ का उल्लेख है।[273]

नंदितटगच्छ

नंदितटगच्छ का नाम महाराष्ट्र के नंदितट ग्राम (आधुनिक नांदेड़) के नाम पर पड़ा। इस गच्छ के रामसेन ने नरसिंहपुर जाति की स्थापना की और नरसिंहपुर में शांतिनाथ का मंदिर बनवाया। उसके शिष्य नेमिसेन ने पद्मावती की पूजा की और भट्टपुरा जाति की स्थापना की।

रत्नकीर्ति के शिष्य लक्ष्मीसेन से नन्दितट के ऐतिहासिक युग की जानकारी होती है। लक्ष्मीसेन के दो शिष्य भीमसेन और धर्मसेन थे। इनसे आचार्यों की दो वंशावलियों की जानकारी होती है। भीमसेन का शिष्य सोमकीर्ति था। उसने वि॰सं॰ 1532 में वीरसेन के साथ शीतलनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठा की। उसने गोधिली में वि॰सं॰ 1536 में *यशोधर चरित*

268. *मालवांचल के जैन लेख*, सं॰ 170.
269. *एपि॰इंडि॰*, II, पृ॰ 232-40.
270. *म॰थ्रू॰ए॰*, पृ॰ 505.
271. *मालवांचल के जैन लेख*, सं॰ 7, 167, 215, 216.
272. *भट्टारक संप्रदाय*, पृ॰ 293-94.
273. *जै॰शि॰सं॰*, 5, सं॰ 98.

लिखी और वि॰सं॰ 1540 में मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उसने पावागढ़ में फिरोज़शाह के राज्य में पद्मावती की अनुकम्पा से आकाश में उड़कर चमत्कार दिखाया।

सोमकीर्ति के पश्चात् विजयसेन, यशःकीर्ति, उदयसेन, त्रिभुवनकीर्ति और रत्नभूषण एक के पश्चात् दूसरा भट्टारक हुए। रत्नभूषण के शिष्य कृष्णदास ने कल्पवल्लि में वि॰सं॰ 1674 में *विमलनाथ पुराण* की रचना की। रत्नभूषण के पश्चात् जयकीर्ति भट्टारक हुए। पार्श्वनाथ की मूर्ति वि॰सं॰ 1686 में स्थापित की गई। जयकीर्ति के पश्चात् केशवसेन भट्टारक हुए। केशवसेन का उत्तराधिकारी विश्वकीर्ति हुआ जिसने वि॰सं॰ 1700 में *हरिवंश पुराण* की एक प्रति लिखी।

नंदितटगच्छ के आचार्यों की दूसरी वंशावली लक्ष्मीसेन के शिष्य धर्मसेन से शुरू होती है। उसने *अतिशय जयमाल* लिखी। धर्मसेन के पश्चात् विमलसेन और विशालकीर्ति क्रमशः भट्टारक हुए। उसके शिष्य विश्वसेन ने वि॰सं॰ 1596 में मूर्ति प्रतिष्ठा की। विश्वसेन के शिष्य विद्याभूषण ने वि॰सं॰ 1604 में पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की और अन्य मूर्ति की वि॰सं॰ 1636 में। विद्याभूषण का उत्तराधिकारी श्रीभूषण हुआ जिसने श्वेताम्बरों को वि॰सं॰ 1634 में वाद-विवाद में हराया। उसने पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा वि॰सं॰ 1636 में की। *शांतिनाथ पुराण* की रचियता सोनिजित्र ने वि॰सं॰ 1659 में, पद्मावती की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। वि॰सं॰ 1660 में, रत्नजय यंत्र की वि॰सं॰ 1665 में और चन्द्रप्रभ मूर्ति की वि॰सं॰ 1676 में प्रतिष्ठा की। उसने वादिचन्द्र को वि॰सं॰ 1676 में वाद-विवाद में हराया।

श्रीभूषण का मुख्य शिष्य ब्रह्मसागर था जिसने अनेक ग्रंथ लिखे। श्रीभूषण के पश्चात् भट्टारक चन्द्रकीर्ति हुआ जिसने वि॰सं॰ 1654 में देवगिरि में *पार्श्वनाथ पुराण* की रचना की, वि॰सं॰ 1681 में पद्मावती प्रतिमा की स्थापना की और अन्य अनेक मूर्तियों की स्थापना की। चन्द्रकीर्ति, दक्षिण की यात्रा करते हुए कावेरी नदी के तट पर नरसिंहपट्टन में कृष्णभट्ट को हराया। चन्द्रकीर्ति का शिष्य भट्टारक राजकीर्ति हुआ जिसने वाराणसी में वाद-विवाद में सफलता प्राप्त की। राजकीर्ति का शिष्य लक्ष्मीसेन था जिसने पद्मावती की शक संवत् 1561 में मूर्ति स्थापित की। लक्ष्मीसेन के पश्चात् इन्द्रभूषण भट्टारक हुए। उसके कुछ शिष्यों ने वि॰सं॰ 1718 में गोमटेश्वर की यात्रा की।

इन्द्रभूषण के पश्चात् सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुआ। मूर्तियाँ और यंत्र प्रतिष्ठित किए गए और ग्रंथों की प्रतियाँ लिखी गईं। सुरेन्द्रकीर्ति के तीन शिष्य थे – लक्ष्मीसेन, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति। लक्ष्मीसेन के बाद विजयकीर्ति भट्टारक हुआ।[274]

---

274. *मालवांचल के जैन लेख*, पृ॰ 24, सं॰ 7.

पुन्नाट संघ

चूंकि इस संघ के आचार्य कर्नाटक क्षेत्र को चले गये, यह पुण्णाट संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मालवा बदनावर (वर्धमानपुर) जैन धर्म का केन्द्र हो गया। इस संघ के आचार्य जिनसेन ने शक संवत् 705 (782 ई॰) में *हरिवंश पुराण* लिखा। आचार्य हरिषेण ने *बृहत्कथा कोश* की रचना इस स्थान पर वि॰सं॰ 989 में रचना की। इस संध के आचार्य अमृतचन्द्र के शिष्य विजयकीर्ति ने वि॰सं॰ 1154 में मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[275] बदनावर के वि॰सं॰ 1227 के लेख में पुन्नाट संघ का उल्लेख है।[276]

मूल संघ

पट्टावलियों[277] में न केवल मूल संघ के भट्टारकों के नाम वरन् उनके स्थानों के बारे में विभिन्न अनुश्रुतियाँ हैं। चार पट्टावलियाँ मुख्य बातों में एक हैं। किन्तु पाँचवीं पट्टावली विभिन्न अनुश्रुतियाँ प्रस्तुत करती हैं। पाँचवीं पट्टावली का अंत शुभचन्द्र से होता है जिसका समय 1443 ई॰ है। इस प्रकार यह पट्टावली सबसे प्राचीन है, और इसके द्वारा दी गई जानकारी ठीक प्रतीत होती है। पट्टावलियों से ज्ञात होता है कि पहले 26 भट्टारक भद्दलपुर में हुए। चार पट्टावलियों के अनुसार भद्दलपुर मालवा में है जबकि पाँचवीं पट्टावली ठीक बतलाती है कि यह दक्षिण में था। इसके पश्चात् 27वें भट्टारक ने अपनी पीठ भद्दलपुर से उज्जैन बदल दी जैसाकि पट्टावलियों से ज्ञात होता है। 53वें भट्टारक माद्यचन्द्र द्वितीय ने उज्जैन से 1083 ई॰ में अपनी पीठ कोटा राज्य में बारां को बदल ली। वि॰सं॰ 63 व 64 तक भट्टारक बारां में हुए। चार पट्टावलियों के अनुसार 14 भट्टारक ग्वालियर में हुए किन्तु पाँचवीं पट्टावली ठीक बताती है कि दस भट्टारक चित्तौड़ में हुए और चार बघेरा में। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि कुमारपाल के समय चित्तौड़ की पहाड़ी पर दिगम्बर जैनियों की एक समृद्ध बस्ती थी।[278] अनेक बघेरवाल जैन धर्म में परिवर्तन किए गए, और बघेरा में ग्यारहवीं सदी में जैन मंदिर बनवाये गए।[279] 78वें भट्टारक वसंत कीर्ति से सब पट्टावलियों के अनुसार पीठ 1208 ई॰ में अजमेर बदल दी गई।

84वें भट्टारक पद्मन्दि से पीठ 1328 ई॰ में देहली लाई गई। चारों पट्टावलियों के अनुसार पाँचवीं पट्टावली ठीक बतलाती है कि यह प्राचीन वागड़ प्रदेश में ईडर लाई

275. *पीरि* 1883-84, *इंडि॰ऐंटी॰*, 21.
276. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰सं॰*, 1903-04, पृ॰ 46.
277. *एपि॰इंडि॰*, XXIV, पृ॰ 84.
278. *जै॰शि॰सं॰*, सं॰ 208.
279. *ज॰बो॰ब्रां॰रो॰ए॰जो॰सं॰*, XIIV जिल्द 17 पृ॰ 163 और पी॰रि॰ 1883-84.

गई। पद्मनंदि का वागड़ प्रदेश से विशेष संबंध रहा। अजमेर का श्रावक प्रभाचन्द्र द्वितीय मूर्तियों के अभिषेक के समारोह के लिए आमंत्रित किया गया किन्तु वह नहीं आ सका। बाद में आचार्य पद्मनंदि को सूरि मंत्र देकर श्रावक ने उसको भट्टारक की उपाधि दी। इस प्रकार पद्मनंदि 1328 ई० वागड़ के भट्टारक हो गए। भट्टारक नाम विशेष प्रकार के जैन संन्यासियों को लगाया जाता है जो मुनियों से भिन्न धार्मिक राजाओं का स्थान ग्रहण करते थे और धार्मिक मामलों में उन्हें सर्वोच्च अधिकार थे।

पद्मनंदि के पश्चात् उसके बाद के आचार्यों में भेद उत्पन्न हो गये। ये भेद वास्तव में विभाजन नहीं थे किन्तु वे स्वभाव पर आधारित प्रतीत होते थे। पद्मनंदि के सकलकीर्ति और शुभचन्द्र नाम के दो शिष्य थे। उसके जीवनकाल में ही उसके दो शिष्यों में अलगाव हो गया। शुभचन्द्र के अधीन एक शाखा चित्तौड़ चली गई जबकि अन्य शाखा वहाँ पर ही रही। 86वें भट्टारक जिनचन्द्र के अधीन फिर से उसके दो शिष्यों प्रभाचन्द्र और रत्नकीर्ति में मतभेद हो गए। प्रभाचन्द्र चित्तौड़ में ही रहते रहे किन्तु रत्नकीर्ति के अधीन शाखा नागोर चली गई। फिर से नागोर में मतभेद हो गए। एक शाखा नागोर में ही रहने लगी जबकि दूसरी रत्नकीर्ति के अधीन अजमेर चली गई। चन्द्रकीर्ति के समय यह चित्तौड़ से चाकसू आ गई। बाद में यह क्रमशः सांगानेर, आवाँ, आंबेर और अंत में जयपुर चली गई।

बलात्कारगण

मूल संघ समयोपरांत बलात्कारगण से संबंधित हो गया। बलात्कारगण (बलशालीगण) अपने पूर्वज अर्हद्बलिन से निकला जो माधनंदि का स्वामी गुप्तिगुप्त के नाम से भी जाना जाता है। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख ग्यारहवीं सदी के अभिलेख[280] में पाया जाता है किन्तु इसका अस्तित्व बहुत पहले से था। बाद में इस नाम के साथ सरस्वती लग गया। चौदहवीं सदी में यह नाम भट्टारक पदमनंदि के चमत्कार से संबंधित हो गया जिसने पाषाण मूर्ति को बुलवा दिया।[281]

बलात्कारगण की अनेक शाखाओं की जानकारी है। कारंजा शाखा अमरकीर्ति से शुरू हुई तथा लादूर शाखा अजितकीर्ति से। देहली-जयपुर शाखा शुभचन्द्र से शुरू हुई। नागोर शाखा रत्नकीर्ति से शुरू हुई, आटेर शाखा सिंहकीर्ति से, ईडर शाखा सकलकीर्ति से, भानपुरा शाखा ज्ञानकीर्ति से, सूरत शाखा देवेन्द्रकीर्ति से और जेरहट शाखा त्रिभुवनकीर्ति से।[282]

---

280. *भट्टारक संप्रदाय.*
281. *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ० 71.
282. *म०श्रू०ए०,* पृ० 505.

पद्मनंदि के पूर्व भट्टारकों की उत्तर भारत में क्रिया-कलापों की जानकारी अन्य साधन स्रोत से नहीं होती। इससे संदेह नहीं कि 1170 ई॰ और 1186[283] ई॰ के अभिलेखों में मूल संघ का उल्लेख है किन्तु भट्टारक का कोई संदर्भ नहीं है। मूल संघ का उल्लेख मालवा में बदनावर के वि॰सं॰ 1230 के अभिलेख में पाया जाता है। मूल संघ और इसके *आचार्य रत्नकीर्ति का उल्लेख वि॰सं॰ 1323 के अभिलेख[284] में पाया जाता है। पद्मनंदि* के बाद के मूल संघ के भट्टारकों के कार्य-कलापों की हमें कुछ जानकारी है। चौदहवीं से अट्ठारहवीं सदी तक उत्तर भारत में मूल संघ का प्रभुत्व रहा। मूल संघ के आचार्य राजस्थान,[285] मध्य प्रदेश[286] और उत्तर प्रदेश[287] में मूर्तियों और मंदिरों की प्रतिष्ठा करते हुए देखे जाते हैं। ग्रंथों की अनेक प्रतिलिपियाँ करवाई गईं, उनकी पादुकायें और निषेधिकाएँ पायी जाती हैं।

पद्मनंदि – पट्टावलियों के अनुसार पद्मनन्दि 1325 ई॰ में भट्टारक हुआ। यह तिथि ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि उसकी जानकारी 1415 ई॰ में भी मिलती है। पट्टावलियों से ज्ञात होता है उसकी आयु लंबी थी इसलिए वह 1325 ई॰ के कुछ समय पश्चात् भट्टारक हुआ। वह प्रभावशाली भट्टारक था, जिसने पाषाण की सरस्वती मूर्ति को बुलवा लिया बताया जाता है। इस चमत्कार से मूल संघ सरस्वतीगच्छ के नाम से भी प्रसिद्ध हो गया। उसने समय-समय पर मूर्ति प्रतिष्ठा समारोह भी किया। 1400 ई॰ में उसके उपदेश से मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।[288] उसके विशालकीर्ति और नेमिचन्द नाम के दो शिष्य थे जिन्होंने उसके समय में मूर्तियाँ स्थापित की। टोंक से प्राप्त 1413 ई॰ की मूर्ति अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि विल्हण और उसके पुत्रों ने उसके शिष्य विशालकीर्ति से अनेक मूतियों की प्रतिष्ठा करवाई।[289] 1415 ई॰ में उसके उपदेश से पार्श्वनाथ की मूर्ति विराजमान की।[290] इसी वर्ष में मूर्ति का अभिषेक समारोह आपा द्वारा उसके शिष्य नेमिचन्द्र से करवाया गया।[291]

सकलकीर्ति – पद्मनंदि के पश्चात् सकलकीर्ति वागड़ की पीठ का 1420 ई॰ में मुखिया

283. *जैनिज्म इन राजस्थान* .
284. *मालवांचल के जैन लेख.*
285. कामता प्रसाद जैन, *प्रतिभा लेख संग्रह.*
286. *ना॰जै॰इं॰,* सं॰, 1009.
287. *वीरवाणी,* 7.
288. *अ॰कां॰,* 13, पृ॰ 126.
289. वही.
290. *जै॰ग्र॰प्र॰सं॰,* पृ॰ 10 (भूमिका).
291. वही.

हुआ। मध्यकाल में वह एक उच्च सम्माननीय साधु था और उसकी विद्वता के लिए प्रतिष्ठा थी। वह जैन धर्म के प्रचार हेतु स्थान-स्थान पर गया। 1424 ई॰ में वह बड़ली आया जहां उसने अपने संघ के साथ चातुर्मास किया।[292] उसके द्वारा समय-समय पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। आबू के दिगम्बर जैन मंदिर में 1430 ई॰ के मूर्ति अभिलेख में उसका नाम है।[293] 1433 ई॰ के अभिलेख के अनुसार उसके उपदेशों के परिणामस्वरूप नीसत ने अपनी पत्नी, पुत्रों और भाइयों के साथ चौबीसी आदिनाथ मूलनायक के रूप में स्थापित की।[294] 1435 ई॰ में चंपा ने उसके उपदेशों को सुनकर शांतिनाथ की मूर्ति विराजमान की।[295] गुजरात में महासना नामक स्थान पर 1442 ई॰ में उसका देहान्त हो गया।

भुवनकीर्ति – सकलकीर्ति के पश्चात् भुवनकीर्ति भट्टारक हुए। वह अपने पूर्वज के समान विद्वान् था। अनेक मूर्तियों का उसके द्वारा अभिषेक समारोह किया गया। 1443 ई॰ में त्रिमूर्ति उसके द्वारा प्रतिष्ठित की गई। 1458 ई॰ में सारा के पुत्र नाहुया ने उसके उपदेशों के दशलक्षण यंत्र की प्रतिष्ठा की।[296] 1459 ई॰ में उसकी आम्नाय सूरी ने अभिषेक समारोह मनाया।[297] उसके उपदेशों के परिणामस्वरूप चापा और उसकी पत्नी गंगा ने किसी यंत्र की 1471 ई॰ में प्रतिष्ठा की।[298]

ज्ञानभूषण – भुवनकीर्ति के पश्चात् ज्ञानभूषण भट्टारक हुए। उसने 1377 ई॰ में यंत्र का अभिषेक समारोह किया। यह यंत्र उदयपुर के जैन मंदिर में है।[299] उसकी राय पर राम ने अपनी पत्नी और पुत्र के साथ 1487 ई॰ में महावीर की मूर्ति स्थापित की।[300]

इस पीठ के अन्य भट्टारक – ज्ञानभूषण के पश्चात् विजयकीर्ति 1500 ई॰ में भट्टारक हुए। उसके उपदेशों से श्रेष्ठी मेला ने अपनी पत्नी, पुत्र और भाइयों के साथ 1513 ई॰[301] में आदिनाथ के समवशरण की प्रतिष्ठा की। बाद में 1515 ई॰ में शुभचन्द्र भट्टारक हुए। वह प्रसिद्ध विद्वान् था जिसने 1515 ई॰ और 1556 ई॰ के मध्य अनेक ग्रंथ लिखे। उसका सबसे प्राचीन ग्रंथ *अध्यात्मतरंगिणी* और अंतिम ग्रंथ *स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा*

292. संवत् 1490.
293. *अ॰का॰*, 13, पृ॰ 126.
294. संवत् 1515 प्रणमति (चौधरी का मंदिर, जयपुर).
295. संवत् 1516.
296. संवत् 1524.
297. *ना॰जै॰इं॰*, 1120.
298. *अ॰का॰*.
299. संवत् 1570.
300. संवत् 1595.
301. संवत् 1607.

पर 1556 ई॰ में रचित संस्कृत टीका है। धन्ना और उसकी पत्नी धन्नोद ने उसके उपदेशों पर पार्श्वनाथ की धातु की मूर्ति 1538[302] ई॰ में स्थापित की। 1550 ई॰ में श्रेष्ठी सावर ने अपने भाइयों, पत्नी और पुत्र के साथ उसके उपदेशों से ज्ञान-निर्वाण पर्व मनाया।[303] उसके उपदेशों से श्रीपाल ने शांतिनाथ की मूर्ति 155 ई॰[304] में विराजमान की। उनके पश्चात् सुमतिकीर्ति भट्टारक हुए। उसके निर्देषों पर साहजयवंत ने अपनी पत्नी और भाइयों के साथ 1563 ई॰ में पद्मप्रभु की धातु की मूर्ति विराजमान की।[305] उसने मुनिसुव्रत[306] और अनन्तनाथ[307] की मूर्तियाँ क्रमशः 1562 और 1570 ई॰ में प्रतिष्ठित की। उसके पश्चात् गुणकीर्ति भट्टारक हुए। उसका उत्तराधिकारी विद्याभूषण हुआ। ईडर के आसा ने अपनी पत्नी लक्ष्मी और उसकी पुत्री झिला ने उसके कहने पर नेमिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[308] अलवर राज्य में मौजीपुर के श्वेताम्बर जैन मंदिर में शीलनाथ की मूर्ति के अभिलेख में उल्लेखित है कि उसके उपदेशों से हुबड़लाल और गला ने मूर्ति की स्थापना की।[309] उसके आदेशों पर हंस ने अपनी पत्नी और पुत्र के साथ 1604 ई॰ में "षोडशकारण यंत्र" की प्रतिष्ठा की।[310]

उसके पश्चात् रामकीर्ति भट्टारक हुए। उसका उत्तराधिकारी पदम्नन्दि द्वितीय था। उसके उपदेश से रत्ना द्वारा अभिषेक समारोह किया गया।[311] बाद में देवेन्द्रकीर्ति उसका पट्टधर हुआ। उसके पश्चात् क्षेमकीर्ति हुआ। उसके उपदेशों के प्रभाव से संघी डीगलदास, मानक, नेमिदास, अनंतदास, सोमदास और रत्ना ने 1639 ई॰ में शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित की।[312] सोम[313] ने समस्त संघ के साथ सागवाड़ा के आदिनाथ के जैन मंदिर का पारागार बनवाया। उसके पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति, विजयकीर्ति द्वितीय, नेमिचन्द,

---

302. *ना॰जै॰इं॰*, 520.
303. संवत् 1620.
304. *ना॰जै॰इं॰*, 1636.
305. वही, सं॰ 631.
306. *अ॰कां॰*, 13 पृ॰ 126.
307. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1919-20 सं॰ 1 और 6.
308. *जयपुर के पाटौदी के जैन मंदिर का लेख.*
309. *अ॰कां॰*, 13, पृ॰ 127.
310. वही.
311. सं॰ 1751.
312. *प्रो॰रि॰आ॰स॰वे॰स॰*, 1904-05, पृ॰ 57.
313. *प्र॰सं॰*, पृ॰177.

चन्द्रकीर्ति, रामकीर्ति यशकीर्ति, सुरेन्द्रकीर्ति, रामचन्द्रकीर्ति और कनककीर्ति एक के पश्चात् दूसरा ईडर की गद्दी के भट्टारक हुए।

चित्तौड़ की गद्दी के भट्टारक

पद्मनंदि के जीवनकाल में शुभचन्द्र सकलकीर्ति से अलग हो गया और अपना स्वयं का पट्ट चित्तौड़ में 1415 ई॰ में स्थापित कर लिया। इस समय कुंभकरण के राजकीय आश्रय में मेवाड़ जैन धर्म का केन्द्र हो गया। प्रसिद्ध जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माण हुआ। बिजोलिया के 1405 ई॰ और 1426 ई॰ के दो अभिलेख क्रमशः जैन साध्वी बाई आगमशिरि की निषेधिका और शुभचन्द्र के शिष्य हेमकीर्ति की निषेधिका के बारे में बतलाते हैं।[314] इन निषेधिकाओं के बारे में यह आकांक्षा व्यक्त की गई है कि जब तक सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे वे भी रहेंगे। जिस स्तंभ पर दूसरा अभिलेख है, उस पर कुछ साधुओं के चरण-चिह्न हैं। एक तरफ भट्टारक श्री पद्मनंदि का नाम अंकित है और दूसरी तरफ भट्टारक श्री शुभचन्द्र। जयपुर जिले में उजियारा के समीप आंवां में शुभचन्द्र की निषेधिका है।

शुभचन्द्र के पश्चात् 1450 ई॰ में जिनचन्द्र हुआ। उसकी प्रेरणा से जैन धर्म की सब प्रकार से उन्नति हुई। इसके समय अनेक ग्रंथ जैसे *श्रीपाल चरित्र,*[315] *प्रद्युम्न चरित्र*[316] और *वर्द्धमान चरित्र* की प्रतियाँ तैयार की गयीं और संभवतः उसके द्वारा इसके लिए प्रेरणा दी गई। बहुत से मंदिर बनाये गए और मूर्तियाँ विराजमान की गईं। उसकी आम्नाय के हरिराज द्वारा चौबीसी का 1460 ई॰ में अभिषेक किया गया।[317] 1466 ई॰ में साह धर्मसी ने अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ उसके समय में अभिषेक[318] समारोह कराया।[319] 1485 ई॰ में उसके द्वारा धातु की पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गई।[320] उसके उपदेशों से जीवराज पापड़ीवाल ने रावल शिवसिंह के राज्य में 1461 ई॰ में मुंडासा में अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा का आयोजन किया।[321] मुंडासा गुजरात में है जहाँ से विभिन्न स्थानों को इन मूर्तियों को भेजा गया। उसने लंबी आयु भोगी क्योंकि साह सेड़ ने अपनी पत्नी

314. वही, पृ॰ 138.
315. वही, पृ॰ 170.
316. संवत् 1517 (पाटोदी का जैन मंदिर जयपुर).
317. संवत् 1523 (सिरमोरिया का जैन मंदिर जयपुर).
318. संवत् 1532.
319. संवत् 1518.
320. संवत् 1571.
321. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 154.

और पुत्रों के साथ 1514 ई॰ में यंत्र प्रतिष्ठा की जबकि जिनचन्द्र विद्यमान था।[322] आवाँ में भी जिनचन्द्र की निषेधिका थी।

जिनचन्द्र के पश्चात् प्रभाचन्द्र 1515 ई॰ में भट्टारक हुआ। उसकी प्रेरणा से साधुओं को भेंट देने हेतु अनेक ग्रंथ लिखे गये। उसके अनुयायियों ने *मदन पराजय*[323] *क्रिया कलाप स्तुति,*[324] *श्रीपाल चरित्र,*[325] *करकण्ड चरित्र,*[326] *बाहुबलि चरित्र*[327] और *रत्नकरण्ड*[328] जैसे ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ क्रमशः 1519 ई॰, 1522 ई॰, 1524 ई॰, 1527 ई॰ और 1535 ई॰ में तैयार करवाईं। 1518 ई॰ में बाई पार्वती ने *यशोधर चरित्र* लिखवाया और उसे भेंट किया।[329] साह दोदु ने *यशोधर चरित्र* लिखवाया और भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्रह्म बीड़ा को भेंट किया।[330] उसके द्वारा 1515 ई॰ में मूर्तियाँ और यंत्रों की भी प्रतिष्ठा की गई। उसकी आम्नाय की साहटीला ने 1516 ई॰ में चारण यंत्र प्रतिष्ठा की।[331] इसी वर्ष राहों ने अपनी पत्नी, पुत्र और बहू के साथ उसके द्वारा सम्यक चारित्र यंत्र की प्रतिष्ठा करवायी।[332] उसकी निषेधिका भी आवाँ में है।

प्रभाचन्द्र के पश्चात् धर्मचन्द्र 1518 ई॰ में भट्टारक हुआ। उसकी प्रेरणा से ग्रंथों की अनेक प्रतियाँ विभिन्न स्थानों पर उसे व उसके शिष्यों को भेंट देने हेतु बनायी गईं। जैन धर्म के प्रचार हेतु वह नागोर गया जहाँ उसके अनुयायियों ने *उत्तरपुराण सटीक*[333] *प्रवचनसार प्राभृत वृत्ति,*[334] *कर्मप्रकृति,*[335] और *पार्श्वनाथ चरित्र*[336] की प्रतियाँ 1520 ई॰ में उसे प्रस्तुत करने के लिए लिखवाईं। 1526 ई॰ में *चन्द्रप्रभ चरित्र* की प्रति उसके उपदेशों

---

322. वही, पृ॰ 98.
323. वही, पृ॰ 117.
324. वही, पृ॰ 96.
325. वही, पृ॰ 147.
326. वही, पृ॰ 167.
327. वही, पृ॰ 163.
328. वही, पृ॰ 164.
329. संवत् 1573.
330. संवत् 1573.
331. *प्र॰सं॰,* पृ॰ 2.
332. वही, पृ॰ 236 और 37.
333. वही, पृ॰ 96.
334. वही, पृ॰ 131.
335. वही, पृ॰ 99.
336. वही, पृ॰ 174.

के परिणामस्वरूप चाकसू में करवाई।[337] 1528 ई० में कोड़मड़े ने *षट् पाहुड़* की प्रति उसे भेंट देने हेतु तैयार करवाई।[338] साहकील्हा *पाण्डव पुराण*[339] की प्रति 1545 ई० अपने शिष्य कमलकीर्ति को भेंट देने हेतु तैयार करवायी। साह महाराज ने 1554 में उसको प्रस्तुत करने के लिए *पार्श्वनाथ चरित्र* की प्रति लिखवाई।[340]

इसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथ जैसे *सुकुमाल चरित*[341] की 1526 ई० में, *भविष्य दत्त चरित*[342] की 1532 ई० में, *वर्द्धमान चरित*[343] की 1536 ई० में, *आदिपुराण*[344] और *षट्पाहुड़*[345] की 1537 ई० में, *वरांगचरित्र*[346] और *भविष्य दत्त चरित्र*[347] की 1538 ई० में और *चन्द्रप्रभ चरित्र*[348] की 1546 ई० में प्रतियाँ साधुओं को उपहार के रूप में भेंट करने को तैयार की गईं। उसके समय बहुत से यंत्रों की प्रतिष्ठाएँ की गईं। उसकी आम्नाय के तालु[349] और वालमित[350] ने सम्यग्दर्शन यंत्र और षोड़शकारणयंत्र का अभिषेक समारोह प्रतिष्ठा 1532 ई० में किया गया। 1536 ई० में साह पास और हेमा ने अर्हम् यंत्र की प्रतिष्ठा की।[351]

धर्मचन्द्र के पश्चात् ललितकीर्ति 1546 ई० में भट्टारक हुआ। उसके समय अनेक ग्रंथ लिखे गये। 1553 ई० में लोहर ने उसके लिये *यशोधर चरित्र* लिखवाई।[352] श्रावकों के निमंत्रण पर वह टोड़ारायसिंह गया जहाँ जाह तेहू और साह पूजा *नागकुमार चरित्र*[353]

---

337. वही, पृ० 127.
338. वही, पृ० 128.
339. वही, पृ० 200.
340. वही, पृ० 149.
341. वही, पृ० 170.
342. वही, पृ० 88.
343. वही, पृ० 175.
344. वही, पृ० 55.
345. वही, पृ० 148.
346. वही, पृ० 99.
347. वही, पृ० 100
348. संवत् 1590.
349. संवत् 1593.
350. *प्र०सं०*, 163.
351. वही, पृ० 177.
352. वही, पृ० 162.
353. वही, पृ० 94.

और *यशोधर चरित्र*[354] उसे उपहार रूप में भेंट देने हेतु तैयार करवायी। इसके अतिरिक्त *उपाराकाध्ययन*[355] की 1566, *श्रेणिक चरित्र*[356] की 1570 ई॰, *वर्द्धमान चरित्र*[357] की 1574 ई॰ में और *सुदर्शन चरित्र*[358] की 1575 ई॰ में कई प्रतियाँ श्रावकों द्वारा साधुओं को भेंट करने हेतु तैयार करवाईं।

ललितकीर्ति के पश्चात् चन्द्रकीर्ति 1575 ई॰ में भट्टारक हुआ। उसने चित्तौड़ से अपनी पीठ हटाकर चाकसू में स्थापित की जैसाकि 1604 ई॰ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह चाकसू में निवास कर रहा है।[359] इसका कारण[360] यह था कि मेवाड़ तब राजनैतिक दृष्टि से असुरक्षित हो गया था। इसके विपरीत चाकसू आमेर राजाओं के अधीन था जिनके मुगल सम्राटों के साथ मैत्रीय संबंध थे और वे जैन धर्म के आश्रयदाता थे। यह अकबर का समय था जो धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन करता था। यह स्वाभाविक था कि जैन धर्म की प्रवृत्तियों में उन्नति होवे। *जीवंधर चरित्र* और *पाण्डवपुराण* की[361] 1579 ई॰ में, *पंचास्तिकाय प्राभृत*[362] की 1580 ई॰ में, और *हरिवंश पुराण* की 1588 ई॰ में कई प्रतियाँ अनुयायियों द्वारा अपनी आम्नाय के साधुओं को भेंट हेतु तैयार की गईं।

इसके अतिरिक्त चन्द्रकीर्ति ने मूर्तियों, मंदिरों और यंत्रों की प्रतिष्ठा की। 1584 ई॰ में अपनी आम्नाय के साह मोका,[363] साह कालु,[364] साह चेला[365] और साहरत्ना अपने परिवार के सदस्यों के साथ अलग-अलग सम्यग्दर्शन यंत्र,[366] ऋंकार यंत्र,[367] करकुंड पार्श्वनाथ[368]

---

354. वही, पृ॰ 169.
355. वही, पृ॰ 17.
356. वही, पृ॰ 190.
357. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1927-28 सं॰ 11.
358. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 125.
359. वही, पृ॰ 132.
360. वही, पृ॰ 73.
361. वही, पृ॰ 1641.
362. सं॰ 1641.
363. सं॰ 1641.
364. सं॰ 1641.
365. सं॰ 1648.
366. सं॰ 1648.
367. सं॰ 1651.
368. संवत् 1651.

यंत्र और दशलक्षण यंत्र की प्रतिष्ठा की। 1591 ई० में थानसिंह ने पावापुरी की यात्रा की जहाँ उसने उसके उपदेशों से "षोडश कारण यंत्र" की प्रतिष्ठा मनाई। इसी वर्ष में उसकी आम्नाय के चोखा ने अपने परिवार के सदस्यों के साथ सम्यक् चारित्र यंत्र और सम्यग्ज्ञानयंत्र की प्रतिष्ठा की। 1603 ई० में साह जूता[369] और साह जूंगा ने धातु प्रतिमा और षोड़शकारण यंत्र[370] की अलग-अलग अभिषेक समारोह उसके द्वारा करवाया। अजमेर के बोहित ने अपने पुत्र और पौत्रों के साथ 1601 ई० में उसके द्वारा चौबीसी की स्थापना की।[371] 1604 ई० में दाकह आम्नाय के आसानाथ ने ऋंकार यंत्र की प्रतिष्ठा की।[372] 1604 ई० के अभिलेख में उल्लेखित है कि जब वह चम्पावती (चाकसू) में निवास कर रहा था, जैन मंदिर का स्तंभ स्थापित किया गया।[373]

चन्द्रकीर्ति के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति 1606 ई० में भट्टारक हुए। उसकी प्रेरणा से ग्रंथों की कुछ प्रतियाँ लिखी गईं। 1605 ई० में वह सांगानेर गया जहां कल्याण ने उसको उपहार में *हरिवंश पुराण*[374] की प्रति दी। नानु और उसकी पत्नी निकाडे ने टोड़ारायसिंह में आदिनाथ के मंदिर में *आदिनाथ पुराण* की प्रति लिखवाई, और 1607 ई० में भेंट की।[375] 1617 ई० में *नेमिनाथ पुराण* की प्रति तैयार करवाई[376]। जब वह 1620 ई० में चाकसू गया, साह देबू ने *सुदर्शन चरित्र* का ग्रंथ प्रस्तुत कर उसका स्वागत किया।[377]

देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति 1634 ई० में भट्टारक हुए। उसने मूर्तियों और यंत्रों की प्रतिष्ठा की। एक विशाल स्तंभ पर 1649 ई० के अंकित अभिलेख में उल्लेखित है कि भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने नेमिनाथ के मन्दिर में इसकी स्थापना की।[378] उसने समय-समय पर संघ के साथ गिरनार और हस्तिनापुर जैसे तीर्थों की यात्रा की। 1652 ई० में नेवटा के संघी तेजसी और उदयकरण गिरनार को संघ ले गये जहाँ नरेन्द्रकीर्ति द्वारा यंत्र प्रतिष्ठा की गई।[379] संघी संभू और संघी नाड़ा ने मिलकर उसके द्वारा 1653 ई० में

369. संवत् 1658.
370. संवत् 1661.
371. *ए०रि०रा०म्यू०अ०*, 1927-28, पृ० 11.
372. *प्र०सं०*, पृ० 76.
373. वही, पृ० 89.
374. वही, पृ० 28.
375. वही, पृ० 189-90.
376. *ए०रि०रा०म्यू०अ०*, 1927-28 सं० 12.
377. संवत् 1709.
378. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ० 48.
379. संवत् 1711.

दशलक्षण यंत्र का प्रतिष्ठा समारोह मनाया।[380] 1654 ई॰ में जगतसिंह चतुर्विध संघ के साथ हस्तिनापुर गया जहाँ उसने सम्यक् यंत्र की प्रतिष्ठा की।[381] 1659 ई॰ में जगतसिंह ने उसके द्वारा ऋंकार यंत्र की प्रतिष्ठा की।[382] इसी समय आमेर के उसके अनुयायी क्षेमसिंह ने हस्तिनापुर की यात्रा की जहाँ उसके द्वारा ऋंकार यंत्र की प्रतिष्ठा मनाई गई।[383]

सुरेन्द्रकीर्ति नरेन्द्रकीर्ति का पट्टधर 1665 ई॰ में हुआ। 1672 ई॰ में वह सम्मेद शिखर की तरफ रवाना हुए जहाँ उसके उपदेशों के परिणामस्वरूप उसके अनुयायी संघवी नरहरिदास और संघी पूर्वानन्द ने दशलक्षण यंत्र का प्रतिष्ठा समारोह मनाया।[384] 1675 ई॰ में नरहरिदास और आमेर के सुखानन्द और घासीराम ने अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ पार्श्वनाथ यंत्र का अभिषेक समारोह उसके द्वारा मनाया गया।[385]

सुरेन्द्रकीर्ति के पश्चात् जगतकीर्ति 1676 ई॰ में भट्टारक हुआ। यह भयंकर समय था, और औरंगज़ेब का धार्मिक अत्याचार सब ओर फैल गया था। प्राचीन मंदिरों को तोड़ा जा रहा था, और नये मंदिरों के निर्माण पर रोक लगा दी गई थी। इसके उपरांत भी जैन धर्म के प्रचार के क्रिया-कलाप चालू थे क्योंकि राजस्थान के कुछ राजाओं के औरंगज़ेब के साथ मित्रता के संबंध थे। *उपदेश रत्नमाला*[386] की 1688 ई॰ में, *पद्मपुराण*[387] की 1694 ई॰ में और *षटपाहुडसटीक*[388] की 1708 ई॰ में प्रतियाँ उनके अनुयायियों द्वारा जगतकीर्ति के शिष्य ब्रह्मचारीनाथुराम, आचार्य शुभचन्द्र और डोडराज को भेंट देने के लिए तैयार की गई। उसने मूर्तियों और यंत्रों का अभिषेक समारोह मनाया। 1684 ई॰ में, संघी सोनपाल ने उसके द्वारा करवर में यंत्र प्रतिष्ठा की[389]। अनेक मूर्तियों का अभिषेक समारोह 1689 ई॰ में चांदखेड़ी में उसके अनुयायी संघी कृष्णदास द्वारा किया

---

380. संवत् 1716.
381. संवत् 1716.
382. संवत् 1729.
383. संवत् 1732.
384. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 4.
385. वही, पृ॰ 29.
386. वही, पृ॰ 174.
387. संवत् 1741.
388. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 36.
389. संवत् 1766.

गया।[390] उसकी आम्नाय के दयालदास ने 1709 ई॰ में पार्श्वनाथ की धातु की मूर्ति की स्थापना की।[391]

जगतकीर्ति के पश्चात् अन्य भट्टारक देवकीर्ति द्वितीय हुआ। उसकी प्रेरणा से जैन ग्रंथ लिखे गये और मूर्तियों का अभिषेक किया गया। धनराज ने देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य पंडित किशनदास के अध्ययन के लिए आमेर में *कर्मकाण्ड सटीक* 1720 ई॰ में लिखा।[392] 1728 ई॰ में उसके अनुयायियों द्वारा प्रस्तुत करने हेतु *हरिवंश पुराण* की प्रति तैयार की गई।[393] छीहड़ और सगमल ने घोलेट में 1716 ई॰ में उसके द्वारा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई।[394] 1726 ई॰ में उसके अनुयायी हृदयराम द्वारा बंस-खोह में मूर्तियों के अभिषेक समारोह का आयोजन किया गया।[395]

देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय का उत्तराधिकारी महेन्द्रकीर्ति था जो 1735 ई॰ में भट्टारक हुआ। उसने सांगानेर से आकर आम्बेर में अपनी गद्दी स्थापित की। इस कारण आमेर का पट्ट उससे शुरू हुआ। इसकी पुष्टि एक प्रशस्ति[396] से भी होती है। *जम्बू स्वामी चरित्र* की 1736[397] ई॰ में और *त्रिलोक दर्पण* की 1741[398] में प्रतियाँ उसके अनुयायियों द्वारा तैयार की गईं।

महेन्द्रकीर्ति के पश्चात् क्षेमेन्द्रकीर्ति 1758 ई॰ में भट्टारक हुए। उसके पश्चात् सुरेन्द्रकीर्ति 1765 ई॰ में पट्टधर हुए। 1769 ई॰ में संघी नंदलाल ने उसके उपदेशों के परिणामस्वरूप सवाई माधोपुर में बड़ी संख्या में मूर्तियों की प्रतिष्ठा की।[399] वधुराम ने उसको उपहारस्वरूप भेंट देने हेतु *मुनिसुव्रत पुराण*[400] की प्रति तैयार करवाई। उसका उत्तराधिकारी सुरेन्द्रकीर्ति 1765 ई॰ में हुआ। उसके अनुयायियों ने 1816 ई॰ में *वरांगचरित्र*[401] की प्रति भेंट देने हेतु तैयार करवाई। उसने संधी रायचन्द द्वारा जूनागढ़ को ले जाये

390. *प्र॰सं॰*, 7.
391. वही, पृ॰ 77.
392. सं॰ 1773 चौधरी का मंदिर जयपुर.
393. सं॰ 1783.
394. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 48 और 56.
395. वही, पृ॰ 214.
396. वही, पृ॰ 219.
397. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 47.
398. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 48.
399. वही, पृ॰ 56.
400. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 47.
401. वही, पृ॰ 47.

गये संघ में भाग लिया जहाँ रामचन्द्र से उसके द्वारा यंत्र प्रतिष्ठा का आयोजन किया।[402] 1804 ई॰ में इसी व्यक्ति ने उसके उपदेशों से जयपुर में मूर्तियों की प्रतिष्ठा की।[403] उसके पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति द्वितीय, देवेन्द्रकीर्ति और महेन्द्रकीर्ति क्रमशः एक के पश्चात् दूसरा भट्टारक हुए।

नागोरपट्ट के भट्टारक

जिनचन्द्र के प्रभाचन्द्र और रत्नकीर्ति नाम के दो शिष्य थे। उनके जीवनकाल में ही मतभेद हो गये, और उसके दूसरे शिष्य रत्नकीर्ति ने नागोर में अलग से पीठ स्थापित कर ली। उसकी मृत्यु अजमेर में हुई जिसकी जानकारी भट्टारक रत्नकीर्ति की छत्री के 1515 ई॰ के अभिलेख से होती है।[404] उसके पश्चात् भुवनकीर्ति पट्टधर हुए। इसके पश्चात् धर्मकीर्ति 1533 ई॰ में भट्टारक हुए। 1542 ई॰ में *धर्म परीक्षा*[405] की प्रति उसके भक्त द्वारा तैयार की गई। उसके पश्चात् विशालकीर्ति 1544 ई॰ में भट्टारक हुए। उसके पश्चात् लक्ष्मीचन्द्र हुए। 1579 ई॰ में उसकी आम्नाय के लूणा ने साध्वी करमाई को भेंट करने हेतु *धन्यकुमार चरित्र*[406] की प्रति लिखवाई। बाद में सहस्त्रकीर्ति, नेमिचन्द्र और यशकीर्ति क्रमशः एक के पश्चात् दूसरा भट्टारक हुए।

यशकीर्ति महत्त्वपूर्ण भट्टारक था। उसकी प्रेरणा से ग्रंथ तैयार किये गए और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। रेवासा के आदिनाथ जैन मंदिर के 1604 ई॰ के अभिलेख में[407] उल्लेखित है कि भट्टारक यशकीर्ति के उपदेश से रायसाल के मुख्यमंत्री देवीदास के दो पुत्र साहजितमल और उसके भाई नथमल ने जैन मंदिर बनवाया। उसके अनुयायी रूपा और उसके पुत्र डूंगरसी जो जोबनेर के निवासी थे, गुणचन्द्र को 1609 ई॰ में भेंट करने हेतु *धर्म परीक्षा* की प्रति तैयार करवायी।[408] रेवासा के पंचों ने 1615 ई॰ में उसे सिंहासन भेंट किया।[409] उसके पश्चात् भानुकीर्ति और भूषणकीर्ति भट्टारक हुए। भूषणकीर्ति के धर्मचन्द्र और रत्नकीर्ति नाम के दो शिष्य थे। फिर से दोनों के मध्य मतभेद हुआ, और

---

402. संवत् 1572.
403. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 21.
404. वही, पृ॰ 108.
405. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1934-35.
406. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 30.
407. श्रीमद्भट्टारक श्री.
408. *अजमेर हिस्टोरिकल एंड डिस्क्रिपटिव*, पृ॰ 123.
409. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 48.

रत्नकीर्ति ने अपना अलग पट्ट अजमेर में स्थापित कर लिया। धर्मचन्द्र के पश्चात् नागोरपट्ट पर देवेन्द्रकीर्ति, अमरेन्द्रकीर्ति और रत्नकीर्ति क्रमशः एक-दूसरे के पश्चात् भट्टारक हुए।

अजमेरपट्ट के भट्टारक

अजमेर प्राचीन समय में भट्टारकों की गद्दी रही है, लेकिन अभिलेखीय और स्मारकीय प्रमाण नहीं है। श्री हरबिलास शारदा ने अपनी पुस्तक में[410] दिगम्बर जैन भट्टारकों और पंडितों की स्मृति में आठवीं व नवीं शताब्दी के अभिलेख में चबूतरों और छत्रियों के निर्माण का उल्लेख किया है, किन्तु वास्तव में ये अभिलेख अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के हैं।

रत्नकीर्ति स्वयं नागोरपट्ट से अलग हो गया और अपनी पीठ अजमेर में स्थापित कर ली। 1694 ई० में उसकी आम्नाय का संघी जैसा ने जोबनेर में उसके द्वारा अभिषेक समारोह का आयोजन किया।[411] उसके पश्चात् विद्याधर भट्टारक हुआ, और बाद में महेन्द्रकीर्ति। 1709 ई० में विजयकीर्ति ने भट्टारक रत्नकीर्ति का चबूतरा बनवाया। बाद में अनन्तकीर्ति भट्टारक हुआ। उसके उपदेशों से रामकीर्ति ने मारोठ में 1737 ई० में साह का मंदिर और मूर्तियों के अभिषेक समारोह का आयोजन किया।[412] बाद में भुवनभूषण पट्टधर हुआ, और इसके पश्चात् विजयकीर्ति। 1753 ई० में विजयकीर्ति ने अनंतकीर्ति और भुवनभूषण की छत्रियाँ बनवाई। आचार्य राज्यकीर्ति ने भट्टारक विद्यानंद की छत्री बनवाई। 1760 ई० में विजयकीर्ति ने चौमासा मारोठ में बिताया।[413] उसके पश्चात् त्रिलोकेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुआ। भट्टारक भुवनकीर्ति ने 1781 ई० में त्रिलोकेन्द्रकीर्ति की पादुका खड़ी की। 1795 ई० में धर्मदास ने बड़ी संख्या में मूर्ति प्रतिष्ठा भुवनकीर्ति द्वारा करवाई।[414] 1805 ई० में वह मारोठ गया जहाँ से कुचामन की ओर बढ़ा।[415]

1818 ई० में भुवनकीर्ति के शिष्य पन्नालाल ने यशकीर्ति के लिए रेवासा से लाये हुए सिंहासन की मरम्मत करवाई। भट्टारक रत्नभूषण ने 1835 ई० में भट्टारक भुवनकीर्ति की छत्री बनवाई। 1871 ई० के अभिलेख में भट्टारक पद्मनन्दि की भी छत्री है।

इसके अतिरिक्त अनेक आचार्यों और पंडितों के चबूतरे और छत्रियाँ अजमेर में पाई जाती हैं। विशालकीर्ति के 1725 ई० के चबूतरे का अभिलेख है। आचार्य भट्टारक श्री विजयकीर्ति ने आचार्य श्री भानुकीर्ति का 1744 ई० में अजमेर में चबूतरा और पदचिह्न

410. वही, पृ० 43.
411. संवत् 1814.
412. संवत् 1852.
413. महाराष्ट्र नगरे – – – –
414. *जै०सा०इ०*, पृ० 351.
415. वही.

बनवाये जबकि उसकी मृत्यु वास्तव में दाता, शेखावाटी में हुई थी। पंडित बसंत राम ने 1756 ई॰ में आचार्य रत्नभूषण का चबूतरा 1716 ई॰ में बनवाया। आचार्य देवेन्द्रकीर्ति का चबूतरा गणेशीमल द्वारा 1757 ई॰ में बनवाया गया। पंडित बसंतिराम ने तिलकभूषण का चबूतरा 1754 ई॰ में बनवाया।

पंडित तुलसीदास ने आचार्य राजकीर्ति के शिष्य पंडित हेमराज की छत्री बनाई। *1754 ई॰ में पंडित वकसराम की पादुका खड़ी की गई। 1760 ई॰ में पंडित दौलतराम* ने अपने गुरु रामचन्द्र की पादुका बनाई जो हेमराज का शिष्य था। 1761 ई॰ में पंडित सवाईराम ने पं॰ रूपचन्द्र, पं॰ मलुकचन्द्र, पं॰ अभयराम के चबूतरे बनवाये। पं॰ विरधीचन्द्र की पादुका 1798 ई॰ में खड़ी की गई। पं॰ पन्नालाल के चबूतरा का निर्माण 1844 ई॰ में हुआ। पं॰ पन्नालाल भट्टारक भुवनकीर्ति का शिष्य था जिसने अपने स्वामी के सिंहासन की मरम्मत 1818 ई॰ में की।

इससे यह स्पष्ट है कि भट्टारकों, आचार्यों और पंडितों का मध्यकालीन सामाजिक इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जबकि उस समय अराजकता थी। इस समय चारों ओर मुसलमानों के अन्याय और अत्याचार बढ़ रहे थे, और मराठे भारत के *विभिन्न हिस्सों की लूट कर रहे थे। लोगों की जानमाल असुरक्षित थी। इसके उपरांत भी* भट्टारक इस समय बिना किसी भय के एक स्थान से दूसरे स्थान जैन धर्म के प्रचार हेतु भ्रमण करते थे।

भट्टारकों ने मध्यकाल में जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। कुछ भट्टारक जैसे सकल-कीर्ति और शुभचन्द्र महान् विद्वान् थे जिन्होंने अपने साहित्यिक ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं में लिखे। इस समय ग्रंथों की सुरक्षा उनका महत्त्वपूर्ण कार्य था। व्याकरण, आयुर्वेद, गणित और अन्य ऐसे विषयों के ग्रंथों की प्रतियां तैयार की गईं। कला और स्थापत्य के क्षेत्र में भी उनका योगदान रहा। विभिन्न मूर्तियों की प्रतिष्ठा करना भी उनका मुख्य कार्य रहा। चूंकि मठ सांस्कृतिक केन्द्र रहे, उन्होंने संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य और अन्य शिल्पों और कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया। सामाजिक क्षेत्र में भी उनकी सेवायें उल्लेखनीय रही हैं। वे अनेक श्रावकों के साथ लंबी तीर्थयात्राओं का आयोजन करते थे। वे तीर्थ-क्षेत्रों की व्यवस्था का भी कभी-कभी ध्यान रखते थे। श्री महावीर जी की देखभाल जयपुर के भट्टारक करते थे। कुछ भट्टारकों को मंत्रों द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त थीं। आकाश में चलना, ज़हर उतारना और पाषाण की मूर्ति बुलवाना जैसे चमत्कार उन्हें आते थे। वे हिन्दू और मुसलमान राजाओं की राज्य सभाओं में जाते थे, और वर्ष में कुछ दिनों के लिए पशुओं के वध को रोककर अहिंसा के सिद्धांत को पालन करने की प्रेरणा देते थे।

राजस्थान में चैत्यवासी पंथ

चैत्यवासी पंथ का राजस्थान में बड़ी सफलता से प्रचार हुआ। जैन साधु आचार के अनुसार ग्राम में एक रात्रि से अधिक तथा नगर में पांच रात से अधिक नहीं ठहरता था। यह प्रथा जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों में पाई जाती है, और यह श्रमण संस्कृति की देन है। इसी समय साधुओं के आचार में शनैः-शनैः शिथिलता आ गई।

आचार्य धर्मसागर अपनी पट्टावली में लिखता है कि 355 ई॰ में यह चैत्सवासी प्रथा शुरू हुई।[416] किन्तु मुनि कल्याणविजय के अनुसार इसकी उत्पत्ति 355 ई॰ के पहले हो गई थी, और बाद में भली-भांति प्रचलित हो गई।[417] अभी श्वेताम्बरों में यति व श्री पूज्य और दिगम्बरों में भट्टारक मठवासी जाने जाते हैं। सब मिलकर ये चैत्यवासी जाने जाते हैं।

चैत्यवासी प्रथा का राजस्थान में विकास करीब आठवीं सदी में हुआ। राजस्थान के जैन आचार्य जैसे हरिभद्र सूरि[418] और जिन वल्लभ सूरि[419] ने लोगों का ध्यान साधुओं के आचार की कमियों की ओर आकर्षित किया है। वे मंदिरों में निवास करते थे और उनके धन का प्रयोग अपने लिए करते थे। वे रंग-बिरंगे व खुशबूदार वस्त्र पहनते थे। वे बाहर से लाए हुए खाना व मिठाई को खाते थे। वे धन को एकत्रित करते थे व स्वादिष्ट भोजन करते थे। वे शुद्धित जल, फल व फूल लेते थे। वे मूर्तियों को बेचते थे और अपना शिष्य बनाने हेतु बच्चों को खरीदते थे।

राजा वनराज चावड़ा (765-825 ई॰) के गुरु शीलगुण सूरि ने अणहिलवाड़ नगर में चैत्यवासी साधुओं को छोड़कर अन्य को ठहरने के मनाही के आदेश दिये। 957 ई॰ में इसका उल्लंघन करने हेतु जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि ने दुर्लभराज की राज्यसभा में चैत्यवासियों को वाद-विवाद में हराया और पाटन में विधिमार्ग के प्रवेश की अनुमति प्राप्त की।

चैत्यवासी जैन साधुओं की परम्पराओं से बहुत कुछ विचलित हो गये थे जिसकी जानकारी उनके द्वारा की गई अनेक जैन मंदिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा से होती है। यह श्रावक का कार्य था साधु का नहीं किन्तु चैत्यवासियों को इन क्रियाओं से हटने में कोई नुकसान नहीं दिखता था। उनका कहना था कि जो श्रावकों के लिए पुण्य था वह साधुओं के लिए भी था। कुछ अभिलेख राजस्थान में चैत्यवासी प्रथा के बारे में जानकारी

416. *संबोध प्रकरण* 27, 34, 46, 49, 61, 63, 68 आदि.

417. संघ पट्टक 7, 11, 12, 15, 21 आदि.

418. *अ॰प्रा॰जै॰ले॰सं॰*, सं॰ 119.

419. वही, सं॰ 113.

देते हैं। 1354 ई॰ में जीरापल्लिगच्छ के रामचन्द्र सूरि ने अपने पुण्य हेतु सिरोही राज्य में देवकुलिका बनवाई।[420] हेमतिलक सूरि ने अपने आचार्य के पुण्य के लिए 1389 ई॰ में सिरोही राज्य के वर्मान में रंगमंडप बनवाया।[421] 1397 ई॰ में पिप्पलाचार्यगच्छ के वाचक सोमप्रभ सूरि ने अजारी में सुमतिनाथ की मूर्ति बनवाई जिसका अभिषेक वीरप्रभ सूरि ने किया।[422] वीरप्रभ सूरि ने 1418 ई॰ में वीरवाड़ा ग्राम में मंडप बनवाया।[423] काच्छोलीवालागच्छ के विजयप्रभसूरि ने गुण्सागर सूरि के पुण्य के लिए सिरोही में अजितनाथ मंदिर में देवकुलिका बनवाई।[424] भद्रेश्वर सूरि ने तिलक सूरि के पुण्य के लिए जीरापल्ली में आदिनाथ की देवकुलिका बनवाई।[425] काच्छोली:वालगच्छ के उदयवर्धन ने सिरोही में देवकुलिका बनवाई।[426] नाणकगच्छ के पार्श्वदेव सूरि ने अपने शिष्य वीरचन्द के साथ बेलार ग्राम में लगिका बनवाई।[427] प्रतिमाकधार, प्रतिष्ठागच्छ के नन्न सूरि ने बसंतगढ़ के भवन में आदिदेव की मूर्ति की स्थापना की।[428]

दिगम्बर जैन साहित्य में समय का स्पष्ट और निश्चित उल्लेख नहीं है कि कब चैत्यवासी प्रथा की शुरूआत हुई किन्तु इसका अस्तित्व दक्षिण में आठवीं सदी में था। इसकी जानकारी अभिलेखों से होती है। राजस्थान में भट्टारकों के अधिकार में ग्राम और बगीचे थे। वे मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाते थे, धर्मशाला बनाते थे तथा अन्य साधुओं को आहार देते थे। ऐसा प्रतीत होता है पूर्व भट्टारक चैत्यवासी होने पर भी वे नग्न रहते थे, और संभवतः श्वेताम्बर साधुओं से अपनी भिन्नता बताने के लिए यह करना आवश्यक था। अभी भी भट्टारकों में आहार लेते समय वस्त्र उतारने की प्रथा है किन्तु अन्य समय वस्त्र पहने हुए रहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे पहले नग्न रहा करते थे और वस्त्र पहनने की प्रथा बाद में शुरू हुई। सोलहवीं सदी में भट्टारक श्रुतसागर लिखता है कि कलिकाल में मुस्लिम यतियों को नग्न देखकर शरारत करते थे और उनके साथ अभद्र व्यवहार करते थे, इसलिए मंडपदुर्ग में बसंतकीर्ति ने आदेश दिये कि चर्या के समय साधुओं को

420. वही, सं॰ 432.
421. वही, सं॰ 278.
422. वही, सं॰ 246-48.
423. वही, सं॰ 116.
424. वही, सं॰ 249.
425. वही, सं॰ 337.
426. वही, सं॰ 115.
427. *जै॰सा॰इं॰*, पृ॰ 363.
428. *इंडि॰ऐंटी॰*, VV, पृ॰ 347.

अपने शरीर को टाट और अन्य वस्तुओं से ढक लेना चाहिए।[429] मूल संघ की पट्टावली में चित्तौड़ के भट्टारकों के नाम दिये हुए हैं।[430] उनमें एक का नाम बसंतकीर्ति था जिसका समय 1207 ई॰ था। उस समय मुसलमानों का बड़ा भय भी था। तेरहवीं सदी के पश्चात् दिगम्बर साधु बाहर जाते समय अपने शरीर को ढकने हेतु टाट और अन्य वस्तुओं का प्रयोग करते थे।

धार्मिक क्षेत्र में भट्टारक धार्मिक अध्यक्ष हुआ करते थे जिनके अधीन अनेक आचार्य और पंडित थे। वे सुख भोगते थे, और श्रावकों से विभिन्न प्रकार से धन ग्रहण करते थे। उन्हें प्रशासकीय अधिकार भी थे, और धार्मिक कार्यों की सुचारु व्यवस्था हेतु विभिन्न स्थानों पर आचार्य और पंडित नियुक्त करते थे।

मूर्तिपूजक और मूर्तिविरोधी मत

मुस्लिम आक्रमणों का जैन धर्म पर प्रभाव दो प्रकार से देखा जाता है। इसने मूर्ति तोड़ने वालों के विरुद्ध विभिन्न जैन मतों को आत्मरक्षा के लिए एक कर दिया। इसके साथ ही इसने मूर्ति-पूजा से भी दूर कर दिया। इसलिए इसने स्वाभाविक रूप से श्वेताम्बरों और दिगम्बरों को दो भागों में विभाजित कर दिया – मूर्तिपूजक और मूर्तिविरोधी। मूर्तिविरोधी हमें हिन्दू परम्परा के वेदांत और कबीर और नानक की निर्गुण भक्ति आंदोलन की याद दिलाता है। मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से कुछ जैन सम्प्रदायों ने मूर्ति-पूजा का कड़ा विरोध शुरू कर दिया। राजस्थान में निम्न मूर्ति-पूजा के विरोधी सम्प्रदाय है।

लोका सम्प्रदाय

अहमदाबाद में लोका यति ज्ञानजी के उपासरे में ग्रंथों की नकल करके अपनी आजीविका उपार्जित करता था। ग्रंथों को लिखते समय उसे इस बात पर आश्चर्य हुआ कि उनमें मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। इसने यह ज्ञानजी और अन्य को बतलाया, और मूर्ति-पूजा के बारे में उनमें विवाद उठ खड़ा हुआ। अंत में उसने अपने नाम का लोका सम्प्रदाय स्थापित किया। उसने मूर्ति प्रतिष्ठा समारोह की मनाही कर दी, और कर्मकांडों जैसे पौषद्य, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और दान में भी अविश्वास व्यक्त किया। उसने उन कर्मकांडों को पसंद नहीं किया जिनमें थोड़ी सी भी हिंसा होती थी। इस समय मुसलमान मंदिर और मूर्तियों को नष्ट कर रहे थे। इसमें उसको अपने पंथ के प्रचार करने का अवसर मिल गया। साधुओं में भी प्रमाद पाया जाने लगा चूंकि उसके अधिकार में न केवल ग्रंथ और वस्त्र थे किन्तु धन भी था। उनमें आपसी झगड़े होते थे। इस प्रकार के व्यवहार

429. *अध्यात्म पर्व पत्रिका,* वर्ष-6 जून-जुलाई 1969, 6-7, पृ॰ 11.

430. भट्टारक सम्प्रदाय.

से लोगों ने उनकी आलोचना करनी शुरू कर दी। उसने एक से दूसरे स्थान जाकर अपने धर्म प्रचार के लिए परिस्थितियों का लाभ उठाया।

लोका ने अपने पंथ के आधार के लिए 31 सूत्र बतलाये हैं और जो सूत्र मूर्ति-पूजा के पक्ष में हैं, उसने उनका नया अर्थ दिया है। उसने आवश्यक सूत्र में ऐसे उग्र परिवर्तन किये कि उन्होंने एक नया रूप धारण कर लिया। 1476 ई॰ में वह सिरोही के समीप अराघाट पाटक निवासी भाणा नाम व्यक्ति से मिला जिसने बिना किसी आचार्य के दीक्षित किये संन्यास लिया। साधु ने झूठा नाम धारण किया। 1511 ई॰ में उसे रूपकजी नाम का शिष्य प्राप्त हुआ, और वरसिंह और अन्य भी क्रमशः 1521 और 1530 ई॰ में उसके शिष्य हो गए। इस प्रकार लोकाशाह स्वयं दीक्षित नहीं हुआ किन्तु अन्य दीक्षित हुए और साधु हो गए।

स्थानकवासी सम्प्रदाय

लोका सम्प्रदाय के अनुयायियों ने साधुओं की क्रियाओं को पसन्द नहीं किया, और उन्होंने बतलाया कि जैसा महावीर चाहते थे, साधु उससे कम अनुशासन का पालन करते हैं। सूरत के लोका श्रावक वीरजी ने साधु के रूप में दीक्षा ली और कड़े अनुशासन के कारण प्रशंसा प्राप्त की। लोका सम्प्रदाय के बहुत से लोग इस सुधारक के साथ हो गये। वे स्थानकवासी कहलाये। जबकि उनके शत्रु उनको ढूंढिया के नाम से पुकारने लगे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी राजस्थान के सब बड़े नगरों में पाए जाते हैं।

तेरापंथी सम्प्रदाय

तेरापंथी सम्प्रदाय का संस्थापक भीकमजी था। जैन ग्रंथों का विवेक से अध्ययन कर उसको पता चला कि जैन साधु शास्त्रों के आदेशों के अनुसार जीवन-यापन नहीं कर रहे हैं, और जैन धर्म के सच्चे सिद्धांतों का प्रचार नहीं करते। साधु श्रावकों के स्थानों में भी रहने लगे। कुछ साधु और श्रावक, दोनों कुल मिलाकर तेरह, एक दुकान में रह रहे थे। इस घटना ने सेवग वर्ग के कवि को इसको बदनाम करते हुए कविता लिखने को बाध्य कर दिया। तेरापंथी नाम तेरह लोगों के पंथ से बना है। भीकमजी ने इसका सही अर्थ दिया – पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियां।

तेरापंथी मूर्ति-पूजा नहीं करते। उनका विचार है कि मूर्ति-पूजा से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। वे उन महान् आत्माओं को मन में ध्यान करते हैं और पूजते हैं जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। वे उन जीवात्माओं को पूजते हैं और सम्मान करते हैं जिन्होंने संसार को पूर्ण त्याग दिया और पांच महाव्रतों का पालन कर संन्यासी जीवन बिताते हैं। इस सम्प्रदाय के अधिकतर अनुयायी बीकानेर और जोधपुर राज्यों में पाये जाते थे।

श्वेताम्बरों के समान दिगम्बरों में भी मूर्तिपूजक और मूर्तिविरोधी सम्प्रदाय थे। समयोपरांत मूर्तिपूजक अन्य छोटे सम्प्रदायों में विभाजित हो गए।

तारण स्वामी पन्द्रहवीं सदी के क्रांतिकारी आध्यात्मिक संत थे जिन्होंने भट्टारकों के कर्मकाण्डों के विरुद्ध आवाज उठाई। वह कुंदकुंद के ग्रंथों से बहुत प्रभावित था। वह मूर्ति-पूजा का विरोधी था। उसने 14 ग्रंथ लिखे जिनमें *माला रोहण जी, पंडित पूजाजी* और *कमल बत्रिसीजी* महत्त्वपूर्ण हैं।[431]

तेरापंथियों के मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की स्थापना सांगानेर के निवासी अमरचन्द बड़जात्या ने की थी। यह सत्रहवीं सदी में राजस्थान में तेजी से लोकप्रिय हो गया। शुरू में यह विधिमार्ग माना जाता था किन्तु उसके विरोधियों ने इसे बदनाम करने के लिए तेरापंथी नाम रखा। तेरापंथियों ने भट्टारकों के कर्मकाण्ड का विरोध किया। आगरा के महान् विद्वान् और सुधारक बनारसीदास के समय इस सम्प्रदाय को बड़ी लोकप्रियता मिली। कुछ के अनुसार यह चरित्र निर्माण हेतु आत्मानुशासन के लिए तेरह बातों पर जोर देता है। अन्य का मानना है कि यह नाम विरोधियों द्वारा बदनाम करने के लिए दिया गया है। जैसे भट्टारक दिगम्बर तेरह पंथियों को नहीं चाहते वैसे ही श्री पूज्य श्वेताम्बर तेरह पंथियों को नहीं चाहते। बख्तराम *बुद्धि विलास* में उल्लेख करता है कि यह सम्प्रदाय मूल धर्म से तेरह बातों में भिन्न है, और इस कारण यह तेरापंथी कहा जाता है। तेरापंथी भट्टारकों की उच्च सत्ता को नहीं मानते। श्वेताम्बरों के तेरापंथी और दिगम्बरों के तेरापंथी एक-दूसरे से भिन्न हैं। श्वेताम्बर तेरापंथी मूर्तियों की पूजा नहीं करते किन्तु दिगम्बर तेरापंथी मूर्तियों की पूजा करते हैं। किन्तु वे फल, फूल, चंदन और प्रक्षाला के साथ नहीं। उनके अनुसार इस तरह की पूजा से हिंसा होती है और इसलिए यह जैन धर्म के मूल सिद्धांतों के विपरीत है।

गुमानपंथी सम्प्रदाय

गुमानपंथी चौदहवीं सदी में अधिक फैला, और इसका नाम जयपुर के पं॰ टोडरमल के पुत्र गुमानीराम के नाम से पड़ा। यह शुद्धाम्नाय के नाम से जाना जाता था क्योंकि ये अनुयायियों के आचार की शुद्धता पर अधिक जोर दिया। अनुशासन रखने के लिए निश्चित नियम थे। राजस्थान में यह सम्प्रदाय जयपुर, मारोठ, भादवा, आदि स्थानों में फैला।

बीसपंथी सम्प्रदाय

बीसपंथी भट्टारकों के अनुयायी थे। उन्होंने इस नाम को धारण किया क्योंकि वे अपने को तेरापंथियों से उच्च समझते थे। यह सम्प्रदाय मूर्ति-पूजा की अनुमति देता है और भट्टारकों

की पूजा और पद्धति को चाहता है। इस सम्प्रदाय में मूर्तियों की जल, दीपक, फूल और चन्दन से पूजा होती है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जयपुर, अजमेर, नागोर और मारोठ में पाये जाते हैं।

तोतापंथी सम्प्रदाय

समयोपरांत बीसपंथी और तेरापंथी के मध्य समझौता कराने का प्रयत्न किया गया। तोतापंथी नाम का नया पंथ अस्तित्व में आया। इस पंथ में कुछ बीसपंथी और कुछ तेरापंथी हैं। इस प्रकार यह साढ़े सोलहपंथी सम्प्रदाय जाना जाता है। इसका प्रचार नागोर तक सीमित रहा।

दिगम्बर जैनियों के मूर्तिपूजक संप्रदाय एक-दूसरे से इतने भिन्न नहीं थे। अमरचन्द्र बड़जात्या और गुमानीराम नाम के उनके संस्थापक अपने-अपने सम्प्रदायों का अलग से अस्तित्व रखना चाहते थे। इस कारण नाममात्र की भिन्नताओं पर भी जोर दिया गया।

10

सामाजिक विभाजन

जैन धर्म में सामाजिक विभाजन का सम्बन्ध समाज से है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मध्यकाल में जैन साधुओं ने अनेक लोगों को जैन धर्म में परिवर्तित किया। उनके सामाजिक समूह बनाये गए, तथा विभिन्न प्रकार से उनके नाम रखे गये। उनके हुम्बड़ और धर्कट नामों से यह ज्ञात होता है कि उनकी उत्पत्ति जनपद लोगों से हुई है। कुछ स्थानीय रूप में हैं। कुछ ने कुलनाम और उपाधियां जातियों का रूप धारण कर लिया। कुछ जातियों की उत्पत्ति उद्योग-धंधों से हुई। आरम्भ में जैन सामाजिक संगठन व्यवस्था का आधार विभिन्न प्रकार के कर्म थे। बाद में ब्राह्मण धर्म और मुस्लिम शासन के प्रभाव से जन्म इन जातियों की उत्पत्ति का आधार माना जाने लगा। अधिकतर जातियों की उत्पत्ति उत्तर भारत में राजस्थान में हुई। बाद में वे शनैः-शनैः विभिन्न क्षेत्रों में चले गए। ये जैन जातियां धार्मिक साम्प्रदायिकता के आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर जातियों में विभाजित हो गईं। श्वेताम्बर जातियों में ओसवाल, पोरवाल और श्रीमाली प्रसिद्ध हैं, जबकि दिगम्बरों में बघेरवाल और खण्डेलवाल हैं। चूंकि ये लोग राजस्थान के बाहर के क्षेत्रों में चले गये और वहां बस गये यह उनकी साहसिक प्रवृत्ति व्यक्त करती है। कुछ जातियां समान नाम की जैसे अग्रवाल, श्रीमाली, पोरवाल और खण्डेलवाल जैनियों और जैनेतर लोगों में पाई जाती हैं। दक्षिण भारत में जैनियों में जातियां उद्योग-धंधों से निर्धारित की जाती हैं। ये जातियां धीरे-धीरे अनेक गोत्रों में विभाजित हो गईं। गोत्रों को ध्यान में रखकर लोगों के विवाह सम्बन्ध किये जाते थे।

राजस्थान की जैन जातियां और गोत्र

उत्तर भारत की अधिकतर जैन जातियां और उनके गोत्रों की उत्पत्ति राजस्थान में हुई। इनकी उत्पत्ति का समय और तरीका रहस्यमय बना हुआ है। इनकी उत्पत्ति के अनेक पौराणिक विवरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ये बहुत ही प्राचीन हैं। किन्तु वास्तव में सातवीं सदी के पहले इन जातियों और गोत्रों के नाम नहीं मिलते। ऐतिहासिक दृष्टि से ये जातियां और उनके गोत्र आठवीं और तेरहवीं सदी के मध्य अस्तित्व में आये।

यह युग राजस्थान में जैन धर्म के लिए स्वर्ण युग माना जाता है। इस समय हेमचन्द्र और जिनचन्द्र जैसे महान् संत उत्पन्न हुए जिन्होंने राजपूतों, ब्राह्मणों और वैश्यों को जैन धर्मावलम्बी बनाया। जैन राजनीतिज्ञ जैसे विमल और वस्तुपाल ने अपनी योग्य सेवाओं से जैन धर्म के प्रचार करने का प्रयत्न किया। जैन वणिकों ने अतुल धन जैन धर्म के प्रचार हेतु मन्दिरों के निर्माण और मूर्तियों के विराजमान हेतु व्यय किया। इस प्रकार अनेक लोगों ने जैन धर्म को स्वीकार किया और उन्होंने विभिन्न जातियां बना लीं।

ओसवाल

ओसवाल राजस्थान के सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में पाये जाते हैं। इनका शासकीय और व्यापारिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी उत्पत्ति मारवाड़ के ओसिया नामक स्थान में हुई है। श्रीमाल के राज्य वंश के सदस्य उप्पलदेव इस नगर में आया। शत्रु द्वारा पीछा करने पर उसने प्रतीहार वंश के राजा के यहां शरण ली जो मारवाड़ में सबसे अधिक शक्तिशाली था। इस समय जैन साधु रत्नप्रभ सूरि इस स्थान पर आया और उप्पलदेव के एकमात्र पुत्र को सर्प से डसा हुआ पाया। राजा के कहने पर रत्नप्रभ सूरि ने उसका डंक निकाल दिया। इस पर राजा ने अपनी जनता के साथ जैन धर्म स्वीकार कर लिया, और रत्नप्रभ सूरि ने इन लोगों की ओसवाल जाति बनाई। इस घटना के समय के बारे में तीन विचार हैं।

1. *नामिनन्दनोद्धार प्रबन्ध* और *उपकेशगच्छ चरित्र* के अनुसार पार्श्वनाथ की आम्नाय के सातवें पट्टधर रत्नप्रभ सूरि ने ओसवंश की स्थापना वीर निर्वाण संवत् 70 (457 ई॰पू॰) में की।

2 भाटों की राय में अठारह गोत्रों के साथ ओसवाल जाति की स्थापना रत्नप्रभ सूरि ने मारवाड़ के उपकेशनगर में वि॰सं॰ 222 (165 ई॰) में की।

3. दोनों विचार ठीक प्रतीत नहीं लगते क्योंकि आठवीं सदी के पहले इस जाति का उल्लेख और चिह्न नहीं मिलता। इसका अस्तित्व बाद में हुआ। राजा उप्पलदेव और उसकी जनता को जैन धर्म में परिवर्तन रत्नप्रभ सूरि ने किया और उसने उनकी ओसवाल जाति की स्थापना की।

ओसवालों के गोत्र

जैन धर्मावलम्बी होने पर ओसवाल बढ़ते गये और अनुश्रुतियों के अनुसार उन्होंने अठारह गोत्र बनाये। यह बढ़ोतरी होती गई क्योंकि इन्होंने लड़ना बन्द कर दिया। युद्ध बन्द होने के कारण अधिक जनहानि भी नहीं होती थी। ऐसा विश्वास है कि ओसवालों के 1444 गोत्र हैं, लेकिन ये मुख्य गोत्र नहीं थे। ये तो केवल शाखायें और उपशाखायें ज्ञात होती हैं।

यति श्रीपाल एक ग्रंथ का संदर्भ देता है जो 609 गोत्रों का उल्लेख करता है।[1] अठारहवीं सदी के कवि रूपचन्द ने अपने ओसवाल राज में 440 गोत्रों का उल्लेख किया है।[2] कुछ स्थानीय हैं, कुछ व्यक्तिगत और औद्योगिक हैं।

स्थानीय गोत्र

कुछ गोत्रों का नाम स्थानों की उत्पत्ति से था। जिनदत्त सूरि ने जैसलमेर में भणमाल में रावल सागर के दो राजकुमार श्रीधर और राजधर को वासक्षेप दिया। राजकुमार उनके उत्तराधिकारी और उनके सम्बन्धी भणसाली कहे जाने लगे। इस प्रकार भणसाली गोत्र की स्थापना हुई।[3] 1542 ई० में इस गोत्र के साह वीदक ने जिनभद्र सूरि द्वारा चन्द्रप्रभ का अभिषेक जैसलमेर में किया। इस प्रकार गोत्र 1500 ई० के बाद शुरू नहीं हुआ। काछोली गोत्र सिरोही राज्य के काच्छोल ग्राम से तेरहवीं सदी के आरम्भ से बना। 1286 ई० में इस गोत्र के अजयसिंह ने माता-पिता के लिए पुण्य प्राप्त करने हेतु काच्छोली में पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की।[4] कोरंट गोत्र की उत्पत्ति मारवाड़ के कोरंट ग्राम से हुई। 1450 ई० में इस गोत्र के साहबीजल ने स्वयं के पुण्य प्राप्ति हेतु सुमतिनाथ की मूर्ति का अभिषेक कक्कसूरि द्वारा करवाया।[5] पुगल के कुछ ओसवाल अन्य स्थान पर बस गये और वे पुगल के नाम से कहे जाने लगे। मेड़तवाल गोत्र जोधपुर राज्य के मेड़तानगर के नाम से अस्तित्व में आया। इस गोत्र के सोलहवीं सदी के अभिलेख मेड़ता और उदयपुर में मिलते हैं।[6] ओसवाल जो कन्नौज से आए, वे कन्नौज गोत्र समूह के अंतर्गत रखे गये। 1502 ई० में इस गोत्र के सारवेढ़ ने अपने पिता के पुण्य हेतु देवगुप्त सूरि द्वारा शीतलनाथ बिम्ब का अभिषेक किया।[7] कांकरिया गोत्र की उत्पत्ति भीमसी से हुई जो कांकरावट ग्राम में रहता था।[8] वह उदयपुर के महाराणा का सामंत था और खरतरगच्छ के जिनवल्लभ सूरि द्वारा उनका जैन धर्म में परिवर्तन हुआ। इस गोत्र का उल्लेख अलवर से प्राप्त 1442 ई० के अभिलेख में है।[9] यह स्पष्ट है कि ये गोत्र तेरहवीं और पन्द्रहवीं सदी के मध्य शुरू हुए थे।

---

1. *जैन संप्रदाय शिक्षा*, पृ० 656.
2. *जैन भारती*, 11, 11.
3. *ना०जै०इं०*, III पृ० 28.
4. वही, सं० 2328.
5. *अ०प्रा०जै०ले०सं०*, सं० 611.
6. *ना०जै०इं०*, सं० 2325.
7. वही, सं० 1131 और 1295.
8. वही, सं० 1101.
9. *हि०ओ०*, पृ० 353.

औद्योगिक गोत्र

कुछ गोत्रों की उत्पत्ति जैनियों के उद्योगों से हुई। राठौड़ राव चूंडा ने अपना खजाना ठाकरसी को दे दिया। इसलिए ठाकरसी के उत्तराधिकारी कोठारी पुकारे जाने लगे।[10] 1456 ई॰ के अभिलेख से स्पष्ट है कि इस गोत्र के मेघ ने पादपूज्य बिम्ब की नागेन्द्रगच्छ के विनयप्रभ सूरि द्वारा प्रतिष्ठा करवाई।[11] वे लोग जो खजांची का काम करते थे, खजांची कहे जाने लगे। भंडारी डडरओं को अपना पूर्वज मानते हैं।[12] 992 ई॰ में उसने संडेरकगच्छ के यशोभद्र सूरि से जैन धर्म स्वीकार किया। अधिकारी के रूप में डडराओं भंडारी के नाम से जाना गया जिसके अधिकार में भंडार होता था। परिणामस्वरूप उसके उत्तराधिकारी भंडारी कहे जाने लगे। इस गोत्र का सबसे प्राचीन अभिलेख 1132 ई॰ का नाड़लाई का भंडारी नागशिव को किसी अनुदान का गवाह के रूप में उल्लेख करता है।[13] 1184 ई॰ का अन्य अभिलेख भंडारी यशोवीर को पल्लु (जोधपुर के 10 कि॰मी॰ पश्चिम) का स्वामी उल्लेख करता है।[14] जालौर के 1185 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि महाराजा सामंत सिंह के आदेश से पासु के पुत्र भंडारी ने जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया।[15] जिस व्यक्ति के उत्तराधिकारी घी का व्यापार करते थे, वे घीया कहलाये। 1569 ई॰ में इस गोत्र के नरवाड़ ने तपागच्छ के हीरविजय द्वारा संभवनाथ की मूर्ति स्थापित की।[16] ऐसा कहा जाता है कि वैद्य गोत्र के लोगों के पूर्वज ने उदयपुर के महाराणा की रानी के नेत्र ठीक कर दिए। इसलिए उसे वैद्य की उपाधि दी, और उसके उत्तराधिकारी वेद गोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।[17] 1455 ई॰ में इस गोत्र के भाडाक ने उपकेशगच्छ के कुकड़ाचार्य द्वारा विमलनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[18] महाजन गोत्र संभवतः महाजन के धंधे से बनी। 1457 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि इस गोत्र के नाल्हा ने कक्कसूरि द्वारा शान्तिनाथ मूर्ति का अभिषेक किया।[19] ओसवालों में चंडालिया और बम्बी गोत्र पाये जाते हैं। इनका व्यापार ऐसे लोगों के साथ होने के कारण ये इन

---

10. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 988.
11. *ना॰जै॰इं॰*, 2084, *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 625.
12. *सम डिस्टिंग्विश्ड जैन्स*, पृ॰ 26.
13. वही, पृ॰ 37.
14. वही.
15. वही.
16. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 5372.
17. *हि॰ओ॰*, पृ॰ 166.
18. *ना॰जै॰इं॰*, 1, सं॰ 2334.
19. वही, सं॰ 2577.

नामों से पुकारे जाने लगे। 1745 ई॰ में चंडालिया गोत्र के रत्नपाल ने मलधारीगच्छ के पुण्य निधान सूरि द्वारा अपने पिता के पुण्य हेतु सुविधिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की।[20]

व्यक्तिगत नामों पर गोत्र

कुछ गोत्रों के नाम प्रसिद्ध लोगों के नाम पर रखे गये। आदित्यनाथ गोत्र की उत्पत्ति प्रसिद्ध व्यक्ति आदित्यनाथ से हुई जो उदार दान और सामाजिक कल्याण के लिए प्रसिद्ध और सचेत था।[21] चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी इस गोत्र के मूर्ति अभिलेख जोधपुर, नागोर, बालोतरा, आदि[22] स्थानों पर पाये जाते हैं। पंचार राजपूत लालसिंह को 1110 ई॰ में सम्बोधित करके जिनवल्लभ सूरि ने लालाणी गोत्र की स्थापना की।[23] लालसिंह के सात पुत्र थे। बड़ा पुत्र बहुत शक्तिशाली (बंठ) था। उससे बंठिया गोत्र की उत्पत्ति हुई। 1444 ई॰ में लालाणी गोत्र के जयवड़ ने आंचलगच्छ के जयकेशरी सूरि द्वारा धर्मनाथ की मूर्ति की स्थापना की।[24] 1479 ई॰ में बंठिया गोत्र के साह हामा ने जिनचन्द्र सूरि द्वारा जिन वरेन्द्र पट्टिका की प्रतिष्ठा की।[25] कहा जाता है कि गदा साह के वंशज गदहिया कहा जाने लगे।[26] 1411 ई॰ में इस गोत्र के साह आनावे ने अपनी पत्नी भीमनी के पुण्य के लिए शान्तिनाथ मूर्ति का अभिषेक समारोह उपकेशगच्छ के देवगुप्त सूरि द्वारा करवाया।[27] लूणिया गोत्र का नाम लूणसिंह के नाम पर रखा गया जिसने जिनदत्त सूरि से जैन धर्म ग्रहण किया। 1456 ई॰ में इस गोत्र के गेशक ने पार्श्वनाथ मूर्ति का अभिषेक खरतरगच्छ के जिनभद्र सूरि द्वारा कराया।[28] 1148 ई॰ में पूर्णतलगच्छ के हेमचन्द्र सूरि ने पंवार राजपूत जगदेव को सम्बोधित कर उसका जैन धर्म में परिवर्तन किया।[29] जगदेव के सूर और सांवला नाम के दो पुत्र थे। सूर के वंशज सुराणा कहे जाने लगे, और सांवला के सांखला।[30] 1444 ई॰ में सुराणा गोत्र के सोनपाल ने सुमतिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा

---

20. *ना॰जै॰इं॰*, 2, सं॰ 1285.
21. *भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास*, पृ॰ 1109.
22. *ना॰जै॰इं॰*, 1 और 2.
23. *जैन संप्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 626.
24. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 2317.
25. वही, सं॰ 2404.
26. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 628 गद्दाशाह प्रसिद्ध भैसाशाह का भाई था।
27. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1062.
28. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 635-37.
29. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 2186.
30. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 637.

धर्मघोष गच्छ के विजयचन्द्र द्वारा करवाई।[31] 1438 ई॰ में सांखला गोत्र के लाखाक ने सुमतिनाथ बिम्ब का अभिषेक समारोह धर्मघोषगच्छ के विजयचन्द सूरि से करवाया।[32] दो भाई दूगड़ और सूगड़ ने जिनचन्द्र सूरि से जैन धर्म को स्वीकार किया।[33] दूगड़ के वंशज दूगड़ कहलाये और सूगड़ के सूगड़। 1460 ई॰ में इस गोत्र के नागराज ने श्रेयांसनाथ की मूर्ति का अभिषेक समारोह रुद्रपल्लीगच्छ के सोमसुन्दर द्वारा करवाया।[34] देलवाड़ा के सागर नाम के राजा के पुत्र बोहिथ से बोथरा गोत्र का नाम पड़ा।[35] 1477 ई॰ में बोथरा गोत्र के आथाहा ने श्रेयांसनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा खरतरगच्छ के जिनचन्द्र सूरि द्वारा की।[36] दूधेरा व्यक्ति से दूधेरिया गोत्र प्रसिद्ध हुआ।[37] जिनकुशल सूरि के उपदेश से चौहान राजपूत डूंगर सिंह ने जैन धर्म स्वीकार किया। इस नाम से उसके वंशज डागा कहलाये।[38]

कुलों का गोत्रों में परिवर्तन

कुछ कुल भी समयोपरांत गोत्रों में परिवर्तित हो गये। प्राचीन कश्यप कुल समयोपरांत कश्यप गोत्र में परिवर्तित हो गया। 1458 ई॰ के अभिलेख से यह स्पष्ट है कि इस गोत्र के चुडा ने संडेरकगच्छ के ईश्वर सूरि से नेमिनाथ प्रतिमा का अभिषेक समारोह करवाया।[39] तेरहवीं सदी में कर्णसिंह के पुत्र श्रवण ने यशोभद्र सूरि से जैन धर्म अपनाया।[40] उसके वंशजों ने भी जैन धर्म का पालन किया, और सिसौदिया गोत्र के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

कर्मों के आधार पर गोत्र

कुछ गोत्र निश्चित कर्मों के आधार पर भी बने हैं। बरड़िया गोत्र की उत्पत्ति ग्यारहवीं सदी में नागव्यन्तर से हुई जिसने नारायण को वर दिया।[41] बरड़िया वरदिया का अपभ्रंश है।

---

31. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1079.
32. वही, सं॰ 1877.
33. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 638.
34. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1267.
35. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 639, 640 और 641.
36. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1317.
37. *हि॰ओ॰*, पृ॰ 312.
38. वही, पृ॰ 542.
39. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1991.
40. *हि॰ओ॰*, पृ॰ 393.
41. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ॰ 622.

1527 ई० में इस गोत्र के साहटोडर ने शान्तिनाथ की मूर्ति का अभिषेक किया।[42] पासु जवाहरात की परख में कुशल था। उसके वंशज इसलिए पारख व परीक्षा कहलाए।[43] 1461 ई० में इस गोत्र के सुरपति ने सुविधिनाथ के बिम्ब का अभिषेक समारोह खरतरगच्छ के जिनचन्द्र द्वारा करवाया।[44] 1120 ई० में जोबन और सच्चु को सम्बोधित कर जिनदत्त सूरि ने बाहुफणा गोत्र की स्थापना की।[45] उसके वंशज युद्ध-स्थल से हटते नहीं थे, इसलिए वे नाहटा कहलाये। यह भी सम्भव है कि बाहुफणा गोत्र प्रसिद्ध व्यक्ति बघनाग से जानने लगे।[46] 1329 ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस गोत्र के मोखट ने अपने माता-पिता के पुण्य हेतु कल्लसूरि द्वारा सुमतिनाथ की मूर्ति की स्थापना की।[47] 1439 ई० में नाहटा गोत्र के माजण ने विमलनाथ मन्दिर की देवकुलिका मंजन सागर सूरि द्वारा करहड़ में बनवाई।[48] मांडलगढ़ के सुल्तान ने झांझण सिंह के गुणों से प्रभावित होकर उसे राज्य सभा में कटार रखने की अनुमति दे दी। उसके वंशज इसलिए कटारिया गोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।[49] भुवन सुन्दर के उपदेशों के प्रभाव से कटारिया गोत्र के संघवी तुकदे, पासदे, पुनसी और मूला ने 1426 ई० में जीरापल्ली मन्दिर में देवकुलिका बनवाई।[50] लोग जो तीर्थ-यात्रा को निकले उन्हें संघवी की उपाधि दी गई। काकू नाम के व्यक्ति को नगरसेठ की उपाधि दी गई। उसके वंशज इसलिए सेठिया कहे जाने लगे।[51] 1095 ई० में जिनवल्लभ सूरि मंडोर आये जिस पर नानुड़े पड़िहार नाम के राजा का शासन था। उसके पुत्र का नाम कुकड़देव था जो कुष्ठ रोग से पीड़ित था। राजा ने उनसे उपचार की प्रार्थना की। उसने राजा को किसी गाय का घी लाने की प्रार्थना की और उसे राजकुमार के शरीर पर रगड़वाया। तीन दिन के उपचार के पश्चात् वह बिल्कुल ठीक हो गया। राजा ने अपने परिवार सहित जैन धर्म स्वीकार कर लिया और सूरि जी ने कुकड़ा चोपड़ा गोत्र की स्थापना की।[52] गणधर नाम के मंडिहार राजा के मंत्री

42. *ना०जै०इं०*, सं० 1192.
43. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ० 628.
44. *ना०जै०इं०*, सं० 2189.
45. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ० 631.
46. *भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास*, पृ० 1109.
47. *ना०जै०इं०*, सं० 2253.
48. वही, सं० 1957.
49. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ० 634.
50. *अ०प्रा०जै०ले०*, सं० 113.
51. *जैन सम्प्रदाय शिक्षा*, पृ० 634.
52. *हि०ओ०*, पृ० 427.

ने जैन धर्म को अपना लिया और सूरिजी ने गणधर चोपड़ा गोत्र की स्थापना की। 1479 ई॰ के अभिलेख में कुकड़ा चोपड़ा का उल्लेख है।[53] 1436 ई॰ के अभिलेख में उल्लेख है कि गणधर चोपड़ा गोत्र के पासड़ ने जिनभद्र सूरि द्वारा सुपार्श्वनाथ की मूर्ति की स्थापना की।[54] जिनदत्त सूरि के उपदेश से खरतरसिंह राठौड़ ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया। उसके ज्येष्ठ पुत्र अंबदेव ने चोरों का सामना किया (चोर से भिड़िया)। यह नाम समयोपरांत चोरड़िया हो गया।[55]

मूर्तियों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कुछ गोत्रों का सम्बन्ध विशेष गच्छों से है। इन गोत्रों के लोगों ने क्रमशः इन गच्छों के आचार्यों से मूर्तियों का अभिषेक समारोह मनवाया। आदित्यनाग गोत्र के लोगों ने विभिन्न मूर्तियों का अभिषेक मनाया किन्तु सबका उपकेशगच्छ के आचार्यों द्वारा। गणधर चोपड़ा गोत्र, डागा गोत्र, दोसी गोत्र और लूणिया गोत्र के लोगों ने खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। धांधा गोत्र और चंडालिया गोत्र के लोगों ने मलगच्छ के आचार्यों द्वारा मूर्तियों की स्थापना की। छाजहड़ गोत्र का विशेष सम्बन्ध पल्लिवाल गच्छ से है क्योंकि इससे लोगों ने प्रायः इस गच्छ के आचार्यों से प्रतिष्ठा करवायी। सिसौदिया गोत्र के लोग संडरेक गच्छ के आचार्यों द्वारा मूर्तियां प्रतिष्ठित करते हुए देखे जाते हैं। दूगड़ गोत्र और मिथडिया गोत्र के लोगों ने क्रमशः बृहद्गच्छ और आंचलगच्छ के आचार्यों से मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। यह विशेषकर सांखवालेचा गोत्र में देखा जाता है। इन्होंने कोरंटकगच्छ और खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। यह भी देखा जाता है कि यद्यपि एक विशेष गोत्र के लोगों ने एक से अधिक गच्छों के आचार्यों द्वारा मूर्तियों की स्थापना कराई।

श्रीमाली

जैनियों मे श्रीमालियों की उत्पत्ति मारवाड़ के भीनमाल से हुई। समयोपरांत इनकी संख्या बढ़ गई और वे विशेषकर जोधपुर, उदयपुर और सिरोही में फैल गये। समाज पर उनका उच्च प्रभाव था। उनकी उत्पत्ति आठवीं सदी से मिलती है। 1308 ई॰ के *कालकाचार्य कथा* की प्रशस्ति[56] में एक श्लोक है जिससे ज्ञात होता है कि श्रीमाल जाति के श्रावक दीड़ा ने शांति सूरि के धार्मिक उपदेशों को सुनकर 647 ई॰ में नवहर में आदिनाथ का चैत्य बनवाया। श्रीमाल जाति की सबसे प्राचीन वंशावली के अनुसार जैन साधु ने श्रीमाल

53. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 2136.
54. वही, सं॰ 2114.
55. *हि॰ओ॰*, पृ॰ 509.
56. *जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह*, सं॰ 35.

जाति के भारद्वाज गोत्र के वणिक तोड़ा को 738 ई॰ में सम्बोधित किया।[57] इन दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जैन धर्म श्रीमाल में आठवीं सदी में प्रचलित और लोकप्रिय था। श्रीमाल के विजयंत नाम के राजा ने उदयप्रभ सूरि से जैन धर्म अपनाया। उसके साथ ब्राह्मण धर्म के अनुयायी 62 सेठों ने जैन धर्म को स्वीकार किया।[58] सब श्रीमाली कहे जाने लगे। कवि उदयरत्न रचित *पंचपटरास* से उपकेशगच्छ के द्विकंदनिक शाखा के आचार्यों से सम्बन्धित इतिहास से यह जाना जाता है कि शक संवत् 700 में रत्नप्रभ सूरि इस नगर में आये जहां उसने श्रीमाल जाति की स्थापना की।[59] इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि श्रीमाल जैनी सातवीं-आठवीं सदी में अस्तित्व में आये।

समयोपरांत श्रीमाली दो भागों में विभाजित हो गये – लघु शाखा और बृहद् शाखा। 1488 ई॰ के अभिलेख से पता चलता है कि श्रीमाल जाति के लघु शाखा के सहसकरण ने अपनी माता के पुण्य हेतु आंचलगच्छ के सिद्धांतसागर द्वारा आदिनाथ मूर्ति का अभिषेक कराया।[60] श्रीमाल जाति के बृहद् शाखा का 1644 ई॰ का अभिलेख है।[61] इसके अतिरिक्त श्रीमालों के अनेक गोत्रों का पता हमें अभिलेखों से चलता है। ये उद्योगों, स्थानों के नाम और अन्य पर आधारित हैं।

श्रीमालियों के गोत्र

श्रीमालियों के गोत्रों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से हुई। अंबिका गोत्र की उत्पत्ति अंबिकादेवी से हुई प्रतीत होती है। 1477 ई॰ में इस गोत्र के श्रेष्ठि चान्द्रसव ने अपने पूर्वजों के पुण्य के लिए लक्ष्मीसागर सूरि के द्वारा शान्तिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[62] ऐलहर गोत्र का उल्लेख 1442 ई॰ के अभिलेख में हुआ है।[63] गोवलिया गोत्र[64] और थेवरिया गोत्र[65] के अभिलेख भी हैं। 1452 ई॰ के अभिलेख में उल्लेखित है कि गांधिक गोत्र के जीवड़ ने धर्मनाथ की मूर्ति की स्थापना की।[66] 1476 ई॰ के शान्तिनाथ मूर्ति का अभिषेक गौतम गोत्र

57. *जैन साहित्य संशोधक एंव जैनाचार्य आत्माराम शताब्दी स्मारक ग्रंथ,* गुजरात विभाग, पृ॰ 204.
58. *श्रीमान् गोत्र संग्रह,* पृ॰ 13-23.
59. *प्राग्वाट इतिहास* – भूमिका पृ॰ 12.
60. *ना॰जै॰इं॰,* सं॰ 1166.
61. वही, 295.
62. वही, सं॰ 1163.
63. वही, सं॰ 1676.
64. वही, सं॰ 412.
65. वही, सं॰ 413.
66. वही, सं॰ 2329.

के पासड़ से किया गया।[67] यहां पर यह गोत्र किसी गौतम नाम के मुनि के कुल से उत्पन्न हुआ और स्थापित किया गया। चंडालेचा गोत्र[68] और डोडा गोत्र अभिलेखों में पाये जाते हैं।[69] दोसी गोत्र[70] नलुरिया गोत्र, जुनिवाल गोत्र, झुंगटिया गोत्र, नावर गोत्र,[71] भाड़िया गोत्र,[72] मोठिया गोत्र,[73] मांथलपुरा गोत्र,[74] वहगता गोत्र,[75] श्रेष्ठी गोत्र,[76] सौघड़ गोत्र,[77] फोफलिय गोत्र,[78] मांडवंत गोत्र,[79] मूसल गोत्र[80] और सिद्ध गोत्र[81] पन्द्रहवीं सदी के अभिलेखों में पाये जाते हैं। घीनागोत्र,[82] पाटाणी गोत्र और मुहबणा गोत्र[83] सोलहवीं सदी के अभिलेखों में पाये जाते हैं।[84]

पोरवाल

ऐसा माना जाता है कि पोरवालों की उत्पत्ति श्रीमालियों के साथ-साथ श्रीमाल में आठवीं सदी में हुई। श्रीमाल के पूर्वी द्वार के लोग जिन्होंने जैन साधुओं से आठवीं सदी में जैन धर्म अपनाया, पोरवाल कहलाये।[85] पोरवालों की श्रीमाल से उत्पत्ति ठीक प्रतीत नहीं होती है। प्राचीन अभिलेखों और ग्रंथों में प्राग्वाट का प्रयोग पोरवाल के लिए हुआ है।[86] प्राग्वाट

---

67. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 2464.
68. वही, सं॰ 830.
69. वही, सं॰ 38.
70. वही, सं॰ 391.
71. वही, सं॰ 1993.
72. वही, सं॰ 1974.
73. वही, सं॰ 1956.
74. वही, सं॰ 1967.
75. वही, सं॰ 1932.
76. वही, सं॰ 2085.
77. वही, सं॰ 1224 और 1227.
78. वही, सं॰ 737 और 823.
79. वही, सं॰ 577.
80. वही, सं॰ 2333.
81. वही, सं॰ 2292.
82. वही, सं॰ 2429.
83. वही, सं॰ 750.
84. वही, सं॰ 2370.
85. *श्री जैन गोत्र संग्रह*, पृ॰ 13-23.
86. *ओझा निबंध संग्रह*, पृ॰ 25.

मेवाड़ (मेदपाट) का अन्य नाम है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्राग्वाट प्रदेश के लोग समयोपरांत प्राग्वाट व पोरवाल कहलाये। पोरवाल अपनी उत्पत्ति मेवाड़ के पुर ग्राम से बतलाते हैं। श्रीमालियों के समान पोरवाल भी बृहद् शाखा और लघु शाखा में विभाजित किये जाते हैं। लघु शाखा पोरवाल जाति का 1653 ई॰ का अभिलेख है।[87] प्राग्वाट जाति के बृहद् शाखा के मंत्री वीसक ने सुमतिनाथ की मूर्ति 1534 ई॰ में स्थापित की।[88]

अभिलेखों और ग्रंथों से पोरवाल जाति के गोत्र[89] निम्न हैं[90] – झूलर, मुंठलिया, लीम्बा, मंडलिया, कुनगिरा, पटेल, नर्वट, लोलानिय, पोसआ, कोठारी, भंडारी, अम्बाई, कोड़की और नाग। 1546 ई॰ में प्राग्वाट जाति के कोठारी गोत्र के भाई तेजवाल, राजपाल, रतनखी और रामदास ने सिरोही राज्य में पिंडवाड़ा गांव में महावीर का मंदिर बनवाया।[91] भंडारी गोत्र के शान्ति ने 1447 ई॰ में मुनिसुव्रतनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा 1447 ई॰ में करवाई। 1571 ई॰ में अंबाई गोत्र के व्यवहारी खीमा ने धर्मनाथ की मूर्ति स्थापित की।[92] 1586 ई॰ में कोड़की गोत्र के मूल ने तपागच्छ के विजयसेन सूरि द्वारा आदिनाथ मूर्ति का अभिषेक समारोह मनाया।[93]

पल्लीवाल जाति

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में पल्लीवालों का नाम मारवाड़ के पाली से पड़ा है जिसका प्राचीन समय में नाम पल्लिका था। ऐसा कहा जाता है कि इस स्थान के लोग रत्नप्रभ सूरि द्वारा आठवीं सदी में जैन बनाये गये जिसने ओसिया और श्रीमाल के लोगों को परिवर्तित किया था। पल्लिकाओं ने समय-समय पर मूर्तियों का अभिषेक समारोह किया।[94] 1253 ई॰ में इस जाति के देदा ने मल्लिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा चन्द्रगच्छ के यशोभद्र द्वारा करवाई।[95] इस जाति के लोगों ने समय-समय पर तीर्थों के लिए पाली से संघ निकाले।[96]

---

87. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 1614.
88. वही, सं॰ 2151.
89. *श्री जैन गोत्र संग्रह*, पृ॰ 50 (भूमिका).
90. वही.
91. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 947, 948 और 950.
92. वही, सं॰ 621.
93. वही, सं॰ 1214.
94. वही, सं॰ 1308.
95. वही, सं॰ 1778.
96. *भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास*, पृ॰ 544.

खंडेलवाल जाति

इसमें कोई संदेह नहीं कि खंडेलवाल जाति की उत्पत्ति खंडेला नामक स्थान से हुई, किन्तु इसके समय के बारे में कठिनाई है। पौराणिक विवरण के अनुसार साधु अपराजित आम्नाय के जिनसेनाचार्य ने खंडेला के चौहान राजा को जनता के साथ जैन धर्म में वि॰सं॰1 में परिवर्तित कर लिया।[97] बयासी राजपूत और दो सुवर्णकार खंडेला राज्य के 84 ग्रामों पर राज्य कर रहे थे। ग्रामों के नाम पर या ग्रामों के मुखिया से 84 गोत्र बनाये गये। दो सुवर्णकारों के गोत्र आम्नाय बज और मोहनाय बज हुए। इस घटना का निर्धारित समय ठीक नहीं है। आठवीं सदी के पूर्व इस जाति के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। इस जाति का सबसे प्राचीन उल्लेख 1197 ई॰ के अभिलेख में पाया जाता है।[98]

चौरासी ग्रामों से 84 गोत्रों की एक विशेष समय में उत्पत्ति होना ठीक प्रतीत नहीं होता। चौरासी संख्या रूढ़िगत प्रतीत होती है। चौरासी जातियां, चौरासी आसन, आदि होते हैं। प्रारम्भ में इन गोत्रों की संख्या कम थी, किन्तु शनैः-शनैः वे बढ़ गये। कुछ गोत्र शुरू में नहीं थे, किन्तु चौरासी बनाने के लिए जोड़े गए। ये गोत्र स्थानों के नाम, उद्योगों, उपनामों, आदि पर आधारित हैं।

स्थानीय गोत्र

गोत्र स्थानीय रूप में भी ज्ञात होते हैं। अजमेरा गोत्र संभवतः अजमेर के नाम पर रखा गया। इस गोत्र के अजमेर के साहु सुरजन की पत्नी सुनखती ने *प्रद्युम्न चरित्र* लिखवाया, और उसे 1538 ई॰ साध्वी विनयश्री को भेंट दिया।[99] इस गोत्र का उल्लेख 1594 के अभिलेख में है। पाटौदी गोत्र की उत्पत्ति शेखावाटी के पारोहा ग्राम से प्रतीत हुई लगती है। यह 1764 ई॰ की प्रशस्ति में पाया जाता है।[100] दोसी गोत्र की उत्पत्ति जयपुर के राज्य में दोसा नामक स्थान से ज्ञात होती है। अजमेर के इस गोत्र के बोहिथ ने 1601 ई॰ में चौबीसी की मूर्ति की स्थापना की। कासलीवाल गोत्र जयपुर राज्य सीकर के समीप कासलीग्राम से अस्तित्व में आया। इसका उल्लेख 1524 ई॰ के ग्रंथ की प्रति की प्रशस्ति में पाया जाता है।[101] खंडेला के समीप पाटन नामक गांव से पाटनी गोत्र उत्पन्न हुआ। इस गोत्र के नागोर के पहराज की पत्नी पातमादे ने *आदिपुराण* की प्रति धर्मचन्द को 1520

---

97. *अजमेर के शास्त्र भंडार का ग्रंथ.*
98. *खंडेलानान्वय*, सं॰ 1250.
99. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 138.
100. वही, पृ॰ 175.
101. वही, पृ॰ 96.

ई॰ में प्रस्तुत की।[102] इस गोत्र का उल्लेख 1594 ई॰ के अभिलेख में है।[103] टोंग्या गोत्र की उत्पत्ति टोंक से हो सकती है। 1522 ई॰ प्रशस्ति में इसका उल्लेख मिलता है।[104] काला गोत्र की उत्पत्ति जयपुर के चोमु के समीप कालाडेरा से हुई है। इस गोत्र के रोहो ने इस मूर्ति का अभिषेक समारोह का 1516 ई॰ में आयोजन किया।[105] यह 1607 ई॰ की प्रशस्ति में पाया जाता है।[106]

उद्योग गोत्र

उद्योगों से भी गोत्र बने थे। वेद गोत्र उस व्यक्ति से शुरू हुआ जो आयुर्वेद का धंधा करते थे। उसके वंशज समयोपरांत इस नाम से पुकारे जाने लगे। 1584 ई॰ में इस गोत्र के मौका ने अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ सम्यग्दर्शन यंत्र की प्रतिष्ठा की।[107] पौराणिक विवरण से यह स्पष्ट है कि बूज गोत्र का पूर्वज स्वर्णकार था। जैन धर्मावलम्बी होते समय 1646 ई॰ में इस गोत्र के हाथीनाथ ने दशलक्षण यंत्र की प्रतिष्ठा की।[108] इस गोत्र का नाम 1688 ई॰ की प्रशस्ति में पाया जाता है। सोनी गोत्र भी लोगों के धंधे को व्यक्त करता है। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख 1584 ई॰ के अभिलेख में है जिसमें इस गोत्र के साह तेला ने करकुण्ड पार्श्वनाथ यंत्र की प्रतिष्ठा की।[109] इसका उल्लेख 1688 ई॰ की प्रशस्ति में भी मिलता है।[110] बोहरा गोत्र की उत्पत्ति उन लोगों से हुई प्रतीत होती है जो धन उधार देते हैं। इस गोत्र के रतना ने अपने पुत्रों के साथ इस यंत्र का अभिषेक समारोह 1484 ई॰ में किया।[111]

उपाधियां और उपनाम

उपाधियां और उपनाम भी गोत्र के रूप में विकसित हो गये। साह गोत्र की उत्पत्ति साह शब्द से हुई जिसका प्रयोग व्यक्ति के आदर और सम्मान के लिए होता था। इस गोत्र

---

102. *प्र॰सं॰,* पृ॰ 2.
103. *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ॰ 81.
104. *प्र॰सं॰,* पृ॰ 177.
105. *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ॰ 79.
106. *प्र॰सं॰,* पृ॰ 89.
107. *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ॰ 81.
108. संवत् 1703.
109. *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ॰ 81.
110. *प्र॰सं॰,* पृ॰ 4.
111. *जैनिज्म इन राजस्थान,* पृ॰ 81.

के साहतु ने अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ अर्हमयंत्र की 1539 ई॰ में प्रतिष्ठा की।[112] 1518 ई॰ की प्रशस्ति में इस गोत्र का नाम पाया जाता है। चौधरी की उपाधि राज्य द्वारा उनको दी गई जो राज्य की आय वसूल करते हैं। समय उपरांत यह गोत्र में विकसित हो गया। इस गोत्र के साह महाराज ने *पार्श्वनाथ चरित्र* की प्रति लिखवाई और इसे 1554 ई॰ में धर्मचन्द्र को भेंट की।[113] छाबड़ा गोत्र साह और बड़ा से निकला। पहले यह साबड़ा के नाम से पुकारा जाता था किन्तु समयोपरांत छाबड़ा हो गया। साबड़ा गोत्र के साह नोटा ने नागकुमार चरित्र की प्रति लिखवाई और ललितकीर्ति को भेंट की।[114] 1591 ई॰ के अभिलेख में इस गोत्र का उल्लेख है।[115] भैसा गोत्र संभवतः भाई और साह से बना है। 1694 ई॰ की प्रशस्ति में इसका उल्लेख पाया जाता है।[116] जब इस गोत्र के लोग अधिक संख्या में पाये जाने लगे, वे बड़जात्या (बड़ी जाति) के नाम से प्रसिद्ध हुए। अभी भैसा गोत्र और बड़जात्या गोत्र एक ही माने जाते हैं। सेठी गोत्र की उत्पत्ति श्रेष्ठि से हुई जिसका अर्थ होता था समृद्ध वणिक। इस शब्द का उल्लेख बार-बार बौद्ध और जैन साहित्य में मिलता है।[117]

इसके अतिरिक्त अभिलेखों और प्रशस्तियों से भी अन्य गोत्रों की जानकारी मिलती है। गोधा गोत्र का सबसे प्राचीन उल्लेख 1413 ई॰ के अभिलेख में पाया जाता है।[118] इस गोत्र के नील्हण ने मूर्तियों के अभिषेक समारोह को मनाया। अन्य गोत्र हैं ठोलिया गोत्र,[119] पहाड़या गोत्र,[120] बिलाला गोत्र,[121] गंगवाल गोत्र, गोदिका गोत्र, पांड्या गोत्र, रॉक्का गोत्र[122] और सोगानी गोत्र[123]। 1584 ई॰ के अभिलेख में कुरकुरा[124] गोत्र का उल्लेख है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस गोत्र के कालु ने अपने पुत्र और पौत्रों के साथ

---

112. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 80, 12, पृ॰ 63.
113. *जै॰सं॰शिक्षा*, पृ॰ 128.
114. वही, पृ॰ 113.
115. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 81.
116. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 20.
117. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 190.
118. *वीरवाणी*, जिल्द, 7.
119. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 12 (फुटनोट 2).
120. संवत् . . . श्वेता (दशलक्षण यंत्र का अभिलेख, पाटोदी का जैन मन्दिर, जयपुर).
121. संवत् 1799 (धातु मूर्ति का अभिलेख, लूणकरणजी पांड्या मन्दिर, जयपुर).
122. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 99.
123. वही, 169.
124. वही, पृ॰ 170.

ऋंकार यंत्र की प्रतिष्ठा की।[125] खंडेलवाल जाति के 84 गोत्रों की सूची में यह गोत्र नहीं पाया जाता है। प्रशस्तियों और अभिलेखों से पता चलता है कि इस जाति के लोग प्रायः मूल संघ के आचार्यों से अधिक सम्बन्धित थे,[126] अन्य संघों से कम। खंडेलवाल जाति के लोगों की प्रवृत्तियों का राजस्थान अधिक केन्द्र बना रहा।[127]

बघेरवाल जाति

बघेरवाल जाति की उत्पत्ति बघेरा से आठवीं सदी में हुई, जो एक प्राचीन स्थान रहा। प्राचीन जैन मन्दिर और मूर्तियां यहां प्राप्त हुईं, और इसके नाम का उल्लेख बिजोलिया के 1170 ई॰ के अभिलेख में मिलता है।[128] यह स्थान बारहवीं सदी में भट्टारकों की पीठ रहा है।[129] ऐसा विश्वास है कि रामसेन और नेमसेन नाम के जैन साधुओं ने इस नगर के जैन राजा को प्रजा सहित जैन धर्मावलम्बी बना लिया।[130] यदि सब नहीं तो अधिकतर लोगों ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया। पंडित आशाधर, जो बारहवीं सदी में मुहम्मद गौरी के आक्रमण के भय से मांडलगढ़ से धारानगरी चला गया था, बघेरवाल जाति का था।[131] पुनसिंह जिसने पन्द्रहवीं सदी में कुंभकरण के राज्य में चित्तौड़ के प्रसिद्ध जैन कीर्तिस्तंभ की मरम्मत करवाई इसी जाति का था।[132] अभिलेखों और प्रशस्तियों से इस जाति के गोत्र निम्न हैं – रामभंडारी,[133] शंखवाल,[134] शानापति,[135] होला,[136] कोटवा,[137] प्रभा[138] और सिरवाड़्या।[139]

---

125. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 177.
126. वही, पृ॰ 44-77.
127. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 81.
128. *इण्डि॰ऐंटी॰*, 5, 24 पृ॰ 84.
129. *इंडि॰ऐंटी॰*, 5, 20.
130. *अजमेर के शास्त्र भंडार में ग्रंथ.*
131. *जै॰सा॰इं॰*, पृ॰ 134.
132. *ए॰रि॰रा॰म्यू॰अ॰*, 1926-27 सं॰ 10.
133. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 438.
134. वही, सं॰ 727.
135. वही, सं॰ 628.
136. *प्र॰सं॰*, पृ॰ 147.
137. वही, पृ॰ 98.
138. *जयपुर के जैन मन्दिर के यंत्र पर लेख.*
139. *जैनिज्म इन राजस्थान*, पृ॰ 72.

अग्रवाल जाति

अग्रवाल राजस्थान में बहुत पाये जाते हैं। समाज में उनका सम्माननीय स्थान है। वे उच्च शिक्षित भी हैं और अधिक प्रगतिशील भी। वे हिन्दुओं और जैनियों दोनों में पाये जाते हैं। वे मध्यम श्रेणी के महत्त्वपूर्ण व्यापारी हैं। प्राचीन समय में उन्होंने बड़े उत्साह से जैन धर्म की उन्नति में सहयोग दिया। उन्होंने अनेक जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई, और जैन ग्रंथों की प्रतियां लिखवाईं। अनुश्रुतियों के अनुसार अग्रवाल जाति की उत्पत्ति पंजाब में अग्रोहा नामक स्थान से हुई, और इसका संस्थापक अग्रसेन था। एक बार उसने यज्ञ किया किन्तु उसे तुरन्त रोक दिया जब उसने दयनीय स्थिति में उनकी बलि देखी। संभवतः यह अहिंसा के सिद्धान्त से प्रभावित हुआ। इसका पता नहीं कि उसने जैन धर्म को स्वीकार किया या नहीं, किन्तु पट्टावल्लियों[140] से जाना जाता है कि लोहित्याचार्य ने अग्रवालों को उनके राजा दिवाकर सहित जैन धर्म में परिवर्तित कर लिया। बाद में अग्रवालों ने जैन धर्म का पालन करना शुरू कर दिया। नागेन्द्रनाथ वसु के अनुसार अग्रसेन वही उग्रसेन है जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के अभिलेख में हुआ है। लोहित्याचार्य देवर्द्धि गणि[141] का गुरु था जिसने वल्लभी में 453 ई० में वाचना की व्यवस्था की थी। लोहित्याचार्य का समय देवर्द्धि से 30 वर्ष पूर्व हो सकता है। इस प्रकार उसने अग्रवालों को उनके राजा सहित 423 ई० में जैन धर्म में परिवर्तन किया। किन्तु यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता। अग्रसेन उत्तर भारत का राजा था जबकि अग्रसेन देवराष्ट्रक इलाहाबाद के अभिलेख में उल्लेखित दक्षिण में राज्य कर रहा था। इस जाति का आठवीं सदी के पहले अस्तित्व में होने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अभिलेखों और प्रशस्तियों में इसके गोत्र निम्न हैं – गोयल,[142] गर्ग,[143] सिंघल,[144] बंसल,[145] आदि। अग्रवालों का अधिक सम्बन्ध काष्ठा संघ से रहा, मूल संघ से कम।

चित्तौड़ा और नागदा जातियां

दिगम्बरों में चित्तौड़ा और नागदा जातियों की उत्पत्ति क्रमशः मेवाड़ में प्राचीन स्थान चित्तौड़ और नागदा से हुई। ये जातियां मध्यकाल में अस्तित्व में आई हुई प्रतीत होती हैं। इन जातियों के लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे, और जैन साधुओं को प्रस्तुत करने हेतु

---

140. *श्री भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास*, पृ० 550.
141. वही, 548.
142. *प्र०सं०*, पृ० 85.
143. वही, पृ० 119.
144. वही, पृ० 82.
145. वही, पृ० 97.

अनेक ग्रंथों की प्रतियां मध्यकाल में उन्होंने लिखवाईं। उन्होंने मन्दिरों का निर्माण करवाया और बड़े समारोह के साथ उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। उनका सम्बन्ध प्रायः बागड़ के मूल संघ के और काष्ठा संघ के भट्टारकों से रहा। पन्द्रहवीं सदी के भट्टारक ज्ञानभूषण ने *नागदा-रास* लिखा जिनमें जैनियों की नागदा जाति के इतिहास का वर्णन किया गया है।[146]

हुम्बड़ जाति

हुम्बड़ जाति की उत्पत्ति के स्थान का ठीक पता नहीं है। बहुत सम्भव है कि अन्य जातियों के समान इसकी उत्पत्ति भी किसी विशेष स्थान से हुई होगी। राजस्थान में इस जाति के लोग डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ में पाये जाते हैं, जो प्राचीन बागड़ प्रान्त का भाग था। वे श्वेताम्बरों और दिगम्बरों दोनों में पाये जाते हैं। दिगम्बरों में इनका सम्बन्ध अधिकतर काष्ठा संघ के भट्टारकों से रहा और बागड़ा के मूल संघ के आचार्यों से कम। अन्य जातियों के समान इस जाति का अस्तित्व भी आठवीं सदी के बाद में हुआ। इस जाति के लोगों ने भी अनेक मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा का समारोह किया। झालरापाटन का प्रसिद्ध जैन मन्दिर इस जाति के साह पीपा द्वारा निर्मित किया जाता है।[147]

हुम्बड़ जाति समयोपरांत शाखाओं और गोत्रों में विभाजित हो गई। इस जाति की तीन शाखाओं के नाम हैं लघु शाखा, बृहद शाखा और वर्षावत शाखा। वर्षावत शाखा की उत्पत्ति बहुत संभव है वर्षाशाह से हुई जो महारावल हरिसिंह का मंत्री था।[148] महारावल की आज्ञा पर उसने इस जाति के एक हजार कुलों को सागवाड़ा से कांथल में आमंत्रित किया। उसने देवली के दिगम्बर जैन मन्दिर के निर्माण के कार्य को शुरू किया किन्तु इसका प्रतिष्ठा समारोह उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र वर्धमान और दयाल द्वारा 1717 ई॰ में किया गया। इस जाति के अठारह गोत्र हैं – 1. खेरजु, 2. कमलेश्वर, 3. काकदेश्वर, 4. उत्तरेश्वर, 5. मंत्रेश्वर, 6. भीमेश्वर, 7. भद्रेश्वर, 8. गंगेश्वर, 9. विश्वेश्वर, 10. सांखेश्वर, 11. अंबेश्वर, 12. चाचनेश्वर, 13. सोमेश्वर, 14. रजियानो, 15. ललितेश्वर, 16. कासवेश्वर, 17. बुधेश्वर और 18. संघेश्वर।

धर्कट वंश

धर्कट जाति के लोग दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में पाये जाते हैं। *धम्म परिक्खा* का हरिषेण

---

146. शास्त्र भंडार श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, संभवनाथ बड़ा बाजार, उदयपुर.

147. *अ॰कां॰*, 13 पृ॰ 84.

148. वही, पृ॰ 124.

नाम का दसवीं सदी[149] का लेखक इसी जाति का था।[150] देलवाड़ा के 1230 ई॰ अभिलेख[151] में इस जाति का उल्लेख है। आबू के दो अभिलेखों में भी इस जाति के लोगों का वर्णन है।[152] प्रारम्भ में इस जाति की उत्पत्ति राजस्थान में हुई ज्ञात होती है, किन्तु अभी इसके लोग दक्षिण में पाये जाते हैं। हरिषेण के कथन ठक्कड़कुल के नाथुराम प्रेमी का मानना है कि इसकी उत्पत्ति टोंक जिले के सिरोज से संभव है।[153] अगरचन्द नाहटा का मानना है इसकी उत्पत्ति धकड़गढ़ से हुई जिससे महेश्वरी जाति की धकड़ शाखा की उत्पत्ति हुई।[154] दो प्रशस्तियों[155] के प्रमाण पर वह इसको श्रीमाल के समीप स्थित करता है।

मंत्रीदलीय (महतियण)

मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि, जिसका जन्म जैसलमेर के समीप विक्रमपुर में हुआ था, वि॰सं॰ 1211 में खरतरगच्छ का मुखिया हुआ। वह एक प्रभावशाली विद्वान् और आचार्य था। उसने मंत्रीदलीय (महतियण) जाति की स्थापना की[156]। यह जाति चौदहवीं से सत्रहवीं सदी तक लोकप्रिय हो गई। इस जाति के लोग न केवल समृद्ध थे वरन् उनमें से कुछ उच्च अधिकारी थे। उन्होंने तीर्थ स्थानों की यात्रा की। वे इतने बड़े साहसी थे कि उत्तर प्रदेश और बिहार चले गये, और वहां बस गये। यह जाति क्रमशः अनेक गोत्रों में विभाजित हो गई।

इस जाति के लोगों ने समय-समय पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा का आयोजन किया। मंत्री दलीय जाति तीन मूर्ति अभिलेखों में अंकित है।[157] काजा, चोपड़ा, जाटड़, मुण्डतीड़ और मोढ़ इस जाति के लोकप्रिय गोत्र थे। अन्य जाने वाले गोत्र है काद्रड़ा, चेवरिआ, दान्हड़ा, दुल्लह, नान्हड़ा, भादिय, महत्ता, रोहदिया, वायदा, नार्त्तिदीपा, समला और मोत।[158]

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों दोनों में अधिकतर जैन जातियों की उत्पत्ति मध्यकाल में राजस्थान में हुई। धीरे-धीरे उन्होंने पड़ोसी क्षेत्रों में गमन किया और वहां बस गये।

149. *अ॰का॰*, पृ॰ 124.
150. *जै॰सा॰*, पृ॰ 468.
151. *अ॰का॰*, 13, 124.
152. वही.
153. *जै॰सा॰इ॰*, पृ॰ 468.
154. *अ॰का॰*, 4, पृ॰ 610.
155. *जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह*, सं॰ 52 और 93.
156. मणिधारी श्री जिन चन्द्र सूरि, पृ॰ 74.
157. *ना॰जै॰इ॰*, 1, सं॰ 48, 236, 482.
158. वही.

राजस्थान के पड़ोसी प्रदेशों में जैन साधुओं द्वारा नई जातियों की स्थापना की गई। ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ जैन साधुओं ने इन स्थानों के जनपदीय लोगों को जैन धर्मावलम्बी बनाया और उनकी जातियों की स्थापना की। इस काल में उत्तर भारत में मुस्लिम राज्य इन जातियों की स्थापना करने में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हैं। इस समय की दक्षिण भारत की जैन जातियां सामान्यतः व्यवसाय में हैं। ये जातियां क्रमशः अनेक गोत्रों में विभाजित हो गईं।

गुजरात

श्रीमोढ़ जाति का नाम प्राचीन नगर मोढ़ेरा से निकला है, जो गुजरात में अणहिलवाड़ के दक्षिण में है। प्रसिद्ध हेमचन्द्र सूरि का जन्म इस जाति में हुआ था। इस जाति के लोगों के अभिलेख बारहवीं सदी से मिलते हैं।

नन्दितटगच्छ के भट्टारक रामसेन ने नरसिंह नगर के नाम पर नरसिंहपुर जाति की स्थापना की। उसने इस शहर में शान्तिनाथ का जैन मन्दिर भी बनवाया। नरसिंह जाति के भीम ने काष्ठा संघ के भट्टारक सोमकीर्ति द्वारा वि॰सं॰ 1547 में मूर्तियों की प्रतिष्ठा समारोह का आयोजन किया।[159] भट्टारक रामसेन का शिष्य नेमिसेन पद्मावती का अनुयायी था। उसने भट्टपुरा जाति की स्थापना की।[160] दोनों जातियाँ नरसिंहपुरा और भट्टपुरा दिगम्बर जातियां थीं। पद्मनंदि के शिष्य भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने पूर्व आधा चौदहवीं सदी में मूल संघ की पीठ स्थापित की, और सात सौ परिवारों को जैन धर्म में परिवर्तन कर रत्नाकर जाति बनाई। पालिताना, शत्रुंजय और अन्य स्थानों से पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी से प्राप्त अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि ओसवाल, श्रीमाली, प्राग्वाट, धर्कट और हुम्बड़ जातियों के लोगों ने मूर्ति प्रतिष्ठा का समारोह किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन जातियों के कुछ लोग राजस्थान से बाहर चले गये और गुजरात में बस गये। वि॰सं॰ 1551 और वि॰सं॰ 1526 के जैन अभिलेखों[161] में श्रीवंश जाति का उल्लेख है।

मध्य प्रदेश

कुछ जैन जातियों का उल्लेख मध्य प्रदेश के मालवा प्रदेश के अभिलेखों में पाया जाता है। चिल्लण, जिसने भोजपुर में वि॰सं॰ 1157 में नरवर्मन् के राज्य में दो जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा की, वैमक कुल का था।[162] गुड़र की वि॰सं॰ 1206 की जैन मूर्तियों के अभिलेख

159. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 778.

160. वही.

161. वही, सं॰ 119, 292.

162. *एपि॰इण्डि॰*, 35.

में वबकंचुक जाति का उल्लेख है।[163] इसके अतिरिक्त अभिलेखों से वैश्यों की कुछ अन्य जातियों का भी पता चलता है। इनमें से कुछ मूल में बाहर से आईं। खंडेलवाल जाति का उल्लेख वि॰सं॰ 1191,[164] वि॰सं॰ 1216,[165] और वि॰सं॰ 1305[166] के अभिलेखों में पाया जाता है।[167] पोरवाल श्रावकों ने वि॰सं॰ 1308 में वर्धमानपुर (आधुनिक बदनावर) में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन किया।[168] बघेरवाल श्रावकों का भी मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समारोह से सम्बन्ध रहा। इन खण्डेलवाल, बघेरवाल और पोरवाल जातियों की उत्पत्ति करीब आठवीं सदी में राजस्थान में खंडेला, बघेरा और प्राग्वाट में क्रमशः हुई, किन्तु समयोपरान्त इन जातियों के कुछ लोग मालवा को चले गये। वि॰सं॰ 1231 के अभिलेखों में धर्कट जाति का उल्लेख पाया जाता है।[169]

श्वेताम्बरों में नीमा जाति की उत्पत्ति मालवा के नीमड़ प्रदेश से हुई। इसका उल्लेख क्रमशः तीन जैन अभिलेखों (वि॰सं॰ 1506, वि॰सं॰ 1532 और वि॰सं॰ 1531) में हुआ है।[170] पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के अनेक जैन मूर्ति अभिलेखों में प्राग्वाट, ओसवाल और श्रीमाली का उल्लेख मिलता है।[171] ऐसा ज्ञात होता है कि इन जातियों के लोग राजस्थान से मालवा आ गये। गुर्जर जाति का उल्लेख वि॰सं॰ 1512 के अभिलेख में मिला है, सोहितवाल वि॰सं॰ 1573 ई॰ में, मंत्रीदलीय वि॰सं॰ 1519 में, श्रीवंश वि॰सं॰ 1515 में, सोनी वि॰सं॰ 1573 में और मोढ़ वि॰सं॰ 1656 में आए।[172]

जैसाकि पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के जैन मूर्ति अभिलेखों से पता चलता है कि दिगम्बर जातियों में खंडेलवाल, बघेरवाल और हुम्बड़ के लोग अधिक संख्या में थे।[173] उन्होंने राजस्थान को छोड़ा और मालवा में बस गये। वि॰सं॰ 1664 (1607 ई॰) के रामपुर अभिलेखों[174] से माना जाता है कि चन्द्रावत राजा दुर्गभानु का वित्तमंत्री पदार्थ बघेरवाल

---

163. *एरि॰आ॰डि॰ग्वा॰*, 1929-30.
164. *का॰इ॰इं॰*, 7, पृ॰ 118-19.
165. *म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 512, सं॰ 6.
166. वही, सं॰ 7.
167. वही, सं॰ 8.
168. वही, सं॰ 2.
169. *म॰श्रू॰ए॰*, पृ॰ 9.
170. *मालवांचल के जैन लेख*, सं॰ 50, 162, 254.
171. वही.
172. वही.
173. वही, अर्हत, वचन, 5-4, पृ॰ 261-63.
174. *एपि॰इण्डि॰*, XXXVI पृ॰ 121-23.

जाति का था। अभिलेखों में पोरवाल जाति का उल्लेख भी मिलता है। नागर जाति का उल्लेख वि॰सं॰ 1220 के अभिलेख में मिला है, जैसवाल वि॰सं॰ 1319 में, नरसिंहपुर वि॰सं॰ 1529 में, नागदा व नागद्रह वि॰सं॰ 1489 में और चित्रकूट वि॰सं॰ 1252 में।[175]

मध्य प्रदेश के जेजाकभुक्ति प्रदेश (बुन्देलखंड) में दिगम्बरों में नई जातियां और उपजातियां अस्तित्व में आईं। अभिलेखों में उल्लेखित गृहपति वैश्य जाति के हैं। कुछ गृहपति ब्राह्मण धर्म का पालन करते थे जबकि अन्य जैन थे। खुजराहो के 1000-01 ई॰ के अभिलेखों[176] से पता चलता है कि भृगु बृहस्पति कोकल्ल के पूर्वज मूल में पद्मावती (ग्वालियर के समीप पवाया) में रहते थे, किन्तु वह खुजराहो में आया और बस गया। उसने शानदार नगर बनवाया और वैद्यनाथ मंदिर भी। पाहिल, जिसने जैन मन्दिर *पार्श्वनाथ बनाया* और अनेक उपहार दान दिये, गृहपति परिवार का था।[177] पाहिल के उत्तराधिकारियों ने अनेक मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया जान पड़ता है। पाहिल और उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने मंत्री के पदों पर कार्य किया। इस जाति के देवपाल ने बाजपुर में जैन मन्दिर बनाया जबकि उसके पौत्र मदनेश ने सागरपुर में। ये गृहपति श्रेष्ठी जान पड़ते थे।

अन्य ज्ञात जैन जातियां थीं – गोलपूर्व, गोलालारे, परवार, पौरपट्ट, आदि।[178] साहगले और तूड़ा गोलापूर्व जाति के थे। गहोत जाति का पाड़ा शाह थूबोण का रहने वाला था जो व्यापार में बहुत समृद्ध हो गया था। उसने अनेक जैन मंदिरों को बनवाया और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। इन जातियों के गोत्र थे कोच्चल, वासल्ल, भारल्ल, मोहिल्ल, कोसिल्ल व झल्ल, वाछल, आदि।[179]

गोपगिरि प्रदेश में पाये जाने वाले जैन अभिलेख जैन जातियों के बारे में हमको कुछ जानकारी देते हैं। 1080 ई॰ के दुबकुंड अभिलेख[180] से ज्ञात होता है कि विक्रमसिंह ने ऋषि और दाहेड़ दो वणिकों को श्रेष्ठिन् की उपाधि दी, चड़ोह में जैन मन्दिर बनाया। चड़ोह का प्राचीन नाम दुबकुंड था। इसके अतिरिक्त इस अभिलेख से पता चलता है कि उनका दादा श्रेष्ठिन् जसुक वणिकों की श्रेणी का मुखिया था। इस श्रेणी के लोग जयसपुर नगर से आये थे। जयसवाल जाति की उत्पत्ति जयसपुर से हुई ज्ञात होती है किन्तु इसकी पहचान का पता नहीं है।

175. *अर्हत,* 5-4 पृ॰ 262-63.
176. *एपि॰इण्डि॰,* 1, पृ॰ 147-152.
177. वही, पृ॰ 135-136.
178. *भा॰दि॰जै॰ती॰ब॰,* 3, पृ॰ 109.
179. वही.
180. *एपि॰इंडि॰,* 4, पृ॰ 232-240.

अभिलेखों से ज्ञात जातियां थीं – परवार, गोलालार, गोलापूर्व और पोरपट जबकि उनके गोत्र थे कोछल, वासल, भारल्ल, गोइल्ल, गोहिल, कासिल्ल, वाछल, बेरिया, कासिय, बाझल, पेडेल और वनविहार।[181] वज्चपाज राजा महाराज गोपाल के समय का नरवर का 1284 ई॰ (वि॰सं॰ 1341) का अभिलेख सेवयिक ग्राम का रहने वाला बंसवाल गोत्र के वणिक राम का उल्लेख करता है।[182]

मध्य प्रदेश के आहर क्षेत्र में ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के प्रतिमा अभिलेखों में बहुत सी जैन जातियों के नाम मिलते हैं – गोलापूर्व, जयसवाल, परवर व परवड़, गृहपत्य, लंबकचुक, कटुकान व चित्रकूट, मइड़ितवाल, अवधपुर, मथुरा, माधु, वैश्य, गर्गराट और वलार्गण। शाह बख्तराम ने *बुद्धिविलास* तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान् ब्रह्म जिनदास ने चौरासी जैन जाति जयमाल में क्रमशः जैन जातियों का उल्लेख किया है, जो जैन जातियों के इतिहास के लिए उपयोगी हैं। कुछ जातियां जैसे गोलापूर्व परवार और गृहपत्य के गोत्र भी अभिलेखों में मिलते हैं। बख्तराम शाह के *बुद्धिविलास* में बारह गोत्रों का उल्लेख मिलता है – गोइल्ल, वाछल्ल, इयाडिम्ब, कोछल्ल, काझिल, कोइल्ल, लोइच्छ, कोछल्ल, भारिल्ल, माडिल्ल, गोहिल्ला और फागुल्ल। इन प्रतिमा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इन जातियों के श्रावक जैन धर्म के प्रति समर्पित थे। इन जातियों की उत्पत्ति के बारे में ठीक बतलाना कठिन है।[183]

तारणपंथी

तारण स्वामी विभिन्न संप्रदायों में भेदभाव नहीं रखता था। उच्च और निम्न वर्गों में कोई अन्तर नहीं था। उसके अनुयायी बारह जातियों में विभाजित थे – 1. चरणागर, 2. आयुध्या, 3. असारी, 4. गोसालारे, 5. रुइरमन, 6. करणागर, 7. समैया, 8. नायक, 9. नियमीक, 10. कामदमन, 11. रजत सोधिया, 12. परमार क्षत्री। इन जातियों के लोगों में कट्टरपन नहीं था। इन जातियों के लोगों में पारस्परिक विवाह और खानपान की अनुमति थी।[184]

उत्तर प्रदेश

यह ज्ञात होता है कि कुछ दिगम्बर जैन जातियां जैसे लंबकंचुक, बुंघेल, गोलासारान्वय और गोलसिंगार की उत्पत्ति उत्तर प्रदेश में हुई। लंबकंचुक का उल्लेख मैनपुरी के मूर्ति

---

181. *भा॰दि॰जै॰ती॰ब्र॰*, 3, पृ॰ 109.
182. *एरि॰आ॰डि॰ग्वा॰वि॰*, सं॰ 1904, सं॰ 15, *ग्वालियर राज्य के अभिलेख*, सं॰ 149.
183. *जैन अभिलेख परिशीलन*, आहार क्षेत्र के अभिलेख.
184. *अध्यात्म पर्व पत्रिका*, वर्षन 6, जून-जुलाई, 1969, 6-7, पृ॰ 36.

अभिलेखों वि॰सं॰ 1412, वि॰सं॰ 1509, वि॰सं॰ 1525, वि॰सं॰ 1413, वि॰सं॰ 1734, वि॰सं॰ 1760, वि॰सं॰ 1520, वि॰सं॰ 1534, वि॰सं॰ 1722 और वि॰सं॰ 1471 में पाया जाता है।[185] जैन मूर्ति अभिलेख वि॰सं॰ 1791, वि॰सं॰ 1772 और वि॰सं॰ 1766 में बुढ़ेल जाति का उल्लेख मिला है। आरम्भ में बुढ़ेल मम्मेचू व लंबकंचुक जाति का एक गोत्र मात्र था किन्तु यह वि॰सं॰ 1590 और वि॰सं॰ 1670 के मध्य किसी सामाजिक झगड़े के कारण एक अलग से जाति बन गई। गोलासारान्वये जाति का उल्लेख मूर्ति अभिलेखों वि॰सं॰ 1525, वि॰सं॰ 1686, वि॰सं॰ 1474, वि॰सं॰ 1511, और 1515 में मिला है और गोलसिंगारा रांगा गोत्र वि॰सं॰ 1688 के अभिलेखों में अंकित मिलता है।

खंडेलवाल जाति का उल्लेख जैन मूर्ति अभिलेखों वि॰सं॰ 1783, वि॰सं॰ 1520, वि॰सं॰ 1675, वि॰सं॰ 1822 और वि॰सं॰ 1436 में पाया गया है जबकि अग्रवाल वि॰सं॰ 1234, वि॰सं॰ 1537, वि॰सं॰ 1529, वि॰सं॰ 1545, वि॰सं॰ 1549, वि॰सं॰1642 के लेखो में। जयसवाल जाति की जानकारी मूर्ति अभिलेखों वि॰सं॰ 1628, वि॰सं॰ 1601, वि॰सं॰ 1531, वि॰सं॰ 1537 और वि॰सं॰ 1437 से होती है। क्रकेश जाति – बरहड़ा गोत्र का उल्लेख जैन मूर्ति अभिलेख वि॰सं॰ 1551 में हुआ है, धाकड़ (धरकड़) वि॰सं॰ 15. में, नगर कोटेल वि॰सं॰ 1411 में, पुले जाति – खेमिज गोत्र वि॰सं॰ 1688 में, महिम जाति वि॰सं॰ 1588 में।

ऐसा ज्ञात होता है कि क्रकेश जाति और ककसिन जाति एक समान ही हैं। खरौआ गोत्र गोलान्तर से अलग हो गया और स्वतंत्र जाति बन गया। नगर कोटेर गोत्र व जाति पंजाब में नगरकोट ग्राम से प्रसिद्ध हो गया। एक समय यह हिन्दुओं और जैनियों का तीर्थ था। महिमवंश महिमा जाति के रूप में जाना जाता है। वरहिया कुल वरैया जाति में परिवर्तित हो गया।[186]

श्वेताम्बर जातियां जैसे ओसवाल, श्रीमाली और प्राग्वाट के उल्लेख पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के अभिलेखों में मिले हैं। कुछ जैन मूर्ति अभिलेख सिद्ध करते हैं कि महतियाण (मंत्रीदलीय) के श्रावक जौनपुर में बस गये। ये अभिलेख[187] सिद्ध करते हैं कि इन जातियों के लोग राजस्थान से चले गये और उत्तर प्रदेश में बस गये।

महाराष्ट्र

बम्बई, नागपुर, अमरावती, चन्दवाड़ और नासिक के समीप मनमाड, नासिक, बलपुर, कारंज, चालीस गांव, भद्रावती और सिरपुर में चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक की धातु

---

185. कामता प्रसाद, *प्रतिमा लेख संग्रह.*

186. वही.

187. *ना॰जै॰इं॰*, 1.

जैन मूर्तियों के अभिलेख सिद्ध करते हैं कि ओसवाल, प्राग्वाट, श्रीमाली और पालिवाल जातियों के लोग राजस्थान को छोड़कर महाराष्ट्र आ गये।[188] श्रीवायड़ जाति का उल्लेख वि॰सं॰ 1488 के धातु मूर्ति के अभिलेख[189] में हुआ है और मोढ़ जाति का वि॰सं॰ 1616 के लेख में।[190] महतीयाण (मंत्रीदलीय) जाति का उल्लेख तीन जैन मूर्तियों के वि॰सं॰ 1516 के अभिलेख में हुआ है।[191]

बिहार

मंत्रीदलीय जाति के श्रावक राजस्थान को छोड़कर बिहार की ओर चले और विभिन्न स्थानों पर बसे। पटना में महतीयाण जाति के नाम पर महतीयान मोहल्ला है। उन्होंने जैन मन्दिर और धर्मशाला बनवाये।[192] इस जाति के नाम का उल्लेख जैन मूर्ति अभिलेखों वि॰सं॰ 1504, वि॰सं॰ 1519, वि॰सं॰ 1524, वि॰सं॰ 1606 और वि॰सं॰ 1686 में पाया जाता है।[193]

इस जाति के श्रावकों ने राजगृह के वैभारगिरि और विपुलगिरि में जैन मंदिर बनवाया। श्वेताम्बर जातियां ओसवाल, प्राग्वाट् और श्रीमाली के श्रावक राजस्थान से आकर बिहार में बस गये जैसाकि पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के जैन मूर्ति अभिलेखों से ज्ञात होता है। दिगम्बरों की जयसवाल जाति[194] का उल्लेख वि॰सं॰ 1638 के जैन मूर्ति अभिलेख में पाया गया है, जबकि बघेरवाल जाति का वि॰सं॰ 1694 के अभिलेख में।[195]

दक्षिण भारत

दक्षिण के वीर बणजीगा जैन धर्म को पालते थे। दक्षिण के कृषक लोगों का भी जैन धर्म के प्रति लगाव था। दक्षिण भारत के अभिलेखों में जैन जातियों के नाम के उल्लेख नहीं पाये जाते हैं। कुछ अभिलेखों में उनके पदों और धंधों के नामों का उल्लेख मिलता है। गाबुण्ड व गामुंड[196] ग्राम के मुखिया का पद था। ऐसा भी पता चलता है कि गोड़ा

---

188. मुनि कांति सागर, *जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह.*
189. वही, सं॰ 79.
190. वही, सं॰ 30.
191. वही, सं॰ 158, 159, 173.
192. मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ॰ 20.
193. *ना॰जै॰इं॰*, 239, 270, 186, 215, 216, 217, 257, 271, 272 और 192.
194. *ना॰जै॰इं॰*, सं॰ 221.
195. वही, सं॰ 228.
196. *जै॰शि॰सं॰*, सं॰ 18, 36.

व गौड़ा कम्मटकार खान के अधिकारी का नाम था।[197] पर्गड़े व हेगड़े नगर अधिकारी का नाम था।[198] सामंत,[199] महाप्रभु,[200] दण्डनायक,[201] भहाबंग व्यवहारी[202] और महाप्रधान[203] जैनियों के उपाधि नाम हैं।

ऐसा देखा जाता है कि ये जातियां विशेष संघों, गणों और गच्छों से सम्बन्धित रही हैं। हुम्बड़ जाति का सम्बन्ध बलात्कारगण की सूरत शाखा से रहा है, लभेचू जाति का अटेरशाखा से, परवार जाति का जेरहट शाखा से और खंडेलवाल जाति का काष्ठा संघ के माथुर गच्छ से सम्बन्ध रहा है, हुम्बड़ जाति का नन्दितट गच्छ से और बघेरवाल जाति का लाड़वागड़ गच्छ से सम्बन्ध रहा है।

---

197. *जै॰शि॰सं॰*, सं॰ 80.
198. वही, सं॰ 81 और 96.
199. वही, सं॰ 41.
200. वही, सं॰ 54.
201. वही, सं॰ 55.
202. वही, सं॰ 122.
203. वही, सं॰ 150.

11

जैन धर्म का पतन और अस्तित्व

विभिन्न क्षेत्रों में जैन धर्म का पतन अलग-अलग काल में हुआ। इसके साधारण और विशिष्ट दोनों कारण थे। शुंगों के अधीन उत्तर में ब्राह्मण धर्म की पुनरावृत्ति के कारण जैन धर्म का पतन हुआ। दक्षिण में यह धर्म वहाँ के कट्टरपंथी राजाओं के अधीन लिंगायत और वीर शैवों के अत्याचारों के कारण नष्ट हुआ। जैन धर्म का ह्रास रूढ़िवादी ब्राह्मणों के कारण भी हुआ। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने भी जैन मंदिरों, मूर्तियों और जैन ग्रंथ भंडारों को नष्ट किया। मुस्लिम शासन में श्रावकों के लिये अपने धर्म का पालन करना कठिन था। जैन धर्म में धार्मिक और सामाजिक विभाजन भी हो गये थे। अनेक उलट-फेर होने के उपरांत भी जैन संतों और श्रावकों के उच्च चरित्र के कारण जैन धर्म का अस्तित्व बना रहा और आज इसका प्रचार-प्रसार विदेशों में भी हो रहा है।

पतन के कारण

1. *शुंगों के अधीन ब्राह्मण धर्म की पुनरावृत्ति (लगभग 187-75 ई॰ पू॰)* – अंतिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ मौर्य का वध करने के पश्चात् पुष्यमित्र शुंग वंश का संस्थापक हुआ। उसने दो अश्वमेध यज्ञ किये। वह कट्टर ब्राह्मण था। उसने जैन और बौद्ध साधुओं का वध करवाया। यह मान्यता बौद्ध ग्रंथ *दिव्यावदान*[1] के कथन के आधार पर निर्भर है जिसके अनुसार उसने प्रत्येक साधु के सिर की कीमत 100 दीनार रखी थी। उसने बौद्धों और जैनियों को निर्दयतापूर्वक मारा। कहा जाता है कि वह मगध से लेकर पंजाब में जालंधर तक मठों और साधुओं को नष्ट करने के लिये उत्तरदायी था। बिहार में भी जैन धर्म पुष्यमित्र के आक्रमणों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ।

   किन्तु पुष्यमित्र शुंग का बौद्धों और जैनियों पर अत्याचार करने के आरोप ठीक प्रतीत नहीं होते। वास्तव में ब्राह्मणों ने श्रमण धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के कार्यों

---

1. अध्याय XXIX, पृ॰ 134.

में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। न तो बौद्ध धर्म और न ही जैन धर्म का पतन हुआ, इसके विपरीत शुंगों के राज्य में बौद्ध और जैन धर्म के शानदार स्मारकों की स्थापना हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र के द्वारा बौद्ध और जैन धर्म के विरुद्ध अत्याचार सामान्यतः कुछ विशेष राजनीतिक और व्यक्तिगत कारणों से हुए होंगे।

2. *गुप्तकाल में जैन धर्म को राजकीय सहयोग प्राप्त न होना* – साम्राज्यवादी गुप्त शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। इनमें से कुछ ने अश्वमेध यज्ञ भी किये थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने आपको परम भागवत के नाम से सम्बोधित करता था और वैष्णव धर्म के उत्थान के लिये उसने काफ़ी प्रयत्न किए। जैन धर्म को साम्राज्यवादी गुप्त सम्राटों से कोई राजकीय सहयोग नहीं मिला। गुप्तकाल के कुछ ही जैन अभिलेख उपलब्ध होते हैं।

 शशांक गौड (बंगाल) का शासक था। बौद्धों पर उसके अत्याचार के कथानक मिलते हैं जिनका वर्णन युवानचांग ने किया है। यह भी संभव हो सकता है कि शशांक के हाथों से जैन धर्म को भी नुकसान पहुंचा हो। गुप्तकाल में राजकीय सहयोग नहीं मिलने से जैन धर्म समृद्ध नहीं हो सका।

3. *मिहिरकुल के अत्याचार (लगभग 515 ई॰)* – हूण आक्रमणकारी मिहिर कुल एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने अधिकतर उत्तर भारत के हिस्से को रौंद डाला था। वह शैव धर्म का कट्टर अनुयायी था। *राजतरंगिणी* में मिहिरकुल के अन्याय और अत्याचार की कहानियाँ हैं। युवानचांग के अनुसार वह बौद्धों को उत्पीड़ित करने वाला था और उसने मठों को नष्ट किया। इस प्रकार *राजतरंगिणी* में सुरक्षित मिहिर कुल के अत्याचार की कहानियाँ युवानचांग के वर्णन से भी मिलती हैं। यह संभव लगता है कि मिहिरकुल ने मथुरा के जैन स्तूपों, मंदिरों और मूर्तियों को भी नष्ट किया हो जैसाकि पुरावशेषों से जानकारी मिलती है। साहित्यिक और पुरातात्त्विक पुराणों से ज्ञात होता है कि छठी से दसवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में जैन धर्म का धीर-धीरे ह्रास होता गया। बिहार, बंगाल और उड़ीसा में जैन धर्म लुप्त होना शुरू हुआ। राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में जैन धर्म के अस्तित्व की सीमित सामग्री मिलती है।

4. *वीर शैव और श्री वैष्णव आचार्यों की प्रवृत्तियाँ* – सातवीं शताब्दी के पश्चात् दक्षिण के सब भागों में शैव धर्म का एकाएक उत्थान हुआ। वीर शैव और वैष्णव आचार्यों की आक्रामक धार्मिक प्रवृत्तियों से जैन धर्म का पतन हुआ। दक्षिण के अलग-अलग क्षेत्र जैसे तमिल, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में विशेष कारण थे

जिनकी वजह से जैन धर्म का पतन हुआ। इसका क्रमशः सामान्य पतन वृहत् पैमाने पर तेरहवीं सदी से माना जा सकता है।

विभिन्न क्षेत्रों में पतन के विशेष कारण

तमिलदेश

जैन धर्म को तमिलदेश में बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। यह समय सातवीं और आठवीं शताब्दी से शुरू हुआ और उसके विरोधी ब्राह्मण धर्म शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के नेता थे। करीब उसी समय अप्पर और समन्थर के नेतृत्व में शैव धर्म के प्रवर्तकों ने जैन धर्म के अनुयायियों पर निर्दयता से आक्रमण किया। पल्लव और पाण्ड्य राज्यों में भी उनको अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम और पाण्ड्य राजा मारवर्मन या सुन्दर पाण्ड्य ब्राह्मण धर्म में परिवर्तित हो गये।

इससे जैन धर्म को बहुत बड़ा धक्का लगा। जैन धर्म को चुनौती दी गई, जैन धर्म के बारे में प्रश्न चिह्न लगाया गया और जैन धर्म की क्रियाओं को सब जगह बुरा कहा गया। वाद-विवाद उठे, विरोधी सम्प्रदायों में आपस में उच्चता के लिये झगड़े भी खड़े हुए। प्रमाण मांगे गये और कभी-कभी दिव्य परीक्षा और चमत्कारों का भी प्रयोग किया गया। विजेता होने वाला राज्य, सत्ता के पक्ष के कारण अन्याय व अत्याचार के कृत्यों में भाग लेता था। हारे हुए का पीछा किया जाता था और उनको मार भी दिया जाता था।[2]

जैन धर्म के घोर विरोधी प्रसिद्ध साधु तिरुम्यन सम्बन्दर के बहकाने पर सातवीं सदी के मध्य के पाण्ड्य वंश के सुन्दर राजा ने बड़ी निर्दयता से आठ हजार निर्दोष जैनियों को बुरी तरह मार दिया। इस खूनी घटना की स्मृति लगातार जीवित रखी गई। मदुराई के प्रसिद्ध मीनाक्षी मंदिर की दीवारों के चित्रों द्वारा यह प्रगट होता है। केवल इसी घटना से जैनियों को नीचा नहीं दिखाया गया बल्कि मदुराई मंदिर के बारह वार्षिक पर्वों के पांच पर्वों में श्रावकों को जुलूस में दंडित करते हुए भी दिखाया गया है।[3]

पेरियपुरम् और अन्य ब्राह्मणों के साहित्यिक ग्रंथों में जैनियों पर किये गये अत्याचारों का वर्णन किया गया है। इस समय में इनका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। मदुरा के *स्थल पुराण* में जैनियों और शैव अनुयायियों के विरोधी संबंधों का वर्णन किया गया है।[4] ब्राह्मण आचार्य शंकराचार्य ने जैन धर्म के सिद्धांतों का कड़ा विरोध किया। पाटन की

---

2. पी॰बी॰ देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स,* पृ॰ 81-82.
3. ए॰संघवे विलास, *जैन कम्युनिटी – ए सोशल सर्वे,* पृ॰ 386-87.
4. पी॰बी॰ देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स,* पृ॰ 81-82.

अनुश्रुतियों में वर्णन मिलता है कि शंकराचार्य ने नगर के अनेक साधुओं को पीड़ित किया और जिस स्थान पर यह घटना घटी वह "लाचोचार" के नाम से जाना जाता है।

आंध्र प्रदेश

विजयवाड़ा के परिच्छेदी पशुपति शासक, धन्य कटक के कोट राजा और वारंगल के काकतीय आंध्र प्रदेश से जैन धर्म को लुप्त कराने के लिये उत्तरदायी हैं।[5] तेलुगू देश में जैनियों का सबसे बुरा समय वारंगल के काकतीय राजा गणपति देव (1199-1290 ई॰) का था। जिसके परिणामस्वरूप *तेलुगू महाभारत* के लेखक टिकन सौमय्य के हाथों धार्मिक वाद-विवाद में हार हुई जिससे जैनियों ने अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति को खो दिया।[6] 1071-72 ई॰ के एक अभिलेख में चोल सेना द्वारा युद्ध के दिनों में जैन मंदिरों के नष्ट होने का विवरण है।[7]

दो अभिलेखों[8] से हमें वीर शैवाचार्य एकान्तद रामय्य के बारे में जानकारी मिलती है जिसने कलचुरि राजा विज्जल को प्रभावित करके जैनियों पर बहुत बड़े अत्याचार किये। उसने जैन मूर्ति को फेंक दिया और अब्लूर में शिवलिंग स्थापित कर दिया। उसने एकान्तद रामय्य को विजय-पत्र प्रदान करके प्रोत्साहित किया।[9] इसी अभिलेख से यह जाना जाता है कि अंतिम चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ वीर शैव धर्म का अनुयायी हो गया। यह भी जाना जाता है कि जैन मंदिरों के अवशेषों से विष्णु और शिव के मंदिर निर्मित किये गये। आंध्र प्रदेश की अन्मकोंड की पहाड़ी का पद्मावती मंदिर ब्राह्मणों के अधिकार में आ गया।[10] कोल्हापुर के महालक्ष्मी मंदिर में पार्श्वनाथ के मंदिर से संबंधित अभिलेख इस मंदिर के स्तम्भों पर अंकित हैं।[11]

आन्ध्र प्रदेश[12] में जैन धर्म के इतिहास का अवलोकन करने पर पता चलता है कि किस प्रकार कैफ़ियत और स्थानीय विवरण अनेक स्थानों का उल्लेख करते हैं और यह भी बतलाते हैं कि किस प्रकार से जैनियों का वध किया जाता था।

जैनियों के विरुद्ध घृणा फैलाई जाती थी और उन्हें तंग किया जाता था। यह क्रम

---

5. ए॰संघवे विलास, *जैन कम्युनिटी – ए सोशल सर्वे*, पृ॰ 387.
6. बी॰ए॰ सेलीटोर, *मेडिवल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर*, पृ॰ 272.
7. *जै॰शि॰सं॰*, IV, पृ॰ 25.
8. वही, III, सं॰ 435-36.
9. वही, III, सं॰ 435.
10. वही, IV, सं॰ 117.
11. वही, IV, सं॰ 222.
12. पी॰बी॰ देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एंड सम जैन एपिग्राफ्स*, पृ॰ 40.

सोलहवीं सदी तक चला। इसका पता श्री शैलम के अभिलेख से लगता है जिसमें बतलाया गया है कि वीर शैव राजा श्वेताम्बर जैनियों के मस्तक काटकर अपनी इन उपलब्धियों के लिये गौरवान्वित होता था।

अन्य अभिलेखों से भी इसी प्रकार का प्रमाण मिलता है। श्री शैलम के समीप एलमपल्ले के 1529 ई॰ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि किस प्रकार से मल्लिकार्जुनदेव के अनुयायी ने षट्दर्शन स्थापित किये और जो श्वेताम्बर जैनियों के मस्तकों के प्रति जानलेवा था।

कर्नाटक

कर्नाटक में जैन धर्म के आश्रयदाता वंश जैसे राष्ट्रकूट, गंग और होयसल का राजनैतिक पतन हो गया। इन्होंने बहुत लम्बे समय तक जैन धर्म के उत्थान में योगदान दिया। इन राजवंशों के पतन से जैन धर्म को बहुत बड़ा धक्का लगा।

कर्नाटक में भी जैन अपने पूर्वजों के धर्म का शांतिपूर्वक अनुसरण नहीं कर सके विशेषकर एकान्तद रामय्य की सैनिक प्रवृत्तियों के कारण। इसकी जानकारी हमें समकालीन साहित्य अभिलेख और मूर्तियों से होती है। जिस धर्म का बड़ा नुकसान एकांतद रामय्य ने किया उसको वीर गोग्गी देव और वीरू पारस ने और अधिक भड़काया।

वीरबणजिगा व्यापारी वर्गों का जैन धर्म से वीर शैव में परिवर्तन होने से भी जैन धर्म पतन की ओर जल्दी से अग्रसर हुआ। इस प्रकार कर्नाटक में अनेकांत मत का राजनैतिक बुद्धिमानी से पतन हो गया। इसमें संदेह नहीं कि वीरबणजिगा में बहुत वर्षों से कर्नाटक के मध्यम वर्ग के शक्तिशाली और समृद्ध लोग थे। उनकी स्वामीभक्ति और समृद्वि ने कर्नाटक में जैनियों की कला और स्थापत्य की उन्नति में भी योगदान दिया, और उनकी प्रतिष्ठा और वैभव भी बनाये रखा। जब बसव के अनुयायियों ने व्यापारी वर्ग के लोगों को अनेकांत मत से विमुख किया तो कर्नाटक में जैन धर्म का अस्तित्व रहना कठिन हो गया। अन्य वर्ग के लोगों में इतनी क्षमता नहीं थी कि वे जैन धर्म की सुरक्षा कर सकें। केवल वीरबणजिगा ही जैन धर्म को बचा सकते थे।

इस समय सामन्त परिवारों का भी जैन धर्म से वीर शैव धर्म में परिवर्तन हुआ। बसव के क्रूर तरीकों ने भी जैन धर्म को बड़ी क्षति पहुंचाई क्योंकि शैवाचार्यों ने इसके लिये उन्हें प्रोत्साहन दिया। उसके उत्तराधिकारियों ने शान्त तरीकों से सान्तरों, चंगवाल, कारकल के भैख ओडेयर्स, कुर्ग के राजा और अन्य छोटे राजाओं को जैन धर्म से वीर शैव धर्म की ओर आकर्षित किया। इस प्रकार से राजकीय लोगों और सामन्तों को शैव धर्म में परिवर्तित किया गया जिसकी जानकारी प्रसिद्ध वीर शैव आचार्य एकान्तद रामय्य के

विवरण में बतलाई गई है। केसीराज चम्पू 1195 ई० के अंकित अभिलेख में इसका वर्णन करता है।

जैन प्रचारक ब्राह्मण धर्म की पुनरावृत्ति विशेषकर वीर शैव धर्म के प्रति विमुख रहे जिसके परिणामस्वरूप जैन धर्म के हितों को बड़ा नुकसान पहुंचा। इस समय जैन धर्म ऐसे आचार्य उत्पन्न नहीं कर सका जो कर्नाटक में ब्राह्मण धर्म के अगुवाओं के कारण पुनरावृत्ति को समझ सके जैसाकि तमिलदेश में नयनारों ने किया था।[13]

चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जैनियों को बहुत तंग किया गया। इस कारण उन्होंने अपनी रक्षा के लिये विजयनगर के राजाओं से प्रार्थना की। विजयनगर के राजा बुक्क प्रथम ने मध्यस्थता की और राज्य में जैनियों के पक्ष में परिस्थितियां पैदा कर दीं।[14]

बिहार

चोल सैनिक राजेन्द्र चोल के नेतृत्व में आक्रमण करने के लिये आगे बढ़े और 1023 ई० में बंगाल के महिपाल को हराकर लौटे तो उन्होंने मनभूम जिले में जैन मंदिरों और मूर्तियों को नष्ट किया। पाण्ड्य कट्टर मूर्तिभंजक थे। इस क्षेत्र में लिंगायत शैव धर्म के उत्थान से भी छोटा नागपुर क्षेत्र में जैन धर्म का पतन हुआ।[15]

इसमें संदेह नहीं कि मुसलमानों के आक्रमण ने बिहार में जैन धर्म के डांवाडोल ढांचे को अंतिम धक्का दिया। उनके आक्रमण के समय मुहम्मद-बिन-बख्त्यार ने बंगाल और बिहार को जीत लिया और अनेक मंदिरों को धराशायी कर दिया। उनके आक्रमणों के कारण जैन धर्म को बहुत नुकसान हुआ और उनके अनुयायियों की संख्या कम हो गई।[16]

चोल राजा राजेन्द्र देव और मुहम्मद-बिन-बख्त्यार के आक्रमणों के कारण सिंघभूम और मनभूम (धनबाद) जिले शेष जैन समुदाय से अलग हो गये। यद्यपि इन जिलों के लोगों ने अपने धर्म को बदल लिया किन्तु उन्होंने अपनी परम्पराओं को बनाये रखा। वे अपने आप को श्रावक या सारक कहते थे। केवल इनकी प्राचीन परम्परा ने ही इनके प्राचीन विश्वास को कायम रखा जो जैन धर्म था।

ग्यारहवीं सदी में रचित *प्रबोध चन्द्रोदय* नाटक के लेखक का कहना है कि ब्राह्मणों के अत्याचारों के परिणामस्वरूप दिगम्बर जैन पंचाल, मालवा, अबूर और आनर्त की ओर चले गये। यह नाटक चन्देल राजा कीर्तिवर्मन की राज्यसभा में खेला गया था और

13. बी.ए. सेलीटोर, *मेडिवल जैनिज्म विथ स्पेशल रेफरेन्स टू विजयनगर एम्पायर,* पृ०
14. पी.बी. देसाई, *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एंड सम जैन एपिग्राफ्स,* पृ०
15. पी.सी. राय चौधरी, *जैनिज्म इन बिहार,* पृ० 59.
16. बी० के० तिवारी, *हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म इन बिहार,* पृ०

इसलिये इसके प्रमाण का वास्तविक महत्त्व है। ऐसा विश्वास करना ठीक लगता है कि 1000 ई॰ तक बिहार क्षेत्र के बहुत से स्थानों से जैन धर्म पूरा लुप्त हो गया था।[17]

प्राचीन समय में ऐसा बौद्धिक विघटन हुआ कि जैन अपनी वास्तविक अनुश्रुतियों को भूल गये और जैन तीर्थंकर महावीर के वास्तविक जन्म-स्थल को भी भूल गये। दिगम्बर जैन लेखक मदनकीर्ति (तेरहवीं सदी) अपने काव्य ग्रंथ *शासन चतुष्विंशतिका* में 26 जैन तीर्थों का वर्णन करता है किन्तु उसमें कुण्डपुर या वैशाली का उल्लेख नहीं मिलता है। *विविध तीर्थकल्प* के लेखक जिनप्रभ सूरि ने भी उत्तर बिहार के जैन केन्द्रों, जिनमें वैशाली भी शामिल है, को कोई महत्त्व नहीं देता। बाद का श्वेताम्बर ग्रंथ *तीर्थ माला चैत्य वन्दना* (सत्रहवीं सदी), जो 76 प्राचीन जैन तीर्थों का उल्लेख करता है, वैशाली या कुण्डपुर के नाम नहीं देता है। लोग उज्जयिनी को ही विशाला या वैशाली मानने लगे और उज्जैन के समीप बदनावर को वर्द्धमानपुर।

कुछ अन्य सामान्य कारण

विभिन्न क्षेत्रों के विशेष कारणों के अतिरिक्त जैन धर्म के पतन के सामान्य कारण भी थे –

1. *मुस्लिम आक्रमण* – मुस्लिम आक्रमणों ने भी जैन धर्म को नुकसान पहुंचाया। भारत पर आक्रमण करते समय महमूद गज़नवी ने शहरों के जैन मंदिरों को नष्ट किया। 1009 ई॰ में उसने नारायण (नरेणा) के विरुद्ध सेना भेजी और बड़ी निर्दयता से जैन मूर्तियों का विध्वंस किया। शायद 1024 ई॰ में लोद्रवा के चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मंदिर को नष्ट किया। जब उसने अपनी सेना के साथ सोमनाथ पर आक्रमण किया तब सांचोर और चन्द्रावती के जैन मंदिर उसकी सेनाओं के द्वारा लूटे गये। मथुरा और कन्नौज पर आक्रमण करते समय उन्होंने इन नगरों के जैन मन्दिरों को भी नष्ट किया।

   मोहम्मद गोरी ने 1178 ई॰ में पश्चिमी राजस्थान पर आक्रमण किया और 1192 ई॰ में सपादलक्ष के अनेक जैन मंदिरों को नष्ट किया।[18] *उपकेश गच्छ प्रबंध* से यह ज्ञात होता है कि मोहम्मद गोरी की सेना ने चलते हुए 1195 ई॰ में ओसिया को नष्ट किया। ऐसा ज्ञात होता है कि मोहम्मद गोरी के हाथों चौहानों की हार से अजमेर, सांभर, नाडोल, नरहड और बयाना के जैन मंदिरों को बड़ा नुकसान पहुंचा। तेरहवीं सदी के लेखक मदनकीर्ति अपने ग्रंथ *शासन चतुष्विंशतिका* में

---

17. *के॰हि॰जै॰*, पृ॰ 169.
18. *तुलसी प्रज्ञा,* XXIII, नं॰ 2 जुलाई-सितम्बर, 1997.

सूचित करते हैं कि किस प्रकार से इल्तुतमिश ने मालव देश के[19] मंगलपुर के अभिनंदन तीर्थ को नष्ट किया। अलाउद्दीन खिलज़ी की सेनाओं ने क्रूरता से मूंगथला, जीरावल, आबू, चित्तौड़, रणथम्भौर, जालौर और अन्य स्थानों के जैन मंदिरों को नष्ट किया। बाबर के आदेशों से मीर बक्शी ने ग्वालियर के समीप उर्वा[20] की जैन मूर्तियों को नष्ट किया। मुगल सैनिकों ने सिरोही क्षेत्र में भी बहुत अत्याचार किये और 1576 ई० में 1000 से अधिक कांसे की जैन मूर्तियों को अपने साथ ले गये।[21]

2. *मुस्लिम शासन* – मुसलमानों ने अपने शासन में गैर मुसलमान, जिनमें जैन भी शामिल थे, के लिए एक निश्चित धार्मिक नीति अपनाई। वे जैनियों से जज़िया नाम का विशेष कर एकत्रित करते थे। अधिकतर मुस्लिम शासकों ने जैनियों के तीर्थ-स्थलों से यात्रा-कर वसूल किया। जैन मंदिरों की मरम्मत करवाना बन्द हो गया और साथ में नये जैन मन्दिरों का निर्माण भी। जैन मूर्तियों की आम पूजा बंद करवा दी गई। भारत की बहुत सी सुन्दर मस्जिदें जैन मंदिरों को तोड़कर उनके पत्थरों से बनवाई गई थीं जिन्हें मुसलमानों ने बड़ी निर्दयतापूर्वक नष्ट किया था। मुस्लिम शासन के समय अनेक लोग, जिनमें कुछ जैनी भी थे, बलपूर्वक इस्लाम धर्म को मानने के लिए बाध्य किये गये। इस प्रकार कुछ क्षेत्रों में मुस्लिम शासन के समय जैनियों को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी।

3. *धार्मिक विघटन* – जैन समुदाय की शक्ति विभिन्न धार्मिक विघटनों के कारण भी कमजोर हुई। 81 ई० तक जैन संघ एक था किन्तु बाद में इसके दो मुख्य विभाजन हो गये, श्वेताम्बर और दिगम्बर। ये सम्प्रदाय बाद में छोटे-छोटे वर्गों जैसे गणों और गच्छों में विभाजित हो गये ओर समाज में ये वर्ग साधुओं के आपसी मतभेदों से अधिक हुए। इसमें संदेह नहीं कि कुछ विभाजन इस अर्थ में क्रांतिकारी थे कि उन्होंने पूर्ण रूप से मूर्ति पूजा का त्याग करने पर जोर दिया और केवल ग्रंथ पूजा को ही महत्त्व दिया। इन सब सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों का दर्शन एक प्रकार से सामान्य था। फिर क्या कारण है कि इन समुदायों में विभाजन हुआ? वास्तव में साम्प्रदायिक भावना इतनी उभरकर आ गई थी कि विभिन्न सम्प्रदाय एक-दूसरे से घृणा ही नहीं करते थे अपितु जो दूसरे कहते थे उसे ग्रहण भी नहीं करते थे। स्वभावतः जैन हमेशा सम्प्रदाय व उपसम्प्रदाय के बारे में ही सोचते थे,

---

19. *प०जै०प्रा०इ०*, पृ० 403-05.
20. *द रेलिज्यिस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्परर्स*, पृ० 9.
21. वही, पृ० 15.

समस्त जैन धर्म पर विचार नहीं करते थे। इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि कोई ऐसा शक्तिशाली सामान्य बंधन नहीं था जो सब जैनियों को साथ ला सके।[22]

4. *सामाजिक विभाजन* – आरंभ में जैनियों के सामाजिक संगठन की व्यवस्था कर्मों की भिन्नता पर आधारित थी। समाज में जन्म व्यक्ति की प्रतिष्ठा निश्चित करने में कसौटी नहीं मानी जाती थी। मथुरा के कुषाण अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म बिना जाति-पांति के भेदभाव के पालन किया जाता था जो भिन्न-भिन्न धंधों में संलग्न थे। जैनियों में धातुकर्मी, लुहार, स्वर्णकार, बढ़ई, किसान, कुम्हार, सुगंधी, नृत्यकार, व्यापारी, आदि थे किन्तु बाद में पूर्व मध्य काल में अनेक जातियों और उपजातियों का जैन समुदाय में उद्‌भव हुआ। स्वभावतः इन जातियों ने लोगों में अलग-अलग भावनाएं उत्पन्न कर दीं। जातियों में सांस्कृतिक खाई पैदा कर दी जिसने समुदाय में सामाजिक एकता के लिये बाधा खड़ी कर दी।[23] मध्यकाल में ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से जैन धर्म की नई जातियों का बनना बन्द हो गया। इससे धीरे-धीरे जैनियों की संख्या कम हो गई। इसके परिणामस्वरूप जैन धर्म का पतन हुआ।

5. *श्रावकों और साधुओं में नैतिकता का अभाव* – प्राचीन समय में जैन साधु कुन्दकुन्द और समन्तभद्र ने जैन धर्म के प्रचार में बड़ा उत्साह दिखाया। श्रावक भी जैन धर्म के प्रति बड़े समर्पित थे। किन्तु बाद में साधु और श्रावक दोनों अपने नैतिक कर्त्तव्यों को निभाने में नरम हो गये। इससे जैन धर्म का पतन हुआ।

   जैन आचार्य हरिभद्र सूरि[24] और जिनवल्लभ सूरि[25] ने लोगों का ध्यान जैन साधुओं की कमियों की ओर आकर्षित किया। वे मंदिर में निवास करते थे और अपने व्यक्तिगत हित के लिये सम्पत्ति का उपयोग करते थे। वे चमकीले और खुशबूदार वस्त्र भी पहनते थे। वे श्रावकों द्वारा लाया हुआ खाना या मिठाई खाते थे। वे धन एकत्रित करते थे और स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेते थे। वे संचित जल और फल-फूल का प्रयोग करते थे। वे मूर्तियों को बेचते थे और बच्चों को अपना शिष्य बनाने के लिए खरीदते थे।

   सोमदेव सूरि *यशस्तिलक चम्पू* (वि॰सं॰ 1090) में और पंडित आशाधर *अंगार धर्मामृत* में साधुओं और श्रावकों के नैतिक पतन का उल्लेख करते हैं। भट्टारक

---

22. ए॰संघवे विलास, *जैन कम्युनिटी – ए सोशल सर्वे*, पृ॰ 387-88.
23. वही, पृ॰ 388.
24. *संबोध प्रकरण*, पद 27, 34, 46, 49, 61, 63, 68 इत्यादि।
25. *संघ पट्टिक*, पद 7, 11, 12, 15, 21 इत्यादि।

सुख का भोग करते थे और श्रावकों से विभिन्न प्रकार से धन प्राप्त करते थे। बनारसीदास[26] ने इन क्रियाओं के विरुद्ध विद्रोह किया और जैन धर्म में अनेक सुधारों को प्रतिपादित किया।

जैन धर्म के अस्तित्व के कारण

1. *संघ का व्यवस्थित संगठन* – संभवतः जैन धर्म के अस्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था कि महावीर में संघ को संगठित करने की बड़ी योग्यता थी। संघ चार वर्गों में विभाजित था – 1. साधु, 2. साध्वी, 3. श्रावक, 4. श्राविका। ये वर्ग एक दूसरे से आपसी संबंधों के कारण जुड़े हुए थे। साधुओं और श्रावकों के लिए एक ही प्रकार के व्रत निर्धारित किये गये थे। अन्तर केवल यह था कि साधुओं को उनका अनुसरण कड़ाई से करना पड़ता था जबकि श्रावक उनका पालन ढिलाई से करते थे। साधु श्रावकों के धार्मिक जीवन को नियंत्रित करते थे और श्रावक लोग साधुओं के चरित्र पर कड़ा नियंत्रण रखते थे। साधु लोग सांसारिक मामलों से अपने आप को पूर्णतया अलग रखते थे और साधु जीवन का उच्च स्तर बनाये रखते थे। अगर वे निर्धारित स्तर का पालन नहीं करते थे तो उनको अपने स्थान से हटा दिया जाता था। साधुओं और श्रावकों में एकता धार्मिक कर्त्तव्यों में बनी रही। उनमें अंतर प्रकार में नहीं था किन्तु मात्रा में था। इसने जैन धर्म को सैद्धांतिक परिवर्तन से बचाए रखा और करीब 2500 वर्षों तक जैन धर्म को कोई नुकसान नहीं हुआ।

2. *रूढ़िवाद* – जैन धर्म के अस्तित्व का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण इसमें परिवर्तन नहीं होने का रूढ़िवाद था। सैकड़ों वर्षों से जैन धर्म मूल संस्थाओं और सिद्धांतों पर अडिग रहा। जैन धर्म के मूल सिद्धांतों में वास्तव में कोई परिवर्तन नहीं हो सका। यद्यपि साधुओं और श्रावकों के जीवन और क्रियाओं में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए जैसे कुछ का प्रयोग कम हो गया और कुछ लुप्त हो गईं। इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं कि जैन समुदाय का धार्मिक जीवन आज भी वास्तविकता में वही है जो 2500 वर्ष पूर्व था। यह कड़ा धार्मिक निर्धारण जैन स्थापत्य और जैन मूर्तियों में भी देखा जाता है। जैन मूर्तियों की शैली हजारों वर्षों बाद भी एक ही प्रकार की देखी जाती है और उसमें कोई अंतर नहीं है।

3. *जैन धर्म को राजकीय आश्रय* – प्राचीन और मध्य युग में देश के विभिन्न भागों में जैन धर्म को जो राजकीय आश्रय प्राप्त हुआ उसके कारण निःसन्देह जैन

---

26. *बनारसी विलास*।

धर्म का अस्तित्व बना रहा। प्राचीन समय में कर्नाटक, गुजरात और राजस्थान जैन धर्म के गढ़ बने रहे क्योंकि यहाँ के अनेक राजा, मंत्री और सेनापति जैन थे जो अपनी योग्यता के लिए प्रसिद्ध थे। जैन राजाओं के अतिरिक्त अनेक जैनेतर राजाओं ने भी जैन धर्म के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया। राजस्थान के कुछ अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म के सिद्धांतों के पालन के लिये पूरे वर्ष में पशुओं के वध को रोकने के लिये कुछ नगरों में आदेश दिये गये और हरेक वर्ष की वर्षा ऋतु के चार महीनों में तेल की घाणी और कुम्हारों के चक्के का कार्य करना बन्द करवा दिया गया था। दक्षिण से अनेक अभिलेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि जैनेतर राजा भी जैनियों को अपने धर्म का पालन करने के लिये सहूलियतें देते थे। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विजयनगर सम्राट् बुक्कराय प्रथम का 1368 ई॰ का अभिलेख है। जब वहाँ सब जिलों के जैनियों ने वैष्णवों के अत्याचारों से रक्षा करने के लिए प्रार्थना की तो वहाँ के नरेश ने दोनों सम्प्रदायों के नेताओं को बुलाया और सूचित किया कि उनमें आपस में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए और उनको धार्मिक क्रियाओं का पालन समान स्वतंत्रता के साथ करना चाहिए।

4. *जैन साधुओं के उच्चादर्श* – अनेक प्रसिद्ध जैन साधुओं ने अपने विभिन्न कार्य-कलापों से जैन धर्म के अस्तित्व में योगदान दिया। वे जैन धर्म का समस्त भारत में प्रचार करने के लिये उत्तरदायी थे। विद्वान् जैन साधुओं ने जैन धर्म के नैतिक सिद्धांतों का प्रचार देश की विभिन्न भाषाओं में पवित्र साहित्य लिखकर किया। जैन साधुओं की साहित्यिक और प्रचार करने की क्रियाओं से अंत में दक्षिण भारत में ब्राह्मण धर्म की पुनरावृत्ति का सामना करने के लिये और लम्बे समय तक स्थिति को मजबूत करने में सहायता मिली। दक्षिण के महत्त्वपूर्ण जैन साधु और लेखक कुंदकुंद, उमास्वाति, समंतभद्र, पूज्यवाद, अकलंक, विद्यानंदिन, माणिक्यनंदिन, प्रभाचन्द्र, जिनसेन प्रथम, गुणभद्र, सोमदेव, पम्प और रन थे। इन महान पुरुषों में आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अकलंक जैन धर्म के प्रचार में बहुत उत्साही थे। दूसरी सदी ई॰ में समन्तभद्र ने समस्त भारत वर्ष का भ्रमण किया और विरोधियों को कांची में वाद-विवाद में हराया। राजनैतिक विषयों में भी जैन साधु बहुत रुचि लेते थे और जब आवश्यकता होती थी तब लोगों का पथ-प्रदर्शन भी करते थे। गंग और होयसलों ने जैन आचार्यों से नये राज्य स्थापित करने में प्रेरणा प्राप्त की। जैन आचार्यों ने अपनी व्यक्तिगत स्पर्द्धाओं में भी प्रतिभा स्थापित की। आचार्य पूज्यपाद ने जिन 37 कला और विज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त की उनके नाम *पूज्यपाद चरित* ग्रंथ में दिये हुए हैं। सातवीं सदी के प्रसिद्ध यात्री

युवानचांग ने सुन रखा था कि प्राचीन समय के निर्ग्रन्थ (जैन साधु) दिव्य-शक्ति में प्रवीण थे। स्वभावतः राजा और प्रजा में जैन साधुओं के प्रति बड़ा सम्मान देश के विभिन्न भागों में था। देहली के मुस्लिम सम्राट् भी उत्तर और दक्षिण भारत के जैन संतों का आदर करते थे। राजस्थान के राजा लोग जैन आचार्यों को आमंत्रित किया करते थे और अपनी राजधानियों में उनका राजकीय स्वागत करते थे। इसमें आश्चर्य नहीं कि ऐसे प्रभावशाली जैन साधुओं के चरित्र और क्रिया-कलापों ने जैन धर्म के अस्तित्व के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर दिया।

5. *जनता में सुनाम* – जैन धर्म अपने अस्तित्व के लिये अन्य धर्मों के अनुयायियों के सुनाम पर भी निर्भर रहा। जैन विभिन्न प्रकार से, जैसे जनता को शिक्षित कर और अनेक धार्मिक संस्थाओं को स्थापित कर, लोगों के दुःख और तकलीफ़ों को दूर करते थे। आरंभ में जैनियों ने अपने कुछ मुख्य सिद्धांत बना लिये, जैसे चार प्रकार से दान देना, बिना किसी जाति-पांति के भेदभाव के – आहार, अभय, औषधि और विद्या दान। कुछ विद्वानों के अनुसार यह दान-पद्धति जैन धर्म के प्रचार का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था। इसके लिये जहाँ कहीं वे अधिक संख्या में थे वहाँ उन्होंने आहार गृह, धर्मशालाएं, अस्पताल और विद्यालय स्थापित किये। लोगों को शिक्षित करने का श्रेय जैनियों को जाता है क्योंकि जनता को शिक्षित करने में उनका बहुत बड़ा हाथ है। अनेक अवशेषों से ज्ञात होता है कि जैन साधुओं का दक्षिण देशों में, जैसे आंध्र, तमिल, कर्नाटक और महाराष्ट्र में बच्चों को शिक्षित करने में बहुत बड़ा हाथ रहा है। दक्षिण में बच्चों के लिये अक्षर ज्ञान शुरू करने के पश्चात् जैन सूत्र "ओम नमः सिद्धम्" से ज्ञात होता है कि मध्यकाल के जैन आचार्यों ने जनता की शिक्षा पर इतना पूर्ण नियंत्रण कर लिया था कि हिन्दुओं ने भी जैन धर्म के पतन के पश्चात् जैन सूत्र को ही चालू रखा।

6. *ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के साथ गूढ़ संबंध* – अन्य महत्त्वपूर्ण कारण जिससे जैन धर्म का अस्तित्व रहा वह है जैनियों का ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के साथ गूढ़ और सहिष्णुता के संबंध रखना। इसके परिणामस्वरूप जैन धर्म, ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म इतनी सदियों तक साथ-साथ फले-फूले। यह स्वाभाविक है कि इन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया। इन सिद्धांतों ने जैसे पुनर्जन्म और निर्वाण के सिद्धांत, स्वर्ग, पृथ्वी और नरक का सिद्धांत और यह सिद्धांत कि निर्धारित नियम के अनुसार धर्म के पैगम्बरों का जन्म होता है – इन तीनों धर्मों को समानताएं प्रदान कीं। भारतवर्ष से बौद्ध धर्म के लुप्त होने के पश्चात् जैन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी एक-दूसरे के और अधिक समीप आये।

इसी कारण सामाजिक और धार्मिक जीवन में जैन ब्राह्मण धर्म अनुयायियों से अधिक भिन्न नहीं दिखते। अनेक विषय जैसे अंधविश्वास और क्रियाएँ, धार्मिक उत्सव और व्रत, उद्योग-धंधे, वस्त्र और आभूषण, संस्कार और भाषा और जीवन के संबंध में सामान्य दृष्टिकोण दोनों धर्मों के अनुयायियों में समान रूप से मौजूद हैं। ऐसी निश्चित जातियाँ भी हैं जिनके सदस्य दोनों धर्मों को मानते हैं, और जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों में कुछ सीमा तक विवाह संबंध भी देखे जाते हैं।

7. *स्थानीय क्रियाओं का पालन* – यह भी देखा जाता है कि जैनियों के सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों में जैनेतर तत्त्वों का भी अंतःसंचरण हो गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनियों ने आंख मूंदकर जैनेतर तत्त्वों को ग्रहण कर लिया। संभव है कि जैनियों ने जैनेतर तत्त्वों के अंतःसंचरण की स्वीकृति दी क्योंकि बदली हुई परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करना था। इसका कारण है कि जैनियों ने यह जानकर अपने कुछ लोगों को स्पष्टतः जैनेतर रीति-रिवाज़ अपनाने के लिये अनुमति दी।

जैन धर्म के जो नये अनुयायी थे उनके लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे पहले की क्रियाओं का पूर्ण रूप से बहिष्कार करें और तुरंत जैन रीति-रिवाज़ों का अनुसरण करें। जैनियों की संख्या बढ़ाने के लिये कुछ छूट भी दी गई। यद्यपि धर्म विरोधी प्रवृत्तियाँ चालू रहीं, किन्तु जैनियों की संख्या बढ़ती गई। कुछ ब्राह्मण धर्म की क्रियाओं का भी अनुसरण किया गया, यद्यपि वे जैन धर्म के विरुद्ध थीं। जैन आचार्यों के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि यदि नया जैन धर्म का अनुयायी एकाएक अंधविश्वासों को नहीं त्याग सके तो भी उसका मिश्रित स्वागत करना चाहिए किन्तु उसका एकदम बहिष्कार किया जाना ठीक नहीं है।

आपात्काल के समय धर्म और जीवन को सुरक्षित करने के लिए कभी-कभी धार्मिक क्रियाओं में परिवर्तन किया गया और जैनियों को उसी मार्ग की ओर चलना पड़ा। प्राचीन समय में ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों ने जैन साधुओं और गृहस्थों के प्रति अनेक अत्याचार किये। ऐसी परिस्थितियों में जैनियों ने ब्राह्मणों की लालची प्रवृत्तियों में शरण ली और सामाजिक क्रियाओं को करने के लिये ब्राह्मणों को रखना शुरू किया। कुछ जैनियों के द्वारा ब्राह्मणों को विवाह और अन्य प्रकार के संस्कार करने के लिये देश के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न अवस्थाओं में रखा गया। कुछ जैन-मंदिरों में पूजा करने के लिये नियुक्त किये गये। ब्राह्मणों की घृणा को शान्त और निर्मल करने के लिये जैन ग्रंथो में कुछ ब्राह्मणीय कर्मकाण्डों को जोड़ा गया। संभवतः जैन धर्म और जैन समुदाय के अस्तित्व के लिये ऐसी

परिस्थिति में यही एक मार्ग था। कुछ ब्राह्मण देवी-देवताओं को जैन-मंदिरों में इसी उद्देश्य के लिए छोटा स्थान दिया गया। उनका क्षेत्रपाल नाम रखा गया जैसे उस स्थान के रक्षक।

जैन धर्म के लिये यह असंभव था कि स्थानीय रीति-रिवाज़, विश्वास और पूजा का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। थोड़े से जैनियों को जैनेतरों के बीच में रहना था, इस कारण उनके लिये आवश्यक था कि वे ब्राह्मण धर्म के रीति-रिवाज़ों को स्वीकार करें। इसी कारण से जैनियों ने जनेऊ पहनना और ब्राह्मण पर्वों में भाग लेना, मृत लोगों की स्मृति रखना और मृत्यु के दसवें दिन कौवों को चावल का पिण्ड देना, आदि शुरू कर दिये। ईश्वर से वरदान मांगना, भूत-पलीतों में विश्वास करना, अजैन देवी-देवताओं को पूजना आदि भी स्वीकार किया। इसी प्रकार जैनियों ने जानकर अपने अस्तित्व के लिये जैन रीति-रिवाज़ों में जैनेतर तत्त्वों का अन्तःसंचरण स्वीकार किया। किन्तु ऐसा करने में जहाँ तक हो सका धार्मिक क्रियाओं में पवित्रता बनाये रखने का हर प्रकार से प्रयत्न किया गया। जैन धर्म के अस्तित्व के लिये जैनाचार्यों ने इसका विरोध नहीं किया अपितु उन्होंने जैनियों द्वारा स्थानीय रीति-रिवाज़ों का पालन करने के लिये मौन स्वीकृति दी।

यशस्तिलकचम्पू में सोमदेव का मानना है कि जैन श्रावकों का धर्म दो प्रकार का है – लौकिक और पारलौकिक। पहले वाला लोकप्रिय रीति-रिवाज़ों पर और बाद का ग्रंथों पर आधारित है। जैनियों ने स्वीकृत लोकप्रिय रीति-रिवाज़ों का पालन किया, यदि वे जैन धर्म के मूल सिद्धांतों के विरोध में नहीं आते थे। इस प्रकार स्थानीय रिवाज़ों का पालन कर जैनियों ने विपरीत परिस्थितियों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार बुद्धिमानी के सामंजस्य ने अंत में ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के साथ सौहार्द और अन्तःसंबंध स्थापित कर दिये। इस नीति के द्वारा अत्याचारियों के हाथों जैनी पूर्ण लुप्त होने से बच गये और सैकड़ों वर्षों तक अपने अस्तित्व को बनाये रख सके। जैनियों ने न केवल ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों वरन् अन्यों के साथ भी अच्छे संबंध रखे। जब जैन बहुत लम्बे समय तक सत्ता में थे वे मुश्किल से जैनेतर लोगों पर अत्याचार में शामिल हुए। इस प्रकार से जैन धर्म के पतन के पश्चात् भी जैनियों का अस्तित्व बना रहा।[27]

---

27. ए॰संघवे विलास, *जैन कम्युनिटी – ए सोशल सर्वे*, पृ॰ 377-385.1. अध्याय XXIX, पृ॰ 134.

ग्रंथ-सूची

मौलिक ग्रंथ

अथर्ववेद, संपा॰ सायण की टीका के साथ एल॰पी॰ पंडित, बंबई, 1895-8।

—— अनु॰एम॰ ब्लूमफील्ड, बंबई, जि॰ 42, ऑक्सफोर्ड, 1897।

अनुउगद्वार, चूर्णि, जिनदास गणि, रतलाम, 1928।

——, *टी॰*,हरिभद्र, रतलाम 1928।

——, *टी॰*,मलधारी हेमचन्द्र, भावनगर, 1939।

अंगुत्तर निकाय, संपादक, आर॰ मोरिस एवं ई॰ हार्डी, पी॰टी॰ एस लंदन 1885-90 अनु॰ एफ॰ एल॰ बुडवर्ड एवं इ॰ एम॰ हारे, *द बुक ऑफ द ग्रेजुएल सेइंग्स*, 5 जिल्द पी॰टी॰एस॰ लंदन, 1932-36, 1 और 2 जिल्द 1931।

अन्तगडड्साओ, टी॰ अभयदेव, सम्पादक, एम॰ सी॰ मोदी, अहमदाबाद, 1932, संपादक पी॰एल॰वैद्य, पूना, 1932।

अपदान, संपादक मेरी ई॰ जिल्ले, पी॰टी॰एस॰ लंदन, 1925-27।

असग का वर्धमान चरित, शोलापुर, 1931।

आउपपासिक, संपा॰ एन॰जी॰ सुरू॰, पूना, 1936।

आचारांग – *निर्युक्ति*, भद्रबाहु।

——, *चूर्णि*, जिनदास गणि, रतलाम, 1941।

——, *टी॰शीलांक*, सूरत, 1935।

——, अनु एच॰ याकोबी, *से॰ बु॰ ई॰*, 22 लंदन।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र, संपादक, जी ब्यूह्लर, बंबई संस्कृत सीरीज़, बम्बई, 1892-94।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, *से॰ बु॰ ई॰*, जिल्द, 30।

आश्वलायन गृह्यसूत्र, संपादक ए॰एफ॰ स्टेज्लर, लिपजिंग, 1864।

आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु।

—— *भाष्य*,

—— *चूर्णि*, जिनदासगणि, रतलाम, 1928।

—— *टी॰*,हरिभद्र आगमोदय समिति, बंबई, 1916।

—— *टी॰*,मलयगिरि, आगमोदय समिति, बंबई, 1928।

—— *निर्युक्ति दीपिका*, माणिक्य शेखर, सूरत, 1939।

ओधनिज्जुत्ति टी. द्रोणाचार्य, बम्बई, 1919।
—— *टी.* अभयदेव, द्वितीय संस्करण, सूरत, वि॰ सं॰ 1914।
उत्तराध्ययन निर्युक्ति, भद्रबाहु।
—— *चूर्णि*, जिनदासगणि, रतलाम, 1933।
——, अंग्रेज़ी अनु॰ एच॰ याकोबी, *से. बु. ई.*, 45 देहली, रिप्रिंट, 1964।
——, संपा॰ जे॰ कार्पेण्टर, उप्सल, 1922।
उवासगदसाओ, अंग्रेज़ी अनुवाद ए.एफ.आर॰ होर्नले, कलकत्ता 1888 संपा॰ पी.एल॰ वैद्य पूना, 1930।
ऋग्वेद, संहिता और पद, टी॰ सायण, संपा॰ एफ् मैक्समूलर (द्वितीय संस्करण) 1890-2, संहिता और पद, टी॰ सायण संपा॰ वैद्य संशोधक मंडल, पूना, 4 जिल्द, 1933 आदि।
ऐतरेय ब्राह्मण, सम्पादक के.एल॰ अगर्षे, पूना 1896।
——, अनु.ए.बी.कीथ., एच॰ ओ.एज॰ जिल्द 25, कैम्ब्रिज, 1920।
कल्पसूत्र, अनु॰ एच॰ याकोबी, *से. बु. ई.*, 22, देहली, 1968 दूसरा प्रिन्ट।
काष्ठक संहिता, संपादक वॉन श्रेडर, लिपजिंग, 1900-11।
कुंदकुंद का प्रवचनसार, पुरातन प्रबंध संग्रह, संपा॰ जिनविजय, मुनि, सिंधी जैन सीरीज, 2 कलकत्ता, 1936।
कौषितकि ब्राह्मण, संपादक ई.बी॰ कोवेल, कलकत्ता, 1891 अनु॰ ए.बी॰ कीथ, एच.ओ.एस॰ 25, कैंब्रिज, 1920।
गुणचन्द्र का महावीर चरित्र, बम्बई, 1929, गुजराती अनुवाद भावसागर, वि.सं॰ 1994।
गौतम धर्म सूत्र, अनु.*से. बु. ई.*, II
गोपथ ब्राह्मण, संपा॰ राजेन्द्र मिश्रा एवं विद्या भूषण, कलकत्ता 1872।
छान्दोग्य उपनिषद्, संपादक बोहतलिंगक, लिपजिंग, 1889।
जटासिंह नंदि का वर्धवरागचरित, संपा॰ ए.एन॰ उपाध्ये, बंबई 1933।
जातक, संपा, पास बॉल, लंदन 1877-97, अंग्रेज़ी अनुवादक ई.बी॰ कावेल, 7 जिल्द, केम्ब्रिज, 1895-1913।
जिनप्रभ सूरि का विविध तीर्थकल्प, संपा॰ मुनिजिनविजय सिंधी जैन सीरीज़, 10, शान्तिनिकेतन, 1934।
जिनपाल उपाध्याय की खरतरगच्छ की बृहद्गुरुवावलि, संपा॰ मुनि जिनविजय, बम्बई, 1956।
जिनवल्लभ सूरि का संघपट्टक।
जिनसेन और गुणभद्र का महापुराण (आदिपुराण और उत्तर पुराण), इंदौर, वि.सं॰ 1973-75, हिन्दी अनुवाद सहित भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1951-54।
जिनसेन सूरि का हरिवंश पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1962, हिन्दी अनुवाद, बम्बई।
जिनहर्ष का वस्तुपाल चरित्र, संपा॰ मुनि कीर्तिविजय, अहमदाबाद, 1941।
जीवाभिगम, टी॰ मलयगिरि, बम्बई, 1919।
तैत्तिरीय संहिता, संपा॰ ए॰ बेबर, बर्लिन, 1871-72।
तंदुलवेयालिय टी. विजय विमल, देवचन्द लालभाई।
थानांग टी. अभयदेव, अहमदाबाद, 1937।

थेरगाथा, संपा॰ पिश्चल, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1883।

——, अंग्रेज़ी अनु (प्लामस् ऑफ द सिस्टर्स) श्रीमती रीज डेविड्स, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1909।

थेरीगाथा, संपा॰ ओल्डेबर्ग, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1883।

दशवेयालिय निर्युक्ति, भद्रबाहु, *चूर्णि*, जिनदास गणि, रतलाम, 1933, *टी॰*हरिभद्र बम्बई, 1918, इन्ट्रोडक्शन एंड नोट्स डब्ल्यू शुब्रिंग।

देवचन्द्र की राजावलि कथा।

देवसेन का दर्शनसार, संपादक, नाथुराम प्रेमी, बोम्बे, वि॰ सं॰ 1974।

दीपवंश, संपा और अनु॰ एच॰ ओल्डनबर्ग, लंदन, 1879।

दीर्घनिकाय, संपादक, टी॰डब्ल्यू रिज डेविड्स और जे॰ई॰ कार्पेण्टर, 3 जिल्द, पी॰टी॰एस॰,लंदन, 1890, 1903, 1911, अंग्रेज़ी अनुवाद (*डायलॉग्स ऑफ द बुद्ध*) टी॰डब्ल्यू रिज डेविड्स, 3 जिल्द; *से॰ बु॰ ई॰*, लंदन, 1889-1910, 1921, राहुल सांकृत्यायन द्वारा हिन्दी में अनुवादित *दीर्घनिकाय*, महाबोधि सभा सारनाथ, 1936।

दिव्यावदान, संपा॰ ई॰बी॰ कोवेल एवं आर॰ए॰ नेइक, केम्ब्रिज, 1886।

दुर्गदेव का रिष्टसमुच्चय, संपा॰ ए॰एस॰ गोपाणी, सिंधी जैन सीरीज, 21 बम्बई, 1945।

—— अंग्रेज़ी अनु॰ (प्लामस ऑफ द ब्रदर्न) श्रीमती रीज डेविड्स, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1913।

धम्मपद, संपादक राहुल सांकृत्यायन, रंगून, 1937 अंग्रेज़ी अनु॰ एफ॰ मैक्समूलर, *से॰ बु॰ ई॰*, ऑक्सफोर्ड, 1898 संपादक रिज डेविड्स, *से॰ बु॰ ई॰*, लंदन, 1931।

धम्मपद कमेंट्री संपादक एच॰सी॰ नार्मल, 5 जिल्द पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1906-15 अंग्रेज़ी अनुवाद (बुद्धिस्ट लीजेंड्स) ई॰डब्ल्युबरलिंगम्, 3 जिल्द केम्ब्रिज, 1921।

धर्मदास की वासुदेवहिंडी, भावनगर, 1930।

नन्दि, देववाचक, चूर्णि, जिनदासगणि, रतलाम, 1928।

नायाधम्मकहा, संपा॰ एन॰बी॰ वैद्य, पूना, 1940 टी॰ अभयदेव, आगमोदय, बम्बई, 1919।

निर्यावलियाओ, टी॰ चन्द्रसूरि, अहमदाबाद, 1938 संपा॰गोपानी और चोक्षी, अहमदाबाद, 1934 संपा॰ पी॰एल॰वैद्य, पूना, 1932।

निद्देस, महानिद्देस संपा॰ एल॰डे॰ज॰ वल्से पौसिजन एवं ई॰जे॰ थॉमस, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1916-17, *चुल्लनिद्देस*, संपा॰ डब्ल्यू स्टेडे, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1918।

निशीथ भाष्य

——, *चूर्णि* जिनदासगणि, संपा॰ विजयप्रेम सूरीश्वर, वि॰सं॰ 1995।

——, *एक अध्ययन*, दलसुख मालवनिया।

नेमिचन्द्र का त्रिलोकसार, बम्बई।

नेमिचन्द्र देवेन्द्र गणिका महावीर चरित, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, 1933।

नेमिदत्त का आराधना कथा कोष, हिन्दी अनुवाद, बंबई, 1915।

पंचविंश ब्राह्मण, संपादक ए॰ वेदान्त बागीश, कलकत्ता 1869-74।

पट्टावली समुच्चय, श्रीचारित्र स्मारक ग्रंथमाला, वीरमगाम, गुजरात, 1933।

पण्हवागरण टी॰ अभयदेव, बम्बई, 1919।

पैण्णदस, बंबई, 1927।

पण्णवणा टी. मलयगिरि, बम्बई, 1918-19।

——, गुजराती अनुवाद, भगवानदास, अहमदाबाद वि.सं. 1991।

प्रभाचन्द्र का प्रभावक चरित, संपा. जिनविजय मुनि, सिंधी जैन सीरीज, 13 अहमदाबाद।

पाणिनि की अष्टाध्यायी, अनु एस.सी. वसु, वाराणसी, 1891-1898।

पारस्कर गृह्यसूत्र, संपा. गोपाल शास्त्री, नेने, बनारस, 1926।

पिण्डनिज्जुति, टी. मलयगिरि, सूरत, 1918।

पूज्यपादका दशममगोदिसंग्रह दण्डी का दशकुमारचरित, संपादक जी. ब्यूह्लर और पी. पैटरसन, बम्बई, 1887, 1891 द्वितीय संस्करण अंग्रेजी अनुवाद ए. डब्ल्यू. राइडर, शिकागो, 1927।

पेतवत्थु, संपा. मिनयेण्ण, पी.टी.एस., लंदन, 1888।

बाण कादम्बरी, संपा. पी. पेटरसन, बम्बई, 1900 अंग्रेज़ी अनुवाद, सी.एम. रीडिंग, लंदन, 1896।

बुद्धचर्या, हिन्दी अनुवाद या त्रिपिटक और अहकथा से चुने हुए अंश राहुल सांकृत्यायन, द्वितीय संस्करण, सारनाथ, 1952।

बृहदारण्यक उपनिषद्, संपादक ओ. बोहतलिंगक, लिपजिंग, 1889।

बृहत्कल्प भाष्य, संघदासगणि *टी.,* मलयगिरि और क्षमाकीर्ति आत्मानंद जैन सभा भावनगर, 1933-38।

बृहत्कल्पसूत्र, हरिषेण का बृहत्कथा कोश।

बौधायन धर्मसूत्र, संपादक डबल्यू. केलेंड, कलकत्ता, 1904-23।

बौधायन गृह्यसूत्र, संपादक आर. शामा शास्त्री, मैसूर, 1920।

भगवद् गीता, संपादक के.एज. अगषे, पूना, 1909 अं.अनु.के.टी.टेलंग, *से. बु. ई.,* 2, संपा. ऑक्सफोर्ड, 1908।

भगवती टी., अभयदेव, आगमोदय, समिति बम्बई, 1921, रतलाम, 1937 संपादक जोज़ेफ़ डेलेड भूमिका सहित, "डे" टेम्पेज टेम्पेलहोप, 37 श्रीत्री ब्रोगी (बेइगी)।

भागवत पुराण, संपादक वी.एल.पंसीकर, बॉम्बे, 1920।

भद्रबाहुचरित।

मज्झिम निकाय, संपा, ट्रेंकनेर और आर. चाल्मर्स, पी.टी.एस., लंदन, 1888-1902 अंग्रेज़ी अनुवाद (*फर्दर डायलॉग्स ऑफ द बुद्ध*) फोर्ड चाल्मर्स, 2 जिल्द, *से. बु. ई.,* लंदन, 1926-27 अनु. हिन्दी में राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1933।

मत्स्य पुराण, अंग्रेज़ी अनुवादक तालुकदार, इलाहाबाद, 1916-17।

महाभारत, अंग्रेज़ी अनुवाद एम.एन. दत्त, कलकत्ता 1905।

महानिशीथ, संपा. डब्लू. शुब्रिंग, बर्लिन, 1918, गुजराती अनुवादक नरसिंह भाई।

महावग्ग, संपा, एन.के. भगत, दो जिल्द, बम्बई, 1944-1952।

महावंश, संपा. और अनु. गीजर, पी.टी.एस., लंदन, 1912।

महावस्तु, संपा. ई. सेनर्ट, पेरिस, 1882-97।

मिलिन्द पन्हो, संपादक वी. ट्रेक्नर, लंदन, 1880 अंग्रेज़ी अनुवादक टी. डब्ल्यू. रिज डेविड्स, *से. बु. ई.,* ऑक्सफोर्ड, 1890-94।

मेघविजय का दिग्विजय महाकाव्य, संपादक, अंबालाल प्रेमचन्द शाह, सिंधी जैन सीरीज़, 14, बम्बई, 1945।

मेरुतुंग का प्रबंध चिंतामणि, अनु॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, सिंधी जैन सीरीज़, 3, बम्बई, 1940।

मैत्रायणी संहिता, संपादक वॉन श्रेडर, लिपजिंग, 1881-86।

यतिवृषभ का तिलोयपण्णति, संपा॰ ए॰एन॰ उपाध्ये और एच॰एल॰ जैन॰,सोलापुर, 1951।

राजशेखर का प्रबंध कोश, संपा॰, जिनविजय, सिंधी जैन सीरीज, 6 शांतिनिकेतन, 1955।

रामायण, अंग्रेजी में अनु॰ एम॰एन॰ दत्त, कलकत्ता, 1890-94।

रायपसेणिय टी॰ अभयदेव, अहमदाबाद, वि॰सं॰ 1994।

——, अंग्रेज़ी अनु॰ एन॰वी॰ वैद्य, अहमदाबाद, 1938।

ललितविस्तार, संपा॰ आर॰ मिश्र कलकत्ता, 1877 संपा॰ एस॰ लेपमंत, हेले, 1902-08।

वराहमिहिर का वराहसंहिता, संपादक एच॰कर्न॰, बी॰आई॰ कलकत्ता, 1865 अनु॰ अंग्रेज़ी, वी॰सुब्रह्मण्य शास्त्री एवं एम॰ रामकृष्ण भट्ट, 2 जिल्द, बेंगलोर, 1947।

वस्तुपाल का नरनारायण नन्द महाकाव्य, संपा॰ सी॰ डी॰ दलाल, बडौदा, 1916।

वसिष्ठ धर्म सूत्र, संपादक ए॰ए॰फ्यूहरर, बम्बई, 1916।

विमलसूरि का पउमचरिउ, संपा॰ एच॰ याकोबी, भावनगर, 1914।

विवागसुय टी॰ अभयदेव, बड़ौदा, वि॰सं॰ 1922।

——, संपा॰ ए॰टी॰ उपाध्ये, बैसगांव, 1935।

वीरसेन और जिनसेन का कसाय-पाहुंड (जयधवल), जिल्द, 1 और 2 मथुरा, 1944।

वेदांतसार, संपादक, कोवेल।

व्यवहार, भाष्य टी॰ मलयगिरि, भावनगर, 1926।

शतपथ ब्राह्मण, संपादक ए॰ बेबर, लंदन, 1885।

——, अनु॰ एग्गेलिंग, *से॰ बु॰ ई॰,* 12, 26 41, 43, 44 (XLI XLIII XLIV XLI), ऑक्सफोर्ड 1882-1900।

शांकायन गृह्यसूत्र, से॰ बु॰ ई॰, जि॰ 29 XXIX।

श्रीमाल पुराण अथवा श्रीमाल माहात्म्य, संपा॰ जटाशंकर लीलाधर और केशवजी और विश्वनाथ, अहमदाबाद, 1899, वि॰सं॰ 1955।

समवायांग सूत्रकृतांग, टी॰ अभयदेव, अहमदाबाद, 1938।

——, *निर्युक्ति* भद्रबाह।

——, *चूर्णि,* जिनदासगणि, रतलाम, 1941।

——, शीलांक आगमोदय समिति, बम्बई, 1917।

संघनिकाय, संपा॰ लेओनप्रीअर, पी॰टी॰एस॰, लंदन 1884-98 इंडेक्सेज, श्रीमती रीज डेविड्स लंदन, 1904, अंग्रेज़ी अनुवाद (बुक ऑफ द किंडर्ड सेइंग्ज और गुपड़ सुत्ताज) श्रीमती रीज डेविड्स एंड ऑफ अल वुडवर्ड, पी॰टी॰एस॰ लंदन, 1917-30।

सर्वदर्शन संग्रह, अनु॰ कोवेल और गोउध।

सुत्तनिपात, संपा॰ डी॰ एंडरसेन और एच॰ स्मिथ, पीटीएस, लंदन, 1913 अंग्रेज़ी अनुवाद वी॰ फाल्सबोल, *से॰ बु॰ ई॰,* ऑक्सफोर्ड, 1898, संपा, राहुल सांकृत्यायन।

सुबन्धु का वासवदत्ता।

सुमंगल विलासिनी, टी॰ दीर्घनिकाय पर संपा॰ टी॰ डब्लू॰ रिज डेविड्स, पी॰टी॰एस॰, लंदन, 1886।

सोमचरित्रगणिका गुजगुण रत्नाकर काव्य, संपा॰ इन्द्रविजय की यशोविजय जैन ग्रंथ माला, जि॰ 24 बनारस, वी॰नि॰सं॰ 2437।

सोमेश्वर का कीर्तिकौमुदी का महाकाव्य, संपा ए॰वी॰ कथवते।

———, अंग्रेज़ी अनुवाद, एच॰याकोबी, *से॰ बु॰ ई॰,* एकस XLV देहली, रिप्रिंट, 1964।

हरिचन्द्र का जीवंधर चम्पू हिन्दी अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1958।

हरिभद्र का घूतख्यान, अनु॰ए॰एन॰ उपाध्ये, सिंधी जैन सीरीज़, 15, बंबई 1944।

हरिभद्र का सम्मरैच्चकहा, संपा॰ एच॰ याकोबी, बिबलिओथिका इंडिका, कलकत्ता 1926।

हरिभद्र का संबोध प्रकरण, जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, वि॰सं॰ 1972।

हेमचन्द्र का द्वयाश्रयमहाकाव्य, संपा॰ ए॰वी॰ कथवते, 2 भाग, बम्बई, 1915।

हेमचन्द्र का परिशिष्ट, पर्वन, संपा, एच॰ याकोबी, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, 1932।

हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, अनु॰ जोहनसन, बड़ौदा, 1930।

क्षमाश्रमण, टी॰ हरिभद्र, रतलाम, 1928, टी॰ मलयगिरि, बम्बई, 1921।

सामान्य आधुनिक ग्रंथ

अग्रवाल, वा॰श॰, *इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि,* लखनऊ, 1953 इंडियन आर्ट वाराणसी, 1965।

अमृतलाल, मदनलाल, संपादक, *श्री प्रशस्ति संग्रह,* अहमदाबाद, वि॰सं॰ 1993।

अल्तेकर, ए॰एस॰, *स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एंशियंट इंडिया,* द्वितीय संस्करण, बनारस, 1955 *द पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन,* वाराणसी।

——, *एजूकेशन इन एंशियंट इंडिया,* वाराणसी, 1957।

——, *द राष्ट्रकूट्स एण्ड देयर टाइम्स*।

ओझा, जी॰एच॰, *भारतीय लिपिमाला,* अजमेर, 1918।

——, *राजपूताना का इतिहास,* अजमेर, 1937।

——, *उदयपुर राज्य का इतिहास,* अजमेर, वि॰सं॰ 1985।

उपाध्ये, ए॰एन॰, रूपा॰, *महावीर एंड हिज़ टीचिंग्स,* बंबई, 1917।

उपासक, सी॰एस॰, *द हिस्ट्री एंड पालिओग्राफी ऑफ मौर्यन ब्राह्मी स्क्रिप्ट,* वाराणसी, 1960।

एडवर्ड, टॉमस इलिओट एंड डॉसम, *जैनिज्मः द अर्ली फेथ ऑफ अशोक,* लंदन, 1877, सं॰ *हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन् हिस्टोरियन्स,* लंदन, 1906-07।

एलम, जे॰, *कैटलाग ऑफ क्वाइन्स ऑफ एंशियंट इंडिया,* 1936।

कनिंघम, ए॰, *एंशियन्ट ज्योग्रफी ऑफ इंडिया,* कलकत्ता, 1924; आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट्स।

——, *क्वाइंस ऑफ एंशियंट इंडिया,* लंदन, 1891।

कर्न,एच॰, *मैनुअल ऑफ इंडियन बुद्धिज्म,* स्ट्रैजबर्ग, 1896।

कल्याणविजय, *श्रमण भगवान् महावीर,* जालौर, वि॰सं॰, 1930।

कामताप्रसाद, संपा॰, *प्रतिमा लेख संग्रह,* आरा॰वि॰सं॰ 1994।

कार्ने,पी॰व्ही॰, *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र,* पूना, 1941।

कांतिसागर, संपा॰, *जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह,* सूरत, 1950 ई॰।

कासलीवाल, कस्तूरचन्द, संपा॰, *प्रशस्ति संग्रह,* जयपुर, 1950।

गांधीलालचन्द भगवानदास, *ए कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिपट्स इन द जैन भंडार्स एट पाटन,* जी॰ ओ॰ एस, LXXVI 1937।

गोयलीय अयोध्याप्रसाद, *राजस्थान के जैन वीर,* देहली, 1933।

घोष, ए॰, संपादक, *जैन आर्ट एंड आर्किटेक्चर,* 3 जिल्द, न्यू देहली।

चटर्जी, ए॰के॰, *ए कॉम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म,* I एवं II कलकत्ता, 1978-1984।

चंदनमल, *श्री केशरियाजी तीर्थ का इतिहास,* सादड़ी, 1933।

चौधरी, गुलाबचन्द, *जैनिज्म इन नॉर्दर्न इंडिया,* 700-1300 ई॰ अमृतसर, 1954।

——, *जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,* I–VI, वाराणसी, 1973।

जयसवाल, काशीप्रसाद, *हिन्दू पोलिटी,* तृतीय संस्करण, बंगलौर, 1955।

जैन, कैलाशचन्द्र, *जैनिज्म इन राजस्थान,* शोलापुर, 1963।

——, *मालवा थ्रू द एजेज़,* देहली, 1972।

——, *एंशियंट सीटीज़ एंड टाउंस ऑफ राजस्थान,* देहली, 1972।

——, *लॉर्ड महावीर एंड हिज़ टाइम्स,* द्वितीय संस्करण, देहली, 1981।

——, *प्रीहिस्ट्री एंड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इंडिया,* न्यू देहली, 1979।

——, *मध्य प्रदेश थ्रू द एजेज़,* I एंड II, न्यू देहली, 1996।

जैन, कस्तूरचन्द, सुमन, *जैन अभिलेख परिशीलन,* जयपुर 1994, आहार क्षेत्र के अभिलेख, आहारजी, 1995।

जैन, छोटेलाल, *जैन बिबलियोग्राफी,* कलकत्ता।

जैन, जगदीशचन्द्र, *जैन लाइफ इन एंशियंट इंडिया एज़ डेपिक्टेड इन द जैन कैनन्स;*

——, *प्राकृत साहित्य का इतिहास,* वाराणसी, 1961;

——, *भारत के प्राचीन जैन तीर्थ,* बनारस, 1962।

जैन, जिनेश्वरदास, *अंत्रकोर के पंचमेरु मंदिर, इतिहास के नवीन परिप्रेक्ष्य में,* लखनऊ, 1999।

जैन, ज्योतिप्रसाद, *द जैन सोर्सेस् ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एंशियंट इंडिया,* देहली, 1964।

——, *उत्तर प्रदेश और जैन धर्म,* लखनऊ, 1976।जयंतविजय, संपादक, *अर्बुदाचल, प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह,* भावनगर, वि॰सं॰ 2005।

जैन, बलभद्र, *भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ,* पांच भाग, बम्बई, 1974-1988।

जैन, बूलचन्द, *लॉर्ड महावीर (ए स्टडी इन हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव),* बनारस, 1948।

जैन, हीरालाल, *भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान,* जबलपुर, 1962।

जिनविजय मुनि, संपा॰ *जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह,* सि॰धी॰ जैन सीरीज़, अहमदाबाद, 1943।

जिम्मर, एच, *फिलॉसफीज़ ऑफ इंडिया*।

जोहरापुरकर, वी॰पी॰, *भट्टारक सम्प्रदाय,* शोलापुर, 1958।

टॉड, *एनल्स एंड एंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान,* बंबई, 1920।

टोंक, उमरावसिंह, *सम डिस्टिंगुइस्ड जैन्स,* आगरा, 1918।

डे, उपेन्द्रनाथ, *मेडिवल मालवा,* देहली, 1965।

डे, एन॰एल॰, *ज्योग्रफिकल डिक्शनरी ऑफ एंशियंट मेडिवल इंडिया,* लंदन 1926।

डेविड्स, रिज॰, *बुद्धिस्ट इंडिया,* नवा संस्करण, देहली, 1970।

तिवारी, बी॰के॰, *हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म इन बिहार,* गुड़गांव, 1996।

तुलसी, *प्रिवैदिक एक्जिसटेंस ऑफ श्रमण ट्रेडिशन*।

थोमस, ई॰जे॰, *हिस्ट्री ऑफ बुद्दिस्ट थॉट,* न्यू दिल्ली, 1953।

दत्त, एस॰के॰, *अर्ली बुद्धिस्ट मॉनिथिज्म,* लंदन, 1924।

देव, एस॰बी॰, *हिस्ट्री ऑफ जैन मानिकिज्म,* पूना, 1956।

देवहोति, *हर्ष, ए॰ पोलिटिकल स्टडी,* ऑक्सफोर्ड, 1970।

देसाई, दुलीचन्द्र, मोहनलाल, *जैन साहित्य छंद नो संक्षिप्त इतिहास,* बंबई, 1933।

देसाई, पी॰बी॰, *जैनिज्म इन साउथ इंडिया एंड सम जैन एपिग्राफ्स,* शोलापुर, 1957।

दिवाकर, आर॰ आर॰, संपादक, *बिहार थ्रू द एजेज,* कलकत्ता, 1959।

द्विवेदी, एच॰एन॰, *ग्वालियर राज्य के अभिलेख,* ग्वालियर, 1947।

नरसिंह, आचार्य, संपा॰, *एपिग्राफिया कर्नाटका*।

नरसिंहराव, *इंसक्रिपश़ंस ऑफ श्रवणबेलगोला,* बेंगलोर, 1928।

नागराज, *आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन,* 1969।

नाहटा, अगरचन्द, संपा॰, *ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह,* कलकत्ता वि॰सं॰ 1994।

नाहटा, अगरचन्द और भंवरलाल, संपा, *बीकानेर जैन लेख संग्रह,* कलकत्ता, वी॰नि॰सं॰ 2482।

——, *दादा श्री जिनकुशल सूरि,* कलकत्ता, वि॰सं॰ 1996।

——, *युग प्रधान श्रीजिनचन्द्र सूरि,* कलकत्ता, वि॰सं॰ 1992।

——, *मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि,* कलकत्ता, 1997।

नाहर, पी॰सी॰, संपादन, *जैन इंसक्रिपशन्स* (अभिलेख I, II, और III कलकत्ता, 1918-19)।

निगम, एस॰एस॰, *मालवांचल के जैन लेख,* उज्जैन, 1995।

पटेल, मणिलाल, अनु॰, *लाइफ ऑफ हेमचन्द्र,* सिंधी जैन सीरीज, अहमदाबाद।

पाण्डे, जी॰सी॰, *स्टडीज़ इन द ऑरिजिंस ऑफ बुद्धिज्म,* इलाहाबाद, 1957।

पाण्डे, आर॰ बी॰, *इंडियन पालिओग्राफी,* बनारस, 1952।

——, *विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी,* बनारस, 1954।

प्रदीप, शास्त्री, *जिन भारती संग्रह,* जबलपुर।

प्रेमी, नाथुराम, *जैन साहित्य और इतिहास,* बंबई, 1942।

फिक, आर॰, *द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धिस्ट टाइम,* अनुवादक, एस॰ के॰ मैत्र, कलकत्ता, 1920।

फोरलोग, जे॰जी॰आर॰, *शॉर्ट स्टडीज़ इन द साइंस ऑफ कम्पेरेटिव रेलिजियन्स,* लंदन, 1997।

फ्लीट, जे॰एफ॰, *कार्पस इंस्क्रिप्शन्स,* जि॰ 3 कलकत्ता 1988।

बंदोपाध्याय, एन॰सी॰, *इकोनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशियंट इंडिया,* कलकत्ता, 1945।

बरुआ, बी॰एम॰, *ए हिस्ट्री ऑफ प्रिबुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफ़ी,* रिप्रिंट, 1970, देहली, गया और बोध गया, कलकत्ता, 1934।

बशम.ए.एल., *हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन ऑफ द आजिविक्स*, लंदन, 1951।

बेनर्जी, जे.एन., *डेवेलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी*, कलकत्ता, 1956।

बेनर्जी, एस.सी., *धर्मसूत्राज़ – ए स्टडी इन देयर ऑरिजिन एंड डेवेलपमेंट*, कलकत्ता, 1962।

ब्राउन, नोर्मन, संपादक, *स्टोरी ऑफ कालक*, वाशिंगटन, 1933।

ब्यूहलर, जे.जी., *द इंडियन सेक्ट ऑफ द जैन्स*, लंदन, 1903 ओन द इंडियन ओरिजन ऑफ़ द ब्राह्मी अल्फ़ाबेट।

भंडारकर, डी. आर., *लेक्चर्स आन द एंशियंट हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, (कार माइकल लेक्चर्स, 1918, कलकत्ता, 1919)।

भोगीलाल, जे. संडेसरा, *लिट्रेटरी सर्किल ऑफ वस्तुपाल एण्ड इट्स कंट्रिब्यूशन टू संस्कृत लिट्रेचर*, सिं. जै. सि., 33, बंबई।

मजुमदार, आर.सी., संपा., *द वैदिक एज*, बम्बई 1988 (5 संस्करण)।

——, संपा., *द एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी*, बम्बई, 1990 (6 संस्करण)।

——, संपा., *द क्लासिकल एज, बंबई*, 1988 (चौथा संस्करण)।

——, संपा., *द एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज*, बम्बई 1984 (तीसरा संस्करण)।

——, संपा., *द स्ट्रगल फॉर एम्पायर*, 1889 (चौथा संस्करण)।

माथुर, जे.सी. एंड मिश्रा योगेन्द्र, संपा, *होमेज टू वैशाली*, 1948।

मार्शल, सर, जोहन, *मोहेनजोदड़ो एंड द इंडस सिविलाइजेशन*, 3 जिल्द, लंदन, 1931।

मित्तल, अमरचन्द, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा*, बनारस, 1962।

मिश्रा, योगेन्द्र, *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली*, देहली, 1962।

मुकरजी, राधाकुमुद, *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन शिपिंग*, लंदन, 1912।

——, *एंशियंट इंडियन एजूकेशन*, लंदन, 1951।

——, *हिन्दू सिविलाइजेशन*, लंदन, 1936।

मुखतार, जुगलकिशोर, *जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश*, देहली, 1956।

——, संपादक, *जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह*, I, देहली, 1954।

——, संपादक, *पुरातन जैन वाक्य सूची*, सारवल, 1950।

मेहता, रतिलाल एन., *प्री बुद्धिस्ट इंडिया*, बंबई, 1939।

मैक्समूलर, *हिबर्ट लेक्चर्स*।

मैक्रिंडल, *एंशियंट इंडिया एज़ डेस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एंड एरियन*, लंदन, 1877।

रत्नप्रभविजय, मुनि, *श्रमण भगवान महावीर*, 8 जिल्द अहमदाबाद, 1947, अंग्रेजी।

राइस, संपा., *एप्रिग्राफिका कर्नाटका*, बेंगलोर।

——, संपा., *इंसक्रिपशन्स एट श्रवणबेलगोला*, बेंगलोर, 1899।

——, संपा., *मैसूर और कुर्ग फ्रॉम इंसक्रिपशंस*, लंदन, 1909।

राय चौधरी, एच.सी., *पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशियंट इंडिया*, कलकत्ता 1953।

राय चौधरी, पी.सी., *जैनिज्म इन बिहार*, पटना, 1956।राव, हनुमंत, *रेलिजियन इन आंध्र*, गन्तूर, 1973।

रेप्सन, ई॰जे॰, संपा॰, *केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, द्वितीय संस्करण, देहली, 1962।

रोकहिल, डब्लू॰डब्लू, *द लाइफ ऑफ द बुद्ध*, द्वितीय संस्करण, लंदन, 1884।

ला, बिमलचरण, *इंडिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्सट्स ऑफ बुद्धिज्म एंड जैनिज्म*, लंदन, 1941।

——, *हिस्ट्री ऑफ पालि लिट्रेचर*, 2 जिल्द, लंदन, 1933।

——, *महावीर, हिज़ लाइफ एंड टीचिंगस्*, लंदन, 1937।

——, *ज्योग्रफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म*, लंदन, 1932।

——, *सम जैन केनॉनिकल सूत्राज़*, बम्बई, 1949।

——, *इंडोलॉजिकल स्टडीज़*, I और II, कलकत्ता, 1942।

लुहाड़िया, कमल चन्द, *श्री दिगम्बर जैन महा अतिशय क्षेत्र*, नरायना (राजस्थान)।

लोढ़ा, दौलतसिंह, *प्राग्वाट जाति का इतिहास*, राणी (मारवाड़), 1953।

वाटर्स, *ऑन युवान च्वांगस ट्रेवल्स इन इंडिया*, लंदन, 1804-05।

विजयेन्द्र, *तीर्थंकर महावीर*, बंबई, वि॰सं॰ 2017।

विद्याविजय, संपा॰, *प्राचीन लेख संग्रह*, भावनगर, 1929।

विद्याविजय, मुनिराज, *सूरीश्वर और सम्राट अकबर*, आगरा, वि॰सं॰ 1980।

विंटरनिट्ज, एम, *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर*, कलकत्ता, 1933।

विलास, ए॰संघवे, *जैन कम्युनिटी: ए सोशल सर्वे*, बंबई, द्वितीय संस्करण, 1980।

शर्मा, जी॰आर॰, *द एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी*, इलाहाबाद, 1960।

शर्मा, मथुरालाल, *कोटा राज्य का इतिहास*, कोटा, 1939।

शर्मा, श्रीराम, *द रिलीजियस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्पायर्स*, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 1988।

शास्त्री, के॰ए॰एन॰, *द पाण्डयन किंगडम*, लंदन, 1929।

शास्त्री, के॰सी॰, *जैन साहित्य का इतिहास*, वाराणसी, 2489।

शास्त्री, परमानंद, *जैन धर्म का प्राचीन इतिहास*, देहली।

——, संपा॰, *जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह*, II, देहली, 1963।

शास्त्री, पी॰वी॰ परब्रह्म, *द काकतियाज*, हैदराबाद, 1978।

शाह, सी॰जे॰एल॰, *जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया*, लंदन, 1932।

शाह, यू॰पी॰ और ढाकी, एम॰ए॰, संपा॰, *एस्पेक्ट्स ऑफ जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर*।

शाह, त्रिभुवनदास, *एंशियंट इंडिया*, I, II और III बड़ौदा, 1939।

शारदा, एच॰बी॰, *अजमेर हिस्टॉरिकल एंड डिसक्रिपटिव*, अजमेर, 1941।

शीतलाप्रसाद, *मध्यप्रांत, मध्यभारत और राजपूताने के प्राचीन जैन स्मारक*, सूरत, 1926।

श्रीवास्तव, ए॰एल॰, *द सल्तनत ऑफ देहली*, आगरा, 1953।सत्य भक्त: जैन धर्म भीमांसा।

संकालिया, एच॰डी॰, *आरक्यॉलाजी ऑफ गुजरात*, बम्बई, 1941।

सरकार, डी॰सी॰, *इन्सक्रिपशंस ऑफ अशोक*, देहली, 1967।

——, *सेलेक्ट इन्सक्रिपशंस*, जिल्द, कलकत्ता, 1965।

——, *द सकसेसर्स ऑफ द सातवाहनज़ इन द लोवर दक्खन*, कलकत्ता, 1939।

——, *एंशियंट मालवा एंड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन,* देहली, 1969।
——, संपा०, *इंडियन प्रिहिस्ट्री,* पूना, 1964।
सेठ, सी०बी०, *द जैनिज्म इन गुजरात 1100-1600 AD,* बम्बई 1953।
सेन, अमूल्य चन्द्र, *स्कूल्स एंड सेक्ट्स इन जैन लिट्रेचर,* कलकत्ता, 1931।
सेलीटोर, बी०ए०, *मेडिवल जैनिज्म विद स्पेशल रेफरेंस टू विजयनगर एम्पायर,* बंबई, 1938।
सिंह, एम०एम०, *लाइफ इन नॉर्थ-ईस्टर्न इंडिया. प्री०मौर्यन टाइम्स,* 1967।
स्मिथ, वी०ए०, *जैन स्तूप एण्ड अदर एंटिक्विटीज फ्रॉम मथुरा,* इलाहाबाद, 1901।
——, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* ऑक्सफोर्ड, 1924।
——, *हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* ऑक्सफोर्ड, 1923।
——, *अकबर द ग्रेट मुगल,* द्वितीय संस्करण, देहली, 1958।
हंडीकी, के०के०, 1974, *यशस्जिक एंड इंडियन कल्चर,* शोलापुर, 1949।
हस्तीमल, *जैन धर्म का मौलिक इतिहास,* I, जयपुर, 1971।
हीरालाल, संपा०, *कैटलॉग ऑफ संस्कृत एंड प्राकृत मैनुस्क्रिपट्स इन सी०पी० एण्ड बरार।*
हीरालाल, हंसलाल, *जैन गोत्र संग्रह,* जामनगर, 1933।
ज्ञानसुन्दरजी, *भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास,* फलोधी, 1943।

पत्र, पत्रिकाएँ और रिपोर्ट्स

अध्यात्म – पर्व-पत्रिका, झांसी।
इंडियन ऐंटीक्वेरी।
इंडियन कल्चर।
इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।
एनल्स ऑफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना अनेकांत देहली।
एप्रिग्राफिया कर्नाटका।
ऐनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्क्योलॉजिकल डिपार्टमेंट, जम्मू एण्ड कश्मीर।
ऐनुअल रिपोर्ट ऑफ द आर्क्योलाजिकल डिपार्टमेंट, ग्वालियर, स्टेट, ग्वालियर – *एनसाइक्लोपीडिया आफ जैन रेलिजियन एंड एथिक्स।*
ऐनुअल रिपोर्टस् ऑफ आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया।
ऐनुअल रिपोर्ट ऑफ साउथ इंडियन एपिग्राफी अर्हत वचन।
ऐनुअल रिपोर्ट इंडियन एपीग्राफी।
किलहोर्न लिस्ट।
के०डी० बाजपेयी फेलिशिटेशन वॉल्यूम।
जैन शिलालेख संग्रह, I, बम्बई, 1928, देहली 1971।
जैन जर्नल, महावीर जयंती स्पेशल, कलकत्ता।
जैन सत्य प्रकाश, अहमदाबाद।
जैन साहित्य संशोधक, अहमदाबाद।
जैन सिद्धांत भास्कर (हिन्दी व अंग्रेजी), आरा।

जैनाचार्य श्री आत्मानंद सेंटेनरी कमेमोरेशन वोल्यूम, संपा॰ मोहनलाल तुलीचन्द देसाई, बम्बई, 1936।

जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।

जर्नल ऑफ द ओरियंटल इंस्टीट्यूट ऑफ बड़ौदा।

जर्नल ऑफ द इंडियन हिस्ट्री।

जर्नल ऑफ द डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।

जर्नल ऑफ द न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया।

जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना।

ट्रावनकोर आर्कियोलॉजिकल सीरीज़ ट्रायल्स, जयपुर स्टेट, हेल्ड अंडर स्पेशल कमीशन फॉर द ट्रायल ऑफ एक्स-मिनिस्टर संघी संघी झूताराम, हिज़ ब्रदर एंड सन्स, 1837।

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, बनारस।

न्यूमिस्मेटिक क्रॉनिकल्स।

पीटरसंस रिपोर्ट्स इन सर्च ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिपट्स, 1883-84 बम्बई।

प्राकृत विद्या।

प्राग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्कियोलॉजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल।

बॉम्बे कर्नाटक इंसक्रिपशंस।

बी॰सी॰ ला॰ वाल्यूम (भारत कौमुदी, इलाहाबाद, 1945)।

भंडारकर लिस्ट आफ इन्सक्रिप्शन्स आफ नार्थन इण्डिया, EI XIX, XXIII।

भारतीय विद्या।

महावीर जयंती स्मारिका।

मेमोयर्स ऑफ दी आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया।

मैसूर गज़ेटियर।

रिपोर्ट आन द लैंड टेम्पोर्स एंड स्पेशल पावर्स आन सर्टेन ठिकानेदार्स ऑफ द जयपुर स्टेट बाइ सी॰यू॰ विल्स, जयपुर, 1933।

रिपोर्ट आन पंचपाना सिंघन, जयपुर, 1933।

लहर, अजमेर।

ल्यूडर्स लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इंसक्रिपशन्स अप टू 400 ए॰डी॰ इन एप्रिग्राफिया 10।

वियना ओरियंटल जर्नल।

वीरवाणी, जयपुर।

श्री महारावल रजत अभिनंदन ग्रंथ, सं॰ द मेम्बर्स ऑफ द सिल्वर जुबिली कमेमोरेशन वॉल्यूम कमेटी, डूंगरपुर, 1947।

साउथ इंडियन इंसक्रिपशंस।

कैलाश चन्द जैन का जन्म राजस्थान के नागोर जिले के मारोठ में 21 अप्रैल 1930 को हुआ। राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् 1947-1951 स्नातक स्तर पर छात्रवृत्ति प्राप्त करके, सन् 1953 में आपने स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। सन् 1956 और 1963 में पी॰ एच॰ डी॰ और डी॰ लिट्॰ उपाधियाँ प्राप्त कर आप 1955-1963 तक सरकारी महाराजा कॉलेज, जयपुर एवं उसके उपरान्त गवर्नमेण्ट कॉलेज, अजमेर, किशनगढ़ व सिरोही में कार्यरत रहे। प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व अध्ययनशाला, में 1964 में नियुक्ति एवं प्रोफेसर और अध्यक्ष पद पर नियुक्ति (सन् 1978-1990), इण्डियन कौंसिल ऑफ हिस्टोरिकल सोसायटी द्वारा सीनियर फेलोशिप पर नियुक्ति (सन् 1990-93) आपके जीवन की विशेष उपलब्धियाँ हैं।

आप इण्टरनेशनल कांफ्रेंस ऑफ ओरियण्टल स्टडीज़, देहली, ऑल इण्डिया ओरियण्टल कांफ्रेंस, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, इन्स्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज़, इण्डियन न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, एपिग्राफिकल सोसायटी, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस और मध्यप्रदेश इतिहास परिषद् आदि अनेक शैक्षणिक संस्थाओं के सदस्य भी रहे हैं।

अनेक ग्रन्थों और शोध-पत्रों के लेखक के रूप में देश और विदेश में आपने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। ग्रन्थों में जैनिज्म इन राजस्थान (सन् 1963), एन्शियण्ट सीटीज़ एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान (सन् 1972), मालवा थ्रू दि एजेस (सन् 1972), लॉर्ड महावीर, हिज टाइम्स (सन् 1976), प्रिहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डिया (सन् 1979), कालिदास एण्ड हिज़ टाइम्स (सन् 1990), मध्यप्रदेश थ्रू दि एजेस (सन् 1997), प्राचीन भारत में सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ (षष्ठ संस्करण, सन् 2000 ई॰) आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

— प्रथम खण्ड —

महावीर के पूर्व जैन धर्म और उसका काल

2005, xxxii, 384 p.; 3 Maps, Bibliography; 23 cm.

***ISBN 81-246-0317-0* (सजिल्द)**

— द्वितीय खण्ड —

जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण और प्रसार

2005, xxx, 385-730 p.; 1 Folded Map, Biblio.; 23 cm.

ISBN 81-246-0318-9 (सजिल्द)

— तृतीय खण्ड —

मध्यकालीन जैन धर्म

2005, xxx, 731-1084 p.; Bibliography; 23 cm.

ISBN 81-246-0319-7 (सजिल्द)



D.K. Printworld (P) Ltd.

'*Sri Kunj*', F-52 Bali Nagar, Ramesh Nagar Metro Stn., NEW DELHI - 15
Phs.: (+91-11) 2545 3975, 2546 6019; Fax: (+91-11) 2546 5926
E-mail: dkprintworld@vsnl.net Web: www.dkprintworld.com

ISBN 812460318-9

